अनुक्रमणिका

प्रत्यक्षपरिच्छेद

मंगलाचरण	2
मोक्ष का परमपुरुषार्थत्व	4
प्रमा का लक्षण	6
धारावाहिक ज्ञान में प्रत्यक्षलक्षण का समन्वय	6-7
प्रमाणसंख्या और प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण	10
अन्तःकरणवृत्ति का निरूपण	12
मन के इन्द्रियत्व का खण्डन	16
ज्ञानगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक	16
वृत्ति का बहिर्गमन	20
सुखस्मृति में प्रत्यक्षवारण	22
वह्न्यादि अनुमिति में पक्षांश में प्रत्यक्षत्व	25-26
जातिखण्डन	28
ज्ञानगत प्रत्यक्ष का निष्कृष्ट लक्षण	32
विषयगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक	32
विषयगत प्रत्यक्ष में शंका और समाधान	32-33
विषयगत प्रत्यक्ष का निष्कृष्ट लक्षण	38
वृत्ति के चार प्रकार	39
प्रत्यक्ष के दो भेद	39
शब्द से भी प्रत्यक्षज्ञान	42
वेदान्त में अखण्डार्थबोधकता	42
साक्षी-भेद से दो प्रकार का प्रत्यक्ष	45
विशेषण और उपाधि के लक्षण	46
माया का एकत्व	47
ईश्वर का स्वरूप	49
ज्ञानगत प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण	50
शुक्तिरजत में प्रत्यक्षविचार	52
अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति	56
परिणाम और विवर्त	56
रजत का साक्षी में अध्यास	56-58

साक्षी में अध्यास होने पर पुरोवर्ती 58
विविध आध्यामिक प्रत्यय 59
रजतगोचर अविद्यावृत्ति का निष्प्रयोजनत्व—शंका और समाधान 60
प्राप्तिभासिक और व्यावहारिक का भेद 62
स्वप्नरथादि का विचार 63-64
द्विविध कार्य विनाश 66
प्रातिभासिक सत्ता मानने पर निषेध की अनुपपत्ति 68
उस अनुपपत्ति का निरास 69
उक्त प्रत्यक्ष का पुनः द्वैविध्य 72
पाँच इन्द्रियाँ 72

अनुमान परिच्छेद

अनुमान लक्षण 74
तृतीय लिंगपरामर्श का खण्डन 75
अनुमिति का प्रयोजक 76
व्याप्ति का लक्षण 78
अनुमान के त्रैविध्य का खण्डन 78-79
अनुमान के दो भेद 80
अनुमान में अवयवत्रित्व का व्यवस्थापन 80-82
मिथ्यात्व में अनुमान 82
चित्सुख का मिथ्यात्व लक्षण 83
मिथ्यात्व लक्षण का प्रत्यक्षबाध और उसका निराकरण 83
ब्रह्म द्रव्य नहीं है 84

उपमान परिच्छेद

उपमान लक्षण 86
उपमान का अन्य प्रमाणों में अन्तर्भाव नहीं 87

आगम परिच्छेद

आगम का निरूपण 88
वाक्यजन्य ज्ञान में कारण 88
आकांक्षा का स्वरूप 89
बलाबलाधिकरण विचार 92
योग्यता का निरूपण 94
आसत्ति का निरूपण 96
पदार्थ के दो भेद 99

शक्ति का निरूपण 99
जाति में शक्ति का व्यवस्थापन 100
व्यक्ति में शक्ति मानने के विकल्प 101
लक्षणनिरूपण 103
दो प्रकार के लक्षण 103
लक्षितलक्षणा में गौणी का अन्तर्भाव 103
प्रकारान्तर से लक्षण के दो भेद 104
'सोऽयं देवदत्तः' में परिभाषाकार का अपना मत 106
लक्षणा का वाक्यवृत्तित्व 111
वाक्यैकवाक्यता 112
आसप्तिनिरूपण 116
तात्पर्यनिरूपण 116-120
तात्पर्यनिराकरणपरक विवरणवाक्य का आशय 122
सिद्धार्थक वाक्यों का प्रामाण्य 124
वेद का नित्यत्त्व 125

अर्थापत्तिपरिच्छेद

अर्थापत्ति का निरूपण 130
प्रमा-प्रमाण में अर्थापत्ति शब्द का प्रयोग 130
अर्थापत्ति के भेद 131-132
श्रुतार्थापत्ति के भेद 133
अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं 135

अनुपलब्धिपरिच्छेद

अनुपलब्धि का लक्षण 138
योग्यानुपलब्धि में योग्यता का स्वरूप 141
इन्द्रियों में अभावग्राहकता नहीं है 144-148
अभाव के भेद 150
स्वतःप्रामाण्य विचार 154
अप्रामाण्य के परतस्त्व का विचार 159

विषयपरिच्छेद

प्रमाण के दो प्रकार 162
लक्षण के दो भेद 162
कर्तृत्व का लक्षण 163
जगत् के जन्मक्रम का निरूपण 166

सूक्ष्मभूतों के गुण 166
शब्द आकाश का गुण है 167
पंचीकरण का प्रकार 168
लिंग शरीर की उत्पत्ति 169
लोकों की उत्पत्ति 170
चार प्रकार के प्रलय 172
मृत और सुप्त के विषय में शंका—समाधान 172
लय के क्रम का निरूपण 176
सृष्टि वाक्यों का तात्पर्य 177
उपासनादि वाक्यों का तात्पर्य 178
ईश्वर और जीव चैतन्य के विषय में मतभेद 179
त्वं पदार्थ का निरूपण 182
जीव की तीन अवस्थाओं का निरूपण 182
अन्तःकरणवृत्ति के प्रयोजन के बारे में मतभेद 188
जीव के स्वयंप्रकाशत्व का निरूपण 188
'तत्' और त्वम् के ऐक्य का प्रतिपादन 189

प्रयोजन परिच्छेद

प्रयोजन का लक्षण 193
प्रयोजन के प्रकार 193
अपरोक्ष ज्ञान के विषय में मतभेद 196
अपरोक्ष ज्ञान के विषय में पद्मपादाचार्य का मत 196
अपरोक्ष ज्ञान के विषय में वाचस्पतिमिश्र का मत 197
श्रवण आदि की ज्ञानसाधनता 199
श्रवण आदि का निरूपण 199
मनन और निदिध्यासन की श्रवणांगता 201
मनन-निदिध्यासन तार्तीयशेष नहीं 202
शम आदि का निरूपण 205
ब्रह्मलोक में जाने वालों की मुक्ति 207
ब्रह्मसाक्षात्कारी के प्रारब्ध सम्बन्धी विचार 208

परिशिष्ट–

1. वेदान्त परिभाषा की कुछ ध्यानार्ह बातें 213
2. कुछ आवश्यक कोष्टक 215

***

प्रत्यक्षपरिच्छेदः 1

मंगलाचरणम्

यदविद्याविलासेन भूतभौतिकसृष्टयः ।
तं नौमि परमात्मानं सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥ 1 ॥

विमर्श

साम्बं नत्वा सपुत्रं लं भाषामालम्ब्य भारतीम् ।
वेदान्तपरिभाषाया विमर्शमहभारभे ।। 1 ।।

सुखबोधाय बालानां सरलार्थावबोधकः ।
वेदान्तपरिभाषाया विमर्शोऽयं विलिख्यते ।। 2 ।।

अन्वयः—यदविद्याविलासेन भूत-भौतिकसृष्टयः (जायन्ते), तं सच्चिदानन्दविग्रहम् परमात्मानं नौमि ।)

अनुवाद—जिस परमात्मा से सम्बद्ध अविद्या के विलास (परिणाम) से, (आकाशादि) महाभूतों की एवं (स्थूल सूक्ष्मादि शरीरादि) नामरूपात्मक भौतिक सृष्टि होती है, उस परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ ।। 1 ।।

विमर्श—यों तो प्रारम्भ का यह श्लोक, शिष्ट जनों द्वारा स्वीकृत प्रशस्य परम्परानुसार नमस्कारात्मक मंगलाचरण के श्लोकों में से एक है। तथापि इसमें केवलाद्वैत की कुछ महत्त्वपूर्ण बातों का सूचन किया गया है ।

श्रीमच्छंकराचार्य ने कहा है कि "न शास्ता न शास्त्रं..........अवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्" (दशश्लोकी 6) अर्थात् अद्वैत में कोई गुरुशिष्य होते ही नहीं, केवल एक चिदानन्द ब्रह्म ही है, तो फिर कौन किसे नमन करेगा? उत्तर यह है कि यह बात पारमार्थिक सत्ता में पहुँचे हुए लोगों के लिए है। हम उस स्थिति तक पहुंचे हुए नहीं हैं हम व्यावहारिक सत्ता के स्तर पर हैं, तो हम जिस परिघ में हैं यहाँ के नियम हम में लागू होंगे। हमारे स्तर पर तो गुरु-शिष्य-शास्त्र आदि सब कुछ है ही। इसीलिए यह मंगल श्लोक और नमस्कार ठीक ही है । ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए शिष्ट पुरुषों

के द्वारा मंगलाचरण किया हुआ दिखाई देता है। आशीर्वाद, नमस्कार या वस्तुनिर्देश में से किसी एक प्रकार से परंपरा को जारी रखने के उद्देश्य से भी मंगलाचरण होता आया है ।

श्लोक में 'यदविद्याविलासेन' पद है । इसका विग्रह है—'यस्य अविद्या-विलासेन' इसमें परमात्मा और अविद्या का सम्बन्ध बताया गया है। यह सम्बन्ध अविद्या के स्वरूप के समान मिथ्या या कल्पित ही है। जैसी अविद्या वैसा ही सम्बन्ध! जैसा देव वैसी ही पूजा! चैतन्य तो 'असंग' ही है। यह जगत् अविद्या का ही परिणाम है। पारमार्थिक चैतन्य में मिथ्या-कल्पित-तादात्म्यसम्बन्ध से रहने वाली अविद्या का परिणाम ही यह भूतभौतिक सृष्टिप्रपंच है। चूँकि जब विद्या ब्रह्मचैतन्य को प्राप्त किए बिना जगतरूप में परिणत नहीं हो सकती और निष्क्रिय चैतन्य भी अचल है इसलिए मायाविशिष्ट चैतन्य ही जगत् का कारण माना गया है। तात्पर्य यह है कि यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है, और माया का परिणाम है । शुक्ति में रजत की तरह अतात्त्विक विपरीत ज्ञान को 'विवर्त' कहते हैं और दूध से दही की तरह किसी वस्तु के रूपान्तरण को 'परिणाम' कहा जाता है ।

ब्रह्म के दो लक्षण इस श्लोक में दिए गए हैं। पूर्वार्ध में 'तटस्थ' लक्षण और उत्तरार्ध में स्वरूपलक्षण दिया गया है। [जो लक्षण लक्ष्य से भिन्न रहकर ही लक्ष्य का बोध कराता हो, उसे 'तटस्थ' लक्षण कहा जाता है।] यहाँ पूर्वार्ध में ब्रह्म को अविद्या विलास के द्वारा सृष्टि का कारण बताया है, वह ऐसा ही तटस्थ लक्षण है क्योंकि निष्क्रिय ब्रह्मरूप लक्ष्य तो कर्तृत्व से भिन्न ही है, तथापि यह लक्षण ब्रह्म का बोध तो करता ही है और [जो लक्षण लक्ष्य का स्वरूप बताता हो, उसे स्वरूप लक्षण कहते हैं] यहाँ श्लोक के उत्तरार्ध में 'परमात्मा' और 'सच्चिदानन्दविग्रह' शब्दों से ब्रह्म का-लक्ष्य का स्वरूप बताया गया है, यह स्वरूप लक्षण है। श्रुतियों में भी 'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि द्वारा तटस्थ लक्षण और 'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि द्वारा स्वरूप लक्षण बताए गए हैं ।

'आत्मा' शब्द का अर्थ 'ब्रह्म' भी होता है और 'जीव' भी। यहाँ शंका को दूर करने के लिए 'परमात्मा' शब्द रखा गया है। जीव से विलक्षण कूटस्थ या साक्षी चैतन्य लें तो भी यहाँ दोनों की एकता की सूचना मिल जाती है। इस प्रकार जीव-ब्रह्म की एकता ही इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है, यह बताया गया है। साथ ही साथ ऐसी एकता के ज्ञान से आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति और परामनन्द प्राप्तिरूप प्रयोजन भी यहाँ विवक्षित है। यहाँ अद्वैतमत की प्रतिपाद्यता दिखलाकर विभिन्न सभी मतों का निरसन भी हो ही जाता है ।

इस अविद्या और ब्रह्म के सम्बन्ध के विषय में पंचपादिकाविवरणकार श्रीप्रकाशात्मयति का मत है कि यह अविद्या ब्रह्म में आश्रित है और ब्रह्म को ही अज्ञान का विषय बनाती है । जैसे किसी कमरे में आश्रित-रहा हुआ अन्धकार उस कमरे को ही ढंकने के लिए

अपना विषय बनाता है। इसके विपरीत वाचस्पति मिश्र का यह मत है कि (9वीं सदी) अविद्या जीव में आश्रित है और ब्रह्म को अपने आवरण का विषय बनाती है। पहला मत विवरणप्रस्थान का और दूसरा मत भामतीप्रस्थान का माना जाता है। ज्यादातर वेदान्ती विवरणमत को ही मानने वाले हैं ।

ऊपर के श्लोक में सृष्टि की ही बात कही है, इसे उपलक्षण मानकर स्थिति और प्रलय को भी साथ में ले लेना चाहिए ।

यदन्तेवासिपञ्चास्यैर्निरस्ता भेदिवारणाः ।
तं प्रणौमि नृसिंहाख्यं यतीन्द्रं परमं गुरुम् ॥ 2 ॥

अन्वयः—यदन्तेवासि-पञ्चास्यैः भेदि-वारणाः निरस्ताः, तं यतीन्द्रं नृसिंहाख्यं परमं गुरुं प्रणौमि ।

अनुवाद—जिनके सिंह समान शिष्यों ने भेदवादी रूपी हाथियों को मार भगाया। उन्हीं नृसिंह नाम के यतियों में श्रेष्ठ परमगुरु को मैं प्रणाम करता हूँ ।

विमर्श—इष्टवन्दना के बाद गुरुवन्दना करते हैं। इस में भी पहले परमगुरु को प्रणाम करते हैं। 'यस्य देवे परा भक्ति र्यथा देवे तथा गुरौ'—इत्यादि श्रुति का यहाँ प्रमाण है। जिन परमगुरु के शिष्यों में भी हाथी जैसे बलवान भेदवादियों को मार भगाने की क्षमता है उनके परमगुरु की क्षमता की तो बात ही क्या कही जाए?—ऐसा यहाँ भाव है। संस्कृत में इस भाववाले कथन को कैमुतिक न्यायवाला कथन कहा जाता है। (किम् + उत् - इत्यस्य भावः)।

यहाँ भेदवादी पूर्वपक्षियों को बलवान हाथी जैसा बताया गया है। ऐसे दुर्धर्ष हाथियों को तो सिंह ही परास्त कर सकते हैं। परमगुरु श्रीमन्नृसिंहाचार्य तो स्वयं सिंह थे ही, उनके शिष्य भी वैसे ही बढ़े चढ़े थे ।

यहाँ पूर्वपक्षियों को भेदवादी वारण कहा गया है। वे भेद पाँच प्रकार के हैं— (1) जड़-चेतन, (2) जीव-ईश्वर, (3) जीव-जड़, (4) ईश्वर-जड़ और (5) जड़ से जड़ का भेद । परमगुरु के अन्तेवासी—पास में रहने वाले शिष्य इन भेदों को निरस्त कर देते हैं ।

श्लोक में शिष्य और भेदवादी शब्दों का बहुवचन में प्रयोग यह बताता है कि परमगुरु के समर्थ शिष्य भी अनेक थे और उस समय भेदवादियों की संख्या कम नहीं थी ।

श्रीमद्वेङ्कटनाथाख्यान् वेलाङ्गुडिनिवासिनः ।
जगद्गुरूनहं वन्दे सर्वतन्त्रप्रवर्त्तकान् ॥ 3 ॥

अन्वयः—अहं सर्वतन्त्रप्रवर्तकान् वेलाङ्गुडिनिवासिनः श्रीमद्वेङ्कटनाथाख्यान् जगद्गुरून् वन्दे ।

अनुवाद—वेलांगुडि ग्राम के निवासी, सभी शास्त्रों के सही रहस्यों को जानकर उन्हें अपने शिष्यों में प्रचार प्रसार करने वाले श्रीवेंकटनाथ नामक सद्‌गुरु को मैं वन्दन करता हूँ ।

विमर्श—परमगुरु को द्वितीय श्लोक में प्रणाम करने के बाद अब तृतीय श्लोक से अपने गुरु को प्रणाम किया गया है। लेखक ने अपने विद्यागुरु को 'सर्वशास्त्र प्रवर्तक' और 'जगद्‌गुरु कहा है। इससे गुरु की विद्वत्ता और अध्यापनक्षमता का सूचन किया गया है ।

येन चिन्तामणौ टीका दशटीकाविभञ्जिनी ।
तर्कचूडामणिर्नाम कृता विद्वन्मनोरमा ॥ 4 ॥

अन्वयः—(धर्मराजाध्वरीन्द्रनाम्ना) येन चिन्तामणौ दशटीकाविभञ्जिनी विद्वन्मनोरमा नाम टीका कृता ।

अनुवाद—जिस धर्मराजाध्वरीन्द्र ने तत्त्वचिन्तामणि नामक ग्रन्थ के ऊपर दश टीकाओं का खण्डन करने वाली और विद्वानों को आनन्द देने वाली 'तर्कचूडामणि' नामक टीका लिखी ।

तेन बोधाय मन्दानां वेदान्तार्थावलम्बिनी ।
धर्मराजाध्वरीन्द्रेण परिभाषा वितन्यते ॥ 5 ॥

अन्वयः—तेन (धर्मराजाध्वरीन्द्रेणैव) मन्दानां (ब्रह्म) बोधाय वेदान्तार्थावलम्बिनी परिभाषा वितन्यते ।

अनुवाद—उसी धर्मराजाध्वरीन्द्र से अब मन्दबुद्धि वाले लोगों के लिए वेदान्त के तात्पर्य को बताने बाली यह वेदान्तपरिभाषा लिखी जा रही है ।

विमर्श—इस वेदान्तपरिभाषा नामक ग्रन्थ की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए लेखक आत्मप्रशंसा करके अपने लिखे हुए ग्रन्थों का भी वर्णन यहाँ चौथे और पाँचवें श्लोक में कर रहे हैं, साथ ही साथ वेदान्तपरिभाषा का विषय और हेतु भी बता दिया है और अधिकारी का निर्देश भी किया है। वेदान्त के श्रवण का अधिकारी यों तो साधनचतुष्टय सम्पन्न ही होना चाहिए पर साधन चतुष्टय होते हुए भी मनुष्य मन्दबुद्धि तो हो सकता है ।

ग्रन्थ के रचनाकाल में नव्यन्याय की गंगेशोपाध्याय आदि द्वारा प्रचलित भाषा का बोलबाला था अतः उसी शैली में सामान्य जन भी समझ सके ऐसी पद्धति में यह ग्रन्थ लिखा गया है यही चौथे और पाँचवें श्लोक का भाव है ।

मोक्ष ही जीवन का परम लक्ष्य

इह खलु धर्मार्थकाममोक्षाख्येषु चतुर्विधपुरुषार्थेषु मोक्ष एव परमपुरुषार्थः, ''न स पुनरावर्तते'' इत्यादिश्रुत्या तस्यैव-

नित्यत्वावगमात्। इतरेषां त्रयाणां प्रत्यक्षेण, ''तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते'' इत्यादिश्रुत्या च अनित्यत्वावगमाच्च। स च ब्रह्मज्ञानादिति ब्रह्म तज्ज्ञानं तत्प्रमाणञ्च सप्रपञ्चं निरूप्यते।

अनुवाद—इस वेदान्तपरिभाषा में अब धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों में मोक्ष ही श्रेष्ठ पुरुषार्थरूप में माना गया है। क्योंकि ''यह आत्मज्ञ पुरुष इस संसार में फिर से जन्म नहीं लेता''—छां. उ. 8/15। इस श्रुति से मोक्ष की नित्यता जानी जाती है। इसी प्रकार मोक्ष के सिवाय अन्य तीनों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम की) की अनित्यता प्रत्यक्ष से एवं श्रुति से जानी जा सकती है। इस विषय में (यह उदाहरण) ''जैसे इस लोक में कृषि आदि कर्म से उत्पन्न किया हुआ धान्यादि लोक-पदार्थ क्षीण स्वर्गादि होते हैं, ठीक उसी प्रकार परलोक-स्वर्गादि में भी पुण्य से प्राप्त किया हुआ और लोकस्वर्गादि-क्षीण हो जाता है'' छां. उ. 8/1 यह श्रुति उदाहरण देकर धर्मादि पुरुषार्थों के फल की अनित्यता बताती है। (अर्थ और काम के फल की अनित्यता का अनुभव तो हम प्रत्यक्ष रूप में ही करते रहते हैं।) ऐसा नित्य मोक्ष तो ब्रह्म ज्ञान से ही मिलता है। इसलिए हम ब्रह्मका, ब्रह्म के ज्ञान का और उसके साधनों का विस्तार से वर्णन कर रहे हैं।

विमर्श—उक्त पाँच श्लोकों में इष्टदेव और गुरुओं के नमस्कार के बाद अब मोक्ष और मोक्ष का साधन बताने वाले प्रमुख ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र और इस ग्रन्थ का सम्बन्ध जोड़ते हुए मोक्ष के परम्परया साधनभूत प्रमाणों की यहाँ बात शुरू होती है और बाद में प्रतिपाद्य विषय की बात कही जाएगी।

'पुरुषार्थ' का अर्थ है, पुरुष का—जीव का अर्थ इप्सित अर्थ (पदार्थ)। हर एक व्यक्ति का इप्सित—चाहा हुआ पदार्थ अलग-अलग होते हुए भी उस अर्थ के मुख्य चार विभाग किए गए हैं' वे हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें स्त्री-पुत्र-धन-गृह-माला चन्दनादि चीजें यहाँ मिलें या स्वर्गादि में मिलें, वे 'अर्थ' ही हैं। और शरीर, इन्द्रिय या मन से उन 'अर्थों' को भोगने को 'काम' कहा जाता है। ऐसा देखा जाता है कि किसी के पास 'अर्थ' है पर उसे भोगने की शक्ति देहेन्द्रियादि में नहीं होती। ऐसा भी पाया जाता है कि किसी के पास शरीरेन्द्रिय शक्ति होने पर भी धनादि अर्थ नहीं होते। इन अर्थ और काम को पाने के साधन को 'धर्म' कहते हैं। यह 'धर्म' लौकिक और यागादि रूप में वैदिक भी हो सकता है। पर इन तीनों का फल क्षयशाली है। एक मोक्ष ही नित्य पुरुषार्थ है, क्योंकि इससे त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो सकती है। कुछ श्रुतियाँ 'अपां सोममृता अभूय' या 'अक्षय्या ह वै चातुर्मास्ययाजिनो भवन्ति' आदि ऐसी जरूर हैं जो कि सोमपान और चातुर्मास्ययाग करने वालों को नित्य सुख की प्राप्ति बताती हैं, तथापि मूल में ''तद्यथा कर्म.'' आदि श्रुति से ये श्रुतियाँ बाधित ही हैं। क्योंकि

अनुमान से प्रत्यक्षज्ञान ज्यादा बलवान होता है। उन श्रुतियों में जो नित्यत्व बताया गया है वह सापेक्ष नित्यत्व ही मानना चाहिए। ज्यादा से ज्यादा प्रलयकाल तक का वह नित्यत्व हो सकता है ।

मोक्ष का नित्यत्व तो शाश्वत नित्यत्व है। जिसका जन्म होता है वह विनाशशील-अनित्य ही होता है मोक्ष कोई धर्मादि की तरह उत्पाद्य-उत्पन्न किया जाने वाला नहीं है। अर्थात् [मोक्ष न उत्पाद्य है, न विकार्य है, न संस्कार्य है और न प्राप्य ही है ।] क्योंकि नित्य आत्मा उत्पाद्य नहीं हो सकता, अविकारी आत्मा में विकार का संभव नहीं है, निष्कल आत्मा संस्कार्य नहीं हो सकता और सदाप्राप्त सर्वव्यापक आत्मा प्राप्य नहीं हो सकता है, यह सदा प्राप्त ही है । इसी बात को कई श्रुतियों ने बार-बार कहा है और गीता आदि स्मृतियों ने उनका अनुसरण किया है। मोक्ष ही मुख्य पुरुषार्थ है बाकी के तीन पुरुषार्थ व्यावहारिक सन्दर्भ में कहे गए हैं ।

प्रमा और उसके करण (साधन)

तत्र प्रमाकरणं प्रमाणम् । तत्र स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वमनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानत्वम् । स्मृतिसाधारणन्तु अबाधितार्थ विषयकज्ञानत्वम् । नीरूपस्यापि कालस्येन्द्रियवेद्यत्वाभ्युपगमेन धारावाहिकबुद्धेरपि पूर्वपूर्वज्ञानाविषयतत्तत्क्षणविशेषविषयकत्वेन न तत्राव्याप्तिः ।

अनुवाद—ब्रह्म—ब्रह्म का यथार्थज्ञान—प्रमा है, और प्रमा का जो करण-अनिवार्य कारण हो उसे प्रमाण कहते हैं। उस यथार्थ ज्ञान रूप प्रमा में से यदि स्मृति से भिन्न प्रमा का लक्षण बनाना हो, तो ऐसा कहा गया है कि "जो पहले से अधिगत—जाना हुआ—न हो और जिसका बाध भी न होता हो ऐसी वस्तु के ज्ञान को प्रमा कहते हैं ।" परन्तु कुछ लोगों ने स्मृति को भी प्रमा के रूप में मान लिया है। उनके मतानुसार स्मृति और अनुभव—दोनों में लक्षण जाना चाहिए। इसलिए, "अबाधित वस्तु का ज्ञान ही प्रमा है"—ऐसा लक्षण करना चाहिए। जिस प्रकार रूपरहित होता हुआ भी 'काल' चक्षुरिन्द्रिय द्वारा जाना जा सकता है, (जैसे "मैं **इस समय आँख** से घड़े को देख रहा हूँ" इस ज्ञान में घड़ा आँख (चक्षुरिन्द्रिय) का विषय माना गया है तात्पर्य यह है कि रूप न होते हुए भी काल द्रव्य इन्द्रियों का विषय बन गया।) इसलिए हर एक क्षण के बाद अव्यवहित रूप से दूसरे क्षण में होते हुए एक ही धारावाहिक ज्ञान में भी पहले क्षण में, **प्रथमक्षणविशिष्ट** घट ज्ञात होता हुआ भी उस समय **द्वितीयक्षणविशिष्ट** घट तो अज्ञात ही रहेगा न? इसलिए प्रथमक्षणविशिष्ट घटज्ञान के समय में द्वितीयक्षणविशिष्ट घटज्ञान 'अनधिगत'—न जाना हुआ—ही रहेगा। अतः 'यह घट यह घट'—ऐसे धारावाहिक ज्ञान में भी प्रमा के उक्त लक्षण की अव्याप्ति नहीं होगी—(लक्षण छोटा—अपूर्ण—नहीं होगा) ।

विमर्श—किसी विषय की सिद्धि लक्षण और प्रमाण पर ही आधारित है। अतः वेदान्तविषय में पहले प्रमाण की बात कही गई है। प्रमा—अर्थात् यथार्थ—सही अनुभव का सामान्य लक्षण है—प्रमाकरणम् प्रमाणम्। यहाँ हम प्रत्येक पद का ठीक तौर से अर्थ पहले समझ लें, बाद में पूरे लक्षणवाक्य का अर्थ स्पष्ट हो जाएगा। 'प्रमाकरणम् ' पद का अर्थ है प्रमा का करण। अब हम 'प्रमा' और **'करण'** इन दो शब्दों का अर्थ करेंगे ।

'प्रमा' शब्द का सामान्य अर्थ होता है 'यथार्थज्ञान'। यह 'यथार्थज्ञान' दो प्रकार का है (1) अनुभव और (2) स्मृति। इसी प्रकार 'करण' शब्द का अर्थ भी दो प्रकार से किया जा सकता है। (1) असाधारण कारण, (2) व्यापार वाला असाधारण कारण ।

अब प्रमारूप कार्य का करण, **व्यापार वाला असाधारण कारण** ही होना चाहिए। वही 'प्रमाण' माना जायगा। आगे प्रमाणों की चर्चा के समय यह बात ज्यादा स्पष्ट होगी ।

परिभाषाकार का निजी मत स्मृति को भी प्रमा में शामिल करने का मालूम पड़ता है । उनके मतानुसार किसी ने 'घट' को 'घट' समझा (तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानम्) और उसी यथार्थानुभवरूप प्रमा से मन में संस्कार पैदा हुआ और उससे कालान्तर में घट की स्मृति हुई । यथार्थ होने से उस स्मृति को भी प्रमा माना जा सकता है। विवरणकार स्मृति को प्रमा में शामिल करना नहीं चाहते। विवरणकार के मतानुसार प्रमा का लक्षण "अनधिगत-अबाधित-विषय ज्ञानत्वं प्रमात्वम् ।" (स्मृति के पूर्वाधिगत ज्ञान को निरस्त करने के लिए 'अनधिगत' विशेषण देना पड़ा) ऐसा होगा । और स्मृति को प्रमाज्ञान मानने पर तो उस अनधिगत विशेषण की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती ।

लक्षण में आए हुए 'अबाधित' शब्द का अर्थ है जिसका 'बाध' न होता हो। 'बाध' और 'नाश' पर्यायवाची नहीं हैं। एक ज्ञान का दूसरे 'ज्ञान' से 'बाध' होता है, जबकि नाश तो खुद वस्तु का ही होता है, और वह ज्ञान से नहीं होता ।

कोई भी लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव—इन तीन दोषों से रहित होकर लक्ष्य में ही रहना चाहिए। वह अलक्ष्य में चला जाय तो अतिव्याप्ति दोष लग जायगा। यदि लक्षण अपने लक्ष्य को भी पूर्णरूप में व्याप्त न कर पाए तो वह अव्याप्ति दोष है। लक्षण यदि लक्ष्य का विरोधी हो, तो वहाँ असंभव दोष लग जायेगा। इस लक्षण में **'अबाधित'** पद भ्रम में प्रमालक्षण को चले जाने से बचाता है और **'अनधिगत'** शब्द स्मृति को समाविष्ट करके अव्याप्ति का निराकरण कर देता है ।

नैयायिक लोग मानते हैं कि किसी द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में उस द्रव्य का रूप और महत् परिमाण की प्रयोजकता आवश्यक है पर कोई भी मान्यता अनुभव से लोहा नहीं ले सकती। "**इस समय** यहाँ घट है" "**इस समय** मैं घड़े को **आँखों** से देख रहा

हूँ''—यह हमारा अनुभव है। इस अनुभव का विषय 'घट' है और **'इस समय'**—यह घट का विशेषण है (एतत्कालविशिष्ट घट है)। तो ऐसा ही घट नेत्र का विषय है। तो इसका अर्थ यही हुआ कि ''कालरूप विशेषण सहित घट'' हमारे अनुभव का विषय हो ही गया। और काल में तो नैयायिकों द्वारा अपेक्षित पूर्वोक्त प्रयोजकों में से एक भी नहीं आया। न चाक्षुषत्व या न महत्परिमाणत्व । अतः धारावाहिक ज्ञान के प्रसंग में अव्याप्ति हो नहीं सकती, क्योंकि, 'यह घड़ा है', 'वह घड़ा है'—ऐसा ज्ञानधारा को ही धारावाहिक ज्ञान कहते हैं। इसमें **प्रथमक्षणविशिष्ट** घट प्रथम क्षण में ही अधिगत हुआ और द्वितीयक्षणविशिष्ट घट द्वितीय क्षण में ही अधिगत हुआ। इसलिए द्वितीयक्षणविशिष्ट घट, प्रथमक्षणविशिष्ट घट के समय तो अनधिगत ही है न? अतः क्षणविशिष्टता से व्यवस्था हो जाने से कोई अव्याप्ति नहीं है ।

किञ्च सिद्धान्ते धारावाहिकबुद्धिस्थले न ज्ञानभेदः, किन्तु यावद्घटस्फुरणं तावत् घटाकारान्तःकरणवृत्तिरेकैव, न तु नाना । वृत्तेः स्वविरोधिवृत्त्युत्पत्तिपर्यन्तं स्थायित्वाभ्युपगमात् । तथा च तत्प्रतिफलितचैतन्यरूपं घटादिज्ञानमपि तत्र तत्कालीनमेकमेवेति नाव्याप्तिशङ्काऽपि ।

अनुवाद—वेदान्तसिद्धान्त में धारावाहिक ज्ञानस्थल में ज्ञान यानी विषयाकार वृत्ति का भेद माना ही नहीं जाता। परन्तु 'यह घट है,' 'यह घट है'—इस तरह जब तक घट का स्फुरण—अनुभव—होता रहता है, तब तक की घटाकार अन्तःकरण वृत्ति एक ही मानी गई है, अलग-अलग नहीं। वह वृत्ति तब तक स्थायी रहेगी, जब तक उसकी विरोधी वृत्ति का उदय न हो जाए। उस एकाकार वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य को घटज्ञान कहते हैं। और वह भी उतने ही समय तक बना रहता है। इस तरह ज्ञान का भेद न होने के कारण धारावाहिक ज्ञान के स्थल में ''अनधिगत-अबाधित-विषय-ज्ञानत्वं प्रमात्वम्''—इस प्रमालक्षण में अव्याप्ति की शंका तक नहीं हो सकती। इसलिए प्रमा का वह लक्षण सर्वथा दोषरहित ही है ।

विमर्श—यदि कोई यह कहे कि स्वयं शंकराचार्य जी ने ही ब्रह्मसूत्र के अध्यासभाष्य में आकाश की प्रत्यक्षता को अध्यास-भ्रम ही बताया है वैसे नीरूप काल के प्रत्यक्ष को भी घटांश में प्रत्यक्ष और कालांश में परोक्ष ज्ञान ही मानना चाहिए तो इसके उत्तर में यहाँ कहा गया है कि पहले जो कहा गया वह तो एक अभ्युपगमवाद ही था। पहले रूपरहित काल को भी इन्द्रियग्राह्य मानकर समाधान किया गया था। इसमें अपने सिद्धान्त की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। अब यहाँ अपने सिद्धान्त की बात कहकर समाधान दिया जाता है।

वेदान्तसिद्धान्त में क्षणों का भेद वृत्ति के सातत्य को भग्न नहीं कर सकता। इसलिए जहाँ तक 'यह घड़ा है', 'यह घड़ा है',—ऐसा भाव रहता रहेगा, वहाँ तक एक

ही वृत्ति का सातत्य बना ही रहेगा। वृत्ति के बिना तो भीतर-बाहर का कोई भी ज्ञान हो ही नहीं सकता। अतः वृत्ति को बिना माने काम नहीं चल सकता और जब तक घट का स्फुरण-घट का भान-होता रहता है, तब तक घटाकारान्तःकरण की वृत्ति एक सी ही बनी रहती है। कोई वृत्तिभेद होता ही नहीं । वह वृत्ति तभी मिट सकती है, जब उसके विरोध में किसी दूसरी वृत्ति का उदय हो। एक ही स्थिर वृत्ति में प्रत्यक् चेतन—अन्तरात्मा—का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी को घटादि ज्ञान कहा जाता है । [वृत्ति स्वयं तो ज्ञान नही है, परन्तु वृत्ति में प्रतिफलित—प्रतिबिम्बित—चैतन्य का नाम ही ज्ञान है] किन्तु कहीं-कहीं औपचारिक दृष्टि से वृत्ति को ही ज्ञान कह दिया जाता है। वृत्ति एक होने से तज्जन्य ज्ञान पूर्वाधिगत न होकर 'अनाधिगत' ही होगा। तो पुनः पुनः अधिगत होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अतः अव्याप्ति की शंका नहीं की जा सकती । घटाकारवृत्ति के पूर्व 'अनधिगत' घट ज्ञान को ही घटाकारवृत्ति प्रकाशित करती है ।

ननु सिद्धान्ते घटादेर्मिथ्यात्वेन बाधितत्वात् कथं तज्ज्ञानं प्रमाणम्? उच्यते। ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरं हि घटादीनां बाधः, "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् ?" इति श्रुतेः। न तु संसारदशायां बाधः, "यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदतिर इतरं पश्यति "इतिश्रुतेः तथा च 'अबाधित'-पदेन संसारदशायामबाधितत्वं विवक्षितम्, इति न घटादिप्रमायामव्याप्तिः। तदुक्तम्–

देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः ।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणन्त्वाऽऽत्मनिश्चयात् ॥ 1 ॥

इति । आत्मनिश्चयात् ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्तमित्यर्थः। 'लौकिकम्' इति घटादि ज्ञानमित्यर्थः ॥

अनुवाद—(पूर्वपक्ष) सिद्धान्त में तो घटादि मिथ्या होने से उसे 'बाधित' ही कहा गया है, तो फिर घटादि ज्ञान को प्रमाण कैसे माना जा सकता है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि घटादि का बाध तो ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद ही होता है। "जहाँ इस ज्ञानी की दृष्टि में सब आत्मा ही आत्मा हो गया हो, वहाँ पर तो कौन किसको किस साधन से देखेगा?"—ऐसी श्रुति है। संसारदशा में तो घटादि का बाध नहीं होता है। "जहाँ पर द्वैत जैसा होता है, यहाँ पर एक दूसरे को देखता है", ऐसी श्रुति है । कहना यह चाहते हैं कि प्रमा के लक्षण में जो 'अबाधित' पद आया है वह 'संसारदशा में अबाधित' है। अतः घटादिज्ञान में प्रमा के लक्षण की अव्याप्ति नहीं है (लक्षण का लक्ष्य में अपूर्णत्व नहीं है।) इस विषय में पूर्वाचार्यों की सम्मति कही गई है—

"आत्मसाक्षात्कार से पहले (मैं अमुक तमुक हूँ'—ऐसा) देह में आत्मज्ञान जिस प्रकार प्रमाण माना गया है, वैसे ही आत्मसाक्षात्कार के पूर्व तक घटादि व्यावहारिक

पदार्थों का ज्ञान भी प्रमारूप ही मानना चाहिए। अतः लौकिक घटादि ज्ञान को भी व्यावहारिक दृष्टि से प्रमाण मानना उचित ही है ।''

विमर्श—यदि कहा जाए कि पूर्वोक्त रूप से आपने घटादि ज्ञान को किसी न किसी तरह प्रमारूप तो सिद्ध कर दिया, पर अद्वैतवेदान्त का मूलभूत सिद्धान्त तो 'ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या' ही है ब्रह्मातिरिक्त सब कुछ अगर मिथ्या ही हो तो घटादिज्ञान भला कैसे प्रमारूप हो सकता है? वह कभी 'अबाधित' कहा ही नहीं जा सकता। अतः आपका 'अबाधित्व' लक्षण में नहीं आया, लक्षण अपर्याप्त है, पूर्ववत् ही अव्याप्ति आ गई। तो यहाँ इसका समाधान दिया जा रहा है—

यह ठीक है कि केवलाद्वैत के सिद्धान्तानुसार तो घटादि मिथ्या ही हैं, और उनका बाध भी होता है। पर वह बाध ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद ही होता है व्यावहारिक दशा में जैसा शुक्ति से रजन का बाध होता है ऐसा वह बाध नहीं होता, व्यावहारिक दशा में तो घट की सत्ता श्रुति भी मान्य करती है। इसीलिए, ''यत्र द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं पश्यति' यह श्रुतिवाक्य अज्ञान की दशा में—व्यावहारिक सत्ता में स्पष्टरूप में घटादि-ज्ञान का उल्लेख करते हैं। वास्तव में तो द्वैत नहीं है, पर ब्रह्मनुभूति अपरोक्षतया न होने से अज्ञान के कारण अज्ञान से जहाँ द्वैत खड़ा हो गया, वहाँ परस्पर देखना—सुनना आदि भेदजनित व्यवहार हुआ करते हैं। सांसारिक दशा में व्यावहारिक भेद श्रुतिमान्य है ।

''यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्''—इत्यादि श्रुति ज्ञानी की दृष्टि बताती है। वहाँ तो अद्वैत ही है। यहाँ प्रमाणादि चर्चा व्यावहारिक भूमिका पर रहकर ही की गई है। अगर व्यावहारिक सत्ता के स्तर पर घटादिक की प्रमा का स्वीकार न किया जायगा तब तो बड़ी भारी उथल-पुथल मच जायगी ।

पूर्वोक्त आचार्य के कथन में ''आआत्मनिश्चयात्'' पद आया है, इसका अर्थ ''जब तक आत्मनिश्चय हो जाए तब तक''—ऐसा लेना चाहिए। केवल ''मैं हूँ'' यह तो सभी जानते हैं, पर ''आत्मा'' का निश्चय सभी को सही रूप से नहीं होता। ''आत्मनिश्चय'' का अर्थ, ''आत्मभाव की अपरोक्षानुभूति'' लेना चाहिए। और 'लौकिक' पद का अर्थ 'ब्रह्मभिन्न सभी वस्तुओं का ज्ञान' ऐसा करना चाहिए। स्वर्गादि सभी लोकों का इसी में समावेश हो जाता है ।

प्रमाणसंख्या और प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण

तानि च प्रमाणनि षट् प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्धि भेदात्। तत्र प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम्। प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेव। ''यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म'' इति श्रुतेः। 'अपरोक्षा' दित्यस्य 'अपरोक्ष' मित्यर्थः ।

अनुवाद—पूर्वोक्त प्रमा के करण-प्रमाण छः हैं। (1) प्रत्यक्ष, (2) अनुमान, (3) उपमान, (4) आगम, (5) अर्थापत्ति और (6) अनुपलब्धि । उक्त छः प्रमाणों में जो प्रत्यक्ष प्रमा का करण हो उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। केवलाद्वैत के मत में चैतन्य ही प्रत्यक्ष प्रमा है। क्योंकि 'ब्रह्म ही साक्षात् अपरोक्ष रूप है' ऐसा श्रुति में कहा गया है। मूल श्रुति में जो 'अपरोक्षात्' शब्द की पंचमी विभक्ति बताई है, वह प्रथमा विभक्ति में—अपरोक्षम्—रूप में लेना चाहिए। (यह ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है) ।

विमर्श—प्रमा के—यथार्थानुभव के करणों की संख्या के बारे में दार्शनिकों में बड़ा मतभेद है। चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानता है; कणाद और बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान—इन दो प्रमाणों को मानते है। तो फिर सांख्य और योगदर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—इन तीन प्रमाणों को मानते हैं। नैयायिक लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान इन चार प्रमाणों को मानते हैं । प्रभाकर मतावलम्बी मीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति—इन पाँच प्रमाणों को मानते हैं। भाट्टमीमांसक और अद्वैतवेन्दाती प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि—इन छः प्रमाणों को मानते हैं । इन छः प्रमाणों को मानने की आवश्यकता और कम प्रमाणों को मानने से जो तकलीफें हो सकती हैं, उसकी चर्चा यथा समय की जाएगी। यहाँ वेदान्तियों के माने हुए छहों प्रमाणों का विचार करना चाहिए। फिर भी क्रम की दृष्टि से प्रत्यक्ष प्रमाण पहला है, क्योंकि वह तो सर्वदर्शनस्वीकृत है। वह प्रमाण ज्येष्ठ और अन्य सभी प्रमाणों को जिलाने वाला है। वाकी के प्रमाण प्रत्यक्षप्रमाण के ऊपर ही अवलम्बित हैं। प्रत्यक्षप्रमाण किसी प्रमाण पर आधारित नहीं है। सामने पड़ा हुआ घड़ा आँख के करण से देखा ही जाता है न? अनुमान में लिंग—का-हेतु का-प्रत्यक्ष आवश्यक है, सादृश्य के प्रत्यक्ष के—उपमान के प्रत्यक्ष-के बिना उपमानप्रमाण बन नहीं सकता। श्रवण को प्रत्यक्ष किए बिना शब्द प्रमाण असंभव है। अर्थापत्ति में भी कान या आँख के प्रत्यक्षकरणों की आवश्यकता पड़ती है। प्रत्यक्ष की सहायता के बिना तो अनुपलब्धि प्रमाण का स्वरूप भी नहीं बन पाता। इस प्रकार प्रत्यक्ष ही सब प्रमाणों का उपजीव्य है। अतः पहले उसी का विचार किया जा रहा है ।

प्रत्यक्ष प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। यहाँ प्रमा का नाम भी 'प्रत्यक्ष' है, और उस प्रमा के करण का नाम भी 'प्रत्यक्ष' ही है। अर्थात् घटज्ञान भी प्रत्यक्ष है और उस ज्ञान (प्रमा) का करण चक्षु आदि भी प्रत्यक्ष (करण) हैं। इस प्रत्यक्षप्रमाण के छः भेद हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन करण हैं ।

यहाँ **'प्रत्यक्षज्ञानं'** के बदले 'प्रत्यक्षप्रमा' कहना आवश्यक है क्योंकि भ्रम भी एक तरह से प्रत्यक्षज्ञान तो है ही, पर वह प्रमा-यथार्थानुभव नहीं है ।

इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान को नैयायिक प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं या तो वे यह भी कहते हैं कि प्रत्यक्ष के लिए किसी ज्ञान को करण नहीं मानना चाहिए।

ये दोनों बातें वेदान्तियों को मान्य नहीं हैं । क्योंकि उनके मत में तो केवल चैतन्य प्रमा ही प्रत्यक्ष प्रमा है। वेदान्तमत में चैतन्य, ब्रह्म, प्रमा—ये तीनों लगभग पर्यायवाची शब्द ही हैं। बृहदारण्यक श्रुति कहती है कि, ''यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म'' ।

ननु चैतन्यमनादि तत्कथं चक्षुरादेस्तत्करणत्वेन प्रमाणमिति? उच्यते । चैतन्यस्यानादित्वेऽपि तदभिव्यञ्जकान्तःकरणवृत्तिरिन्द्रियसन्निकर्षादिना जायते, इति वृत्तिविशिष्टं चैतन्यमादिमदित्युच्यते। ज्ञानावच्छेदकत्वाच्च वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारः। तदुक्तं विवरणे-''अन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्'' इति ।

अनुवाद—अगर कोई यह शंका करे कि यदि चैतन्य ही साक्षात् प्रमा है तब वह ब्रह्म चैतन्य तो अनादि है और व्यापक भी है एवं सदा विद्यमान है ही। तब भला उस सदा प्रत्यक्ष ब्रह्म के ज्ञान की उत्पत्ति के लिए आँख आदि करणों की क्या ज़रूरत है? तो फिर आप नेत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन को प्रत्यक्षज्ञान का कारण (करण) कैसे कह सकते हैं?

इसका समाधान यह है कि चैतन्य तो अनादि ही है। फिर भी उसकी अभिव्यक्ति तो अन्तःकरण की वृत्तियों से ही होती है और अन्तकरण की वृत्ति इन्द्रियों और पदार्थों के संयोग आदि से ही उत्पन्न होती है। चैतन्य की अभिव्यंजक वृत्ति के उत्पन्न होने से उस वृत्ति से विशिष्ट चैतन्य को भी **'उत्पन्न होने वाला'** कहा जाता है। [वृत्ति ज्ञानरूप तो नहीं है, वह तो ज्ञान की अवच्छेदक है—ज्ञान की सीमा बाँधने वाली—अन्य ज्ञानों से अपने ज्ञान को अलग करने वाली है।] अतः ज्ञान का परिघ-अवच्छेद-व्यावर्त न करने वाली वृत्ति को भी उपचार से 'ज्ञान'—ऐसा नाम दिया गया है। इसी लिए विवरणाचार्य ने विवरण में कहा है कि ''अन्तःकरण की वृत्ति में ज्ञानत्व औपचारिक है ।''

विमर्श—केवल ब्रह्म चैतन्य को ही प्रत्यक्ष प्रमा मानने पर शंका की जा सकती है कि अनादि, और सर्वदेशकाल वस्तुओं में अनुस्यूत व्यापक, त्रिकालाबाधित ब्रह्म की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? जब उत्पत्ति ही नहीं है तब उत्पादक साधन करण की तो बात ही कैसी? और हमारा अनुभव तो यह बताता है कि प्रत्यक्ष के लिए तो इन्द्रियाँ अनिवार्य ही हैं, सहकारी कारण प्रकाश आदि की भी आवश्यकता है, इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध भी जरूरी है, जब यह सब होता है, तभी प्रत्यक्ष होता है। यदि ब्रह्म स्वयं ही प्रत्यक्ष ज्ञानस्वरूप है, तब तो वह सदा ही सर्वत्र विद्यमान है तब तो बिना किसी इन्द्रिय प्रत्यक्ष हो गया और इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान का करण तो हुई ही नहीं''! तब नेत्रादि इन्द्रियों को प्रत्यक्ष प्रमा का करण कैसे कह सकते हैं ?

इस शंका का समाधान यह है कि यह सत्य है कि ब्रह्मचैतन्य ही प्रत्यक्ष प्रमा है, और वही व्यापक सदा वर्तमान और अनादि है। और ऐसी ब्रह्मचैतन्यरूप प्रत्यक्ष प्रमा की उत्पत्ति न होने से वहाँ नेत्रादि इन्द्रियों की कोई भी आवश्यकता नहीं होती, यह बात

तो निश्चित है, परन्तु उस अनादि ब्रह्मचैतन्य की अभिव्यक्ति अन्तःकरण की वृत्ति के बिना नहीं हो सकती। अर्थात् घटावच्छिन्न—घटसीमित—चैतन्य घट देश में विद्यमान है ही पर घटाकार वृत्ति हुए बिना उस चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। ब्रह्मचैतन्यरूप प्रत्यक्ष प्रमा सदैव विद्यमान होते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति तो अन्तःकरण की वृत्ति से ही हो सकती है। अभिव्यक्ति कोई उत्पत्ति नहीं है। घटाकार अन्तःकरणवृत्ति भी नेत्रादि इन्द्रियों की सहायता के बिना नहीं हो सकती। अन्तःकरण वृत्ति जब नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा बाहर निकल कर घटादिदेश में जाती है, और घट के आकार वाली बन जाती है, उस समय **घटाकारवृत्ति** में **घटदेशस्थित** चैतन्य अभिव्यक्त हो जाता है। इसी को घटप्रत्यक्ष कहते हैं। इसका अर्थ तो वही हुआ न कि घटाकारवृत्ति में घटसीमित चैतन्य ही अभिव्यक्त हुआ। मतलब यह है कि सीमांकित देश में सीमांकित पदार्थ में रहा हुआ चैतन्य ही उस प्रकार की अन्तःकरण की वृत्ति में अभिव्यक्त होता है। इस **सीमा को–हद को 'अवच्छेद'** कहा जाता है और सीमित वस्तु का 'अवच्छिन्न वस्तु' कहा जाता है और सीमा को करने वाले को **अवच्छेदक** कहा जाता है, यहाँ वृत्तिज्ञान में **वृत्तिव्याप्य देश** काल अवच्छेदक है। घड़ा **अवच्छिन्न** है और वह सीमा अवच्छेद है। इसका अर्थ यह हुआ कि चैतन्य अपने आप में अनादि होते हुए भी वृत्तिविशिष्ट चैतन्य तो सादि कह दिया गया है। वास्तव में उत्पत्ति चैतन्य की नहीं, उत्पत्ति तो वृत्ति की ही होती है। सदा वर्तमान चैतन्य तो मात्र अभिव्यक्त ही हुआ, और वह भी मात्र सीमित-परिच्छिन्न रूप में ।

ब्रह्म चैतन्य को प्रत्यक्ष प्रमा मानने के बदले वृत्ति को प्रमा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि कि ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म''—इस श्रुति में ब्रह्म को ही ज्ञानस्वरूप कहा गया है। और अतःकरण जड़ माना गया है वह चैतन्य रूप ज्ञान नहीं बन सकता । अन्तःकरण वृत्ति को कहीं कहीं ज्ञान कहा गया है, वह तो केवल उपचारमात्र ही है, ऐसा विवरणकार भी कहते हैं ।

ननु निरवयवस्यान्तःकरणस्य परिणामात्मिका वृत्तिः कथम्? इत्थम्। न तावदन्तःकरणं निरवयवं, सादिद्रव्यन्वेन सावयवत्वात्। सादित्वं च 'तन्मनोऽसृजत' इति श्रुतेः। वृत्तिरूपज्ञानस्य मनोधर्मन्वे च ''कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव'' (बृ. 1-5-3) इति श्रुतिर्मानम्! धीशब्देन वृत्तिरूप ज्ञानाभिधानात्। अत एव कामादेरपि मनोधर्मत्वम् ॥

अनुवाद—शंका की जाती है कि अवयवरहित अन्तःकरण में वृत्ति कैसे बनेगी? क्योंकि वृत्ति तो परिणाम को कहा जाता है। और परिणाम तो अवयव वाली वस्तु का ही हो सकता है। निरवयव वस्तु का तो नहीं होता ।

समाधान किया जाता है कि अन्तःकरण निरवयव है ही नहीं, क्योंकि वह

सावयव ही माना गया है [जो वस्तु सादि कारण द्रव्य से बनती है, वह सावयव कार्य रूप ही हुआ करती है]। मन सादि—उत्पत्ति वाला—है, इसमें "तन्मनोऽसृजत"—'उसने मन का सर्जन किया'—यह श्रुति प्रमाण है। [वृत्तिरूप ज्ञान भी मन का ही धर्म है,] इसके बारे में भी यह श्रुति प्रमाण है—"कामः सकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरिति एतत् सर्वं मन एव" ।। इस श्रुति में 'धी' शब्द से वृत्ति रूप ज्ञान ही तो कहा गया है । जब वृत्तिरूप धर्म मन का धर्म हो गया है, तब फिर काम संकल्प आदि भी मन के ही धर्म हो गए ।

विमर्श—अन्तःकरण की वृत्ति का अर्थ होता है अन्तःकरण का परिणाम। और परिणाम सात्वयव-अवयव वाले—पदार्थ में ही होता है, निरवयव पदार्थ का नहीं होता। दूध सावयव होने से उसका परिणाम दही होता है। निरवयव आकाश का तो कभी परिणाम होता ही नहीं। अन्तःकरण अणु परिणाम वाला माना गया है, इसीलिए वह निरवयव ही है। अणुपरिमाण में परिणामवृत्ति नहीं हो सकती। अतः वृत्तिविशिष्ट चैतन्य को ज्ञान नहीं कहा जा सकता किन्तु इन्द्रिय-अर्थ सन्निकर्ष तथा आत्ममनः सन्निकर्ष से आत्मा रूप द्रव्य में ज्ञानरूप गुण उत्पन्न होता है—ऐसा नैयायिक लोगों का पूर्वपक्ष के रूप में कहना है ।

वेदान्ती लोग इसके समाधान में श्रुति के प्रमाण को ही अग्रता देते हैं, और नैयायिकों की मान्यता को मनःकल्पना मात्र बताते हैं। नैयायिकों के मत की समर्थक कोई श्रुति नहीं है, कि मन अणुपरिमाण वाला है। नैयायिकों को लाचार होकर मनोद्रव्य को तो इसलिए मानना पड़ा कि एक ही साथ रूपरसादि सभी विषयों का सम्बन्ध अपनी इन्द्रियों के साथ न हो जाए इन्द्रिय सम्बन्ध से एकसाथ सब ज्ञान न हो जाए इसलिए नियामक रूप में नैयायिकों ने मन के साथ जिस इन्द्रिय के साथ हो, उसी विषय का उसी समय ज्ञान होने की बात का नियम किया। इसीलिए अणुपरिमाण बाले एक मनोद्रव्य की कल्पना नैयायिकों को करनी पड़ी। और मन का प्रत्यक्ष भी उनके मत में कहाँ होता है? केवल अनुमान लगाकर ही वे लोग किसी न किसी तरह मन की सिद्धि करना चाहते हैं।

तब वेदान्ती के यहाँ तो मन सम्बन्धी श्रुति खुद प्रमाण है, वह पहले बताया ही जा चुका है। और भी एक बात है कि हमारी सृष्टिप्रक्रिया के अनुसार मन अपञ्चीकृत महाभूतों से उत्पन्न हुआ है। और ये अपंचीकृत महाभूतरूप कारण तो सादि-उत्पत्ति वाला ही है और इन्हीं से अन्तःकरण बना है। सादि द्रव्य से बना हुआ पदार्थ सावयव ही होता है। सादि मृत्तिका से बना हुआ घड़ा सावयव ही होता है न? ठीक इसी तरह सादि—उत्पत्तिशील अपंचीकृत महाभूतों से उत्पन्न अन्तःकरण भी सावयव ही है। मन की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तो "तन्मनोऽसृत"—यह श्रुतिप्रमाण मौजूद है ही । और मन सावयव है इसीलिए तो उसका परिणाम होता है। अन्तःकरण की परिणामात्मक वृत्ति के बारे में "कामः संकल्पो विचिकित्सा........" आदि दूसरी श्रुति भी प्रमाण है। इस श्रुति

में आए हुए 'धीः' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' ही है। अर्थात् **'धी'** (वृत्तिज्ञान) सहित काम संकल्प आदि सब मन के ही धर्म हैं (सभी का अधिकरण मन ही है) मतलब कि उत्पत्तिशील पंचमहाभूतों से उत्पन्न मन सावयव ही होने से परिणामशील है, ऐसा सिद्ध होता है ।

ननु कामादेरन्तःकरणधर्मत्वे, "अहमिच्छामि" "अहं जानामि" "अहं बिभेमि" इत्याद्यनुभव आत्मधर्मत्वमवगाहमानः कथमुपपद्यते? उच्यते । अयःपिण्डस्य दग्धृत्वाभावेऽपि दग्धृत्वाश्रयवह्नितादात्म्याध्यासात् यथा "अयो दहति" इति व्यवहारः तथा "सुखाद्याकार-परिणाम्यन्तःकरणैक्याध्यासात्" अहं सुखी "अहं दुःखी इत्यादिव्यवहारः ।

अनुवाद—यहाँ शंका होती है कि यदि (पूर्वोक्त प्रकार से) कामादि को अन्तःकरण का ही धर्म माना जाए, तो "मैं चाहता हूँ", "मैं जानता हूँ," "मैं डरता हूँ,"—इत्यादि अनुभव में इच्छा, ज्ञान तथा भय तो अहंपदवाच्य आत्मा के ही प्रतीत हो रहे हैं। इस अनुभव का उपपादन-समुचितता—कैसे कर पाएँगे?

इस शंका का समाधान इस तरह होता है कि जिस प्रकार लोहे के गोले में जलाने की शक्ति न होने पर भी उस दग्धृत्य—जलाने की शक्ति के आश्रयरूप अग्नि से तादात्म्य का अध्यास हो जाने से "लोहे का गोला जलाता है"—ऐसा व्यवहार लोगों में देखा जाता है ।

ठीक इसी प्रकार सुखः-दुःख आदि आकार रूप परिणाम का जो आश्रय है, ऐसे मन के साथ आत्मा के ऐक्य—एकता—का अध्यास हो जाने से "मैं सुखी हूँ," "मैं दुःखी हूँ"—ऐसा व्यवहार हो सकता है ।

विमर्श—श्रुति भले ही सुख-दुःखादि को एवं संकल्पादि को मनोधर्म मानती हो, पर अनुभव तो उन्हें आत्मा का धर्म ही बताया है न? अनुभव तो "मैं पदवाच्य" आत्मा ही करता हुआ दिखई पड़ता है। तो श्रुति और अनुभव दोनों के परस्पर विरोध में हमें किसे मानना चाहिए? स्पष्ट ही है कि अनुभव विरोधी श्रुति को नहीं मानना चाहिए। "अहमिच्छामि" "अहं जानामि" आदि अनुभव में तो स्पष्टतया इच्छा, ज्ञान आदि आत्मा (जो अहंपदवाच्य है) के ही गुण प्रतीत होते हैं। अतः काम, संकल्प आदि को अन्तःकरण का धर्म कभी नहीं माना जा सकता। ये सब आत्मा के ही धर्म प्रतीत होने पर श्रुतिवाक्य बिल्कुल औपचारिक ही मानना चाहिए—ऐसा पूर्वपक्षी नैयायिक कहते हैं ।

इसके उत्तर में वेदान्ती कहते हैं कि यों तो सुख-दुःखादि अन्तःकरण के ही परिणाम हैं, अन्तःकरण परिणामी है। ऐसे सुख-दुःखाकार परिणामी अन्तःकरण के साथ जब आत्मा की एकता का भ्रम हो जाता है तब अन्तःकरण के सुख-दुःखादि धर्म आत्मा

में दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार तपाए गए लोहे के गोले में जलाने की शक्ति न होने पर भी उस गोले में रहे हुए अग्नि की उसे जलाने की शक्ति (दग्धृत्व) से उसका तादात्म्य-एकता का अभ्यास होने पर बच्चे और अज्ञानी कहने लगते हैं कि लोहे का गोला जल रहा है''। यह तो अज्ञान ही है न? वास्तव में गोले मैं दाहक शक्ति थोड़ी ही है? दाहक शक्ति तो सही रूप से अग्नि में ही है। वाणी व्यवहार में ''गोला जल रहा है''—ऐसा औपचारिक रूप में कहा जाता है ठीक इसी प्रकार ''अहं सुखी'' ''अहं दुःखी'' इत्यादि अविवेकियों के व्यवहार मात्र से सुख-दुःख का आश्रय कहीं अहंपदवाच्य आत्मा नहीं हो जाता। आत्मा तो निर्विकार है। उसमें सुख-दुःख-काम-क्रोध-इच्छा-द्वेषादि को मानना श्रुतिविरुद्ध और ज्ञानीजनविरुद्ध होगा। निष्कर्षः यह है कि परिणामी अन्तःकरण के ही सुख-दुःखादि धर्म-परिणाम हैं। ऐसे अन्तःकरण का आत्मा के साथ तादात्म्याध्यास हो जाने से ही आत्मा में सुख-दुःखादि की प्रतीति और व्यवहार होने लग जाता है। इसे 'धर्माध्यास' कहा जाता है। ''एक के धर्म को दूसरे में देखने को धर्माध्यास कहते हैं। इससे वास्तवरूप बदलता नहीं ।

मन के इन्द्रियत्व का खण्डन

नन्वन्तःकरणस्येन्द्रियतयाऽतीन्द्रियत्वात् कथं प्रत्यक्षविषयतेति? उच्यते। न तावदन्तःकरणमिन्द्रियमित्यत्र मानमस्ति। 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि'–इति भगवद्गीतावचनं मानमिति चेत्, न,। अनिन्द्रियेणाऽपि मनसा षट्त्वसङ्ख्यापूरणाविरोधात्। नहीन्द्रियगत सङ्ख्यापूरणमिन्द्रियेणैवेति नियमः। ''यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ती'' त्यत्र ऋत्विग्गतपञ्चसङ्ख्याया अनृत्विजा अपि यजमानेन पूरणदर्शनात् वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्'–इत्यत्र वेदगतपञ्चत्वसङ्ख्यायाः अवेदेनापि महाभारतेन पूरणदर्शनात्। ''इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः'' (का. 1/3/10) इत्यादिश्रुत्या मनसोऽनिन्द्रियत्वावगमाच्च।

न चैवं मनसोऽनिन्द्रियत्वे सुखादिप्रत्यक्षस्य साक्षात्त्वं न स्यादिन्द्रियाजन्यत्वादिनि वाच्यम्। न हीन्द्रियजन्यत्वेन ज्ञानस्य साक्षात्त्वम्, अनुमित्यादेरपि मनोजन्यतया साक्षात्त्वापत्तेः। ईश्वरज्ञानस्या-निन्द्रियजनस्य साक्षात्त्वाऽनापत्तेश्च ।

अनुवाद—''नेत्रादि की तरह अन्तःकरण भी एक इन्द्रिय ही है, और इन्द्रियाँ तो इन्द्रियों को इन्द्रियों के द्वारा जाना नहीं जा सकता। जब धर्मारूप मन (इन्द्रिय ही) किसी इन्द्रिय के द्वारा नहीं जाना जा सकता, तब उसका धर्म सुख-दुःखादि तो कैसे प्रत्यक्ष का विषय होगा?''

इस शंका का समाधान किया जाता है कि अन्तःकरण के इन्द्रिय होने का कोई

प्रमाण नहीं मिलता। यदि कहा जाए कि "मन जिनमें छठा है ऐसी इन्द्रियाँ"—ऐसा भगवद्गीता का वचन मन के इन्द्रिय होने का प्रमाण है, तो यह ठीक नहीं । क्योंकि इस वाक्य में इन्द्रियगत षट् संख्यात्व की पूर्ति, (यहाँ अनिन्द्रिय) मन से की गई है। ऐसी पूर्ति तो मन इन्द्रिय न हो तो भी की जा सकती है। जिस प्रकार, "यजमानपंचमा इडां भक्षयन्ति", इस वैदिक वाक्य में ऋत्विजों में रही हुई पंचत्व संख्या की पूर्ति ऋत्विजों से भिन्न यजमान शब्द से की गई है। ऐसा कोई नियम तो नहीं है कि इन्द्रियगत संख्या की पूर्ति इन्द्रिय से ही हो। (इन्द्रियभिन्न से भी हो सकती है।)

और भी "जिन में पाँचवाँ महाभारत है, ऐसे वेदों को पढ़ाया"—इस स्मृति-वाक्य में वेदगत पञ्चत्व संख्या की पूर्ति, वेदभिन्न महाभारत से की गई देखी जाती है। और उसी प्रकार, "इन्द्रियों से परे अर्थ हैं, और अर्थों से परे मन है"—इस श्रुतिवाक्य से मन का अनिन्द्रियत्व जाना जा सकता है ।

इस प्रकार मन को इन्द्रिय न मानने पर कोई शंका करे कि तब तो सुख-दुःखादि का साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष तो इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही कहा जाता है। और सुख-दुःखादि का प्रत्यक्ष तो इन्द्रियजन्य न होने से नहीं हुआ ।

इसका उत्तर यह है कि "इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होता है"—यह बात नहीं है। नहीं तो (आपके मत से मन इन्द्रिय होने से—) अनुमिति, उपमिति आदि ज्ञान भी (मनोजन्य=इन्द्रियजन्य) होने से उन्हें प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा। और ईश्वरज्ञान इन्द्रियजन्य न होने से उसमें प्रत्यक्षज्ञान की अनुपपत्ति सिद्ध होने लगेगी। अतः ज्ञान के प्रत्यक्ष होने में इन्द्रियजन्यत्व कोई प्रयोजक नहीं है, यह निश्चय हुआ ।

विमर्श—पहले दिए गए लोहपिण्ड के उदाहरण से वेदान्ती ने यह सिद्ध करना चाहा है कि अन्तःकरण के धर्म आत्मा में अध्यस्त होने से गोला जलता है, ऐसा व्यवहार हो सकता है, पर वह उदाहरण अयोग्य है, क्योंकि दिए गए उस उदाहरण में अग्नि और गोला दोनों प्रत्यक्षज्ञान के विषय हैं, और यहाँ आत्मा तो प्रत्यक्ष है पर अन्तःकरण प्रत्यक्ष नहीं है। क्योंकि अन्तःकरण एक इन्द्रिय है, और इन्द्रियाँ तो अतीन्द्रिय ही होती हैं। [इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष से ज्ञात नहीं हो सकतीं।] दो प्रत्यक्ष वस्तुओं का ही तादात्म्य हो सकता है। एक के अप्रत्यक्ष में तादात्म्याध्यास कैसे होगा? जब अन्तःकरणेन्द्रिय ही अप्रत्यक्ष है तो अतःकरण के धर्मरूप सुखःदुःखों का भी आपके मत में अप्रत्यक्ष ही होगा । इसका क्या समाधान है ? हमारे मत में (नैयायिकों के मत में) तो आत्मा प्रत्यक्ष है और सुखःदुःखादि आत्मधर्म भी इसीलिए प्रत्यक्ष हैं ही । पर आपका क्या समाधान है?

इसका उत्तर वेदान्ती इस तरह देते हैं कि हमारे मत में अन्तःकरण इन्द्रिय ही नहीं है। अन्तःकरण के इन्द्रिय होने का कोई प्रमाण ही नहीं है। जब मन इन्द्रिय रहा ही नहीं तब तो वह प्रत्यक्ष हो सकता है और प्रत्यक्ष मनोधर्मों का अध्यास प्रत्यक्ष आत्मा में हो ही सकता है ।

यद्यपि 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि'—जैसे गीतावाक्य में इन्द्रियों के साथ मन की गिनती की गई है, इसलिए मन भी इन्द्रिय है, ऐसा जान पड़ता है। क्योंकि मन को मिलाकर ही इन्द्रियों में 'छः' की संख्या होने की प्रतीति होती है। अत गीता-वाक्य मन के इन्द्रिय होने का प्रमाण माना जा सकता है, **तथापि** ठीक तौर से देखने पर यहाँ इन्द्रियगत छः संख्या की केवल पूर्ति करने के लिए ही मन शब्द है, इन्द्रियों में मन को शामिल करने के लिए नहीं है, ऐसा मालूम पड़ता है। केवल पूर्ति से मन इन्द्रिय नहीं हो जाता। केवल पूर्तिभाव का दूसरा उदाहरण देखिए : "यजमानपंचमा इडां भक्षयन्ति"—"यजमान सहित पाँच ऋतिवज् पुरोडाश खाते हैं"—यहाँ चार ऋत्विजों की पाँच संख्या की पूर्ति के लिए ही यजामन रखा गया है इससे कहीं यजमान ऋत्विज् नहीं हो जाता। एक और उदाहरण देखिए—"वेदानध्यापदाभास महाभारतपंचमान्" पाँचवें महाभारत के साथ उसने वेद पढ़ाए"—यहाँ वेद चार है और महाभारत पाँचवा है। वेदगत पंचत्व संख्या की सिर्फ पूर्ति के लिए ही **अवेद**—महाभारत को यहाँ रखा गया है। तो केवल वेदगत पंचत्व की संख्यापूर्ति के लिए रखे जाने से ही महाभारत वेद नहीं हो जाता ।

नैयायिक अगर फिर से शंका करे कि भगवान ने गीता में 'मन' को इन्द्रिय माना है "इन्द्रियाणां मनश्चस्मि" —"इन्द्रियों में मैं मन हूँ।" यह वाक्य है। तो यह ठीक नहीं क्योंकि भगवान ने तो उसी प्रसंग में अपने को "नक्षत्राणामहं शशी"—"नक्षत्रों में मैं चन्द्र हूँ"—ऐसा भी कहा है। तो जैसे चन्द्र नक्षत्र नहीं वैसे मन इन्द्रिय नहीं है ।

मन को इन्द्रिय न मानने के लिए तो "इन्द्रियभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः' यह श्रुति प्रमाण है ही।' एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च'—यह दूसरी श्रुति भी प्रमाण रूप से दी जा सकती है। दोनों श्रुतियों में मन की इन्द्रियों से प्रथक्ता बताई गई है ।

शंका—सुखदुःखादि के प्रत्यक्षत्व में तो सभी सहमत हैं। और वह प्रत्यक्ष मन से होता है, यह भी सभी मानते हैं। अगर "इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" यह प्रत्यक्ष का लक्षण न माना जाए तो (मन इन्द्रिय न होने से) सुखादि का प्रत्यक्ष कैसे होगा? अतः सुखादि के प्रत्यक्ष के लिए लाचार होकर आपको मन का इन्द्रियत्व मानना ही पड़ेगा ।

समाधान—हम आपके दिए हुए प्रत्यक्ष के लक्षण को नहीं मानते क्योंकि मन को इन्द्रिय मानने से आपके मत में अनुमित्यादि सभी ज्ञान इन्द्रियजन्य होने से प्रत्यक्ष हो जाएँगे । और ईश्वरज्ञान अनिन्द्रियजन्य होने से उसका प्रत्यक्ष होगा ही नहीं ।

(सार यही है कि किसी भी प्रकार से मन इन्द्रिय है ही नहीं) यह परिभाषाकार का अभ्युपगमवाद मालूम होता है क्योंकि वाचस्पति मिश्र वेदान्ती होते हुए भी मन को इन्द्रिय मानते हैं। परिभाषाकार ने विवरणकार के मत का अभ्युपगम दिया है। विवरणकार के मत में मन इन्द्रिय नहीं है। (वास्तविक बात तो यह है कि वेदान्त का प्रत्यक्ष का लक्षण ही नैयायिकों के प्रत्यक्षलक्षण से भिन्न है ।)

ज्ञान के प्रत्यक्षत्व का कारण

सिद्धान्ते 'प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं किमिति चेत्, किं ज्ञानगतस्य प्रत्यक्षस्य प्रयोजकं पृच्छसि किं वा विषयगतस्य? आद्ये प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेद इति ब्रूमः ।

तथाहि त्रिविधं चैतन्यं विषयचैतन्यं प्रमाणचैतन्यं प्रमातृचैतन्यं चेति। तत्र घटाद्यवच्छिन्नं चैतन्यं विषयचैतन्यम्, अन्तःकरणवृत्त्य-वच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाणचैतन्यम्, अन्तकरणावच्छिन्नं प्रमातृचैतन्यम् ।

अनुवाद—(इन्द्रियजन्यत्व को प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक नहीं मानते हुए वेदान्ती से नैयायिक पूछता है कि) तो फिर आपके (वेदान्ती के) सिद्धान्त में प्रत्यक्षत्व का क्या प्रयोजक है? (वेदान्ती प्रश्न को स्पष्ट करने के लिए तार्किकों को ही फिर प्रश्न करते हैं कि ''तुम क्या ज्ञानगत (प्रमाणगत) प्रत्यक्ष के प्रयोजक के विषय में पूछ रहे हो, या विषयगत प्रत्यक्ष के बारे में पूछ रहे हो? अगर ज्ञानगत (प्रमाणगत) प्रत्यक्ष के बारे में पूछ रहे हो तो हम कहते हैं कि ''प्रमाणचैतन्य का विषयचैतन्य से अभेद ही ज्ञानगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक है ।'' (विषयावच्छिन्न चैतन्य=विषय से घिरा हुआ चैतन्य) ।

(वस्तुतः विरूपाधिक चैतन्य एक ही होता हुआ भी उपाधि भेद से) तीन प्रकार का चैतन्य है—विषय चैतन्य, प्रमाण चैतन्य और प्रमातृ चैतन्य। इन तीन प्रकार के चैतन्यों में से घटादि विषयों से अवच्छिन्न—मर्यादित—हुआ चैतन्य, '**विषयचैतन्य**' कहलाता है, अन्तःकरण के वृत्ति से अवच्छिन्न—सीमित—चैतन्य **प्रमाणचैतन्य** कहा जाता है और अन्तःकरणावच्छिन्न हुआ चैतन्य **प्रमातृचैतन्य** कहा जाता है।

विमर्श—'**प्रत्यक्ष**' शब्द का व्यवहार तीन प्रकार से देखा जाता है। (1) प्रत्यक्ष ज्ञान, (2) प्रत्यक्ष विषय और (3) प्रत्यक्ष प्रमाण। उनमें प्रमाकरणरूप प्रयोजक-प्रत्यक्ष-प्रमाण तो प्रसिद्ध और पूर्वोक्त होने से जिज्ञास्य नहीं है। ज्ञानगत और विषयगत दोनों के प्रयोजकों की जिज्ञासा हो सकती है। उन दोनों में भी पहले ज्ञानगत प्रत्यक्ष के प्रयोजन सम्बन्ध में यहाँ कहा जाता है ।

अन्तःकरणावच्छिन्न—अन्तःकरण में सीमित चैतन्य ज्ञाता (प्रमाता) है । घटादि विषय में घिरा हुआ—(अवच्छिन्न) चैतन्य **ज्ञेय** (विषय) चैतन्य है और अन्तःकरण की वृत्ति में अवच्छिन्न मर्यादित' चैतन्य है (मर्यादित) चैतन्य ज्ञानचैतन्य है। प्रमाता-ज्ञाता, प्रमेय-ज्ञेय और प्रमाण-ज्ञान ऐसी व्यवस्था है ।

नैयायिक की जिज्ञासा ज्ञानगत प्रयोजक के विषय में—अर्थात् अन्तःकरण वृत्यवच्छिन्न चैतन्य के प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक के विषय में है। तो उस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि, ''प्रमाण चैतन्य—वृत्यवच्छिन्न चैतन्य (ज्ञान) और विषयावच्छिन्न चैतन्य (प्रमेय चैतन्य-ज्ञेय चैतन्य) का अभेद ही ज्ञानगत चैतन्य का प्रयोजक है—अर्थात् ज्ञान-ज्ञेय का अभेद ज्ञानगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक है ।

ब्रह्म तो उपाधिरहित है फिर भी उपाधिगत भेद से ही विषयचैतन्य, प्रमाण (ज्ञान) चैतन्य तथा प्रमातृचैतन्यरूप से कहा गया है, इसे समझ लेना तो सरल ही है ।

वृत्ति का बहिर्निर्गमन प्रकार

तत्र यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान्प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिना घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते । स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते । अनुमित्यादिस्थले तु नान्तःकरणस्य वह्न्यादिदेशगमनं वह्न्यादेश्चक्षुराद्यसन्निकर्षात् । तथा चायं घट इत्यादिप्रत्यक्षस्थले घटादेस्तदाकारवृत्तेश्च बहिरेकत्रदेशे समवधानात् तदुभयावच्छिन्नं-चैतन्यमेकमेव । विभाजकयोरप्यन्तःकरणवृत्ति-घटादिविषययोकदेश-स्थत्वेन भेदाऽजनकत्वात् । अत एव मठान्तर्वर्ति-घटावच्छिन्नाकाशो न मठावच्छिन्नाकाशाद् भिद्यते । तथा च 'अयं घट' इति घटप्रत्यक्षस्थले घटाकारवृत्तेर्घटसंयोगितया घटावच्छिन्नचैतन्यस्य तद्वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यस्य चाभिन्नतया तत्र घटज्ञानस्य घटांशे प्रत्यक्षत्वम् । सुखाद्यवच्छिन्न-चैतन्यस्य तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य च नियमेनैक-देशस्थितोपाधिद्वयावच्छिन्नन्वान् नियमेन ''अहं सुखी'' इत्यादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम् ।

अनुवाद—जिस प्रकार तालाव का पानी छिद्र से निकलकर नाली का आकार धारण करता हुआ खेत में फैलता है और त्रिकोण-चतुष्कोण आदि नाली के आकार के समान ही पानी का आकार हो जाता है, ठीक इसी तरह तैजस अन्तःकरण भी आँख आदि इन्द्रियों के जरिए बाहर निकल कर घटादि स्थान में जाता है। और वह घटादि विषय के आकार में परिणत हो जाता है। इसी परिणाम को ''अन्तःकरणवृत्ति'' कहा जाता है। अनुमिति उपमिति आदि ज्ञान जहाँ होता है, वहाँ वह्नि आदि देश में अन्तःकरण जाता नहीं है, क्योंकि वहाँ पर वह्नि आदि के साथ में चक्षुरादि का सम्बन्ध हुआ ही नहीं । इन्द्रियों और विषयों का सन्निकर्ष होने पर, ''अयं घटः''—इस प्रत्यक्ष के स्थल पर घटाकार वृत्ति और घटादिविषय—दोनों एक ही स्थान में अवस्थित हो जाते हैं और दोनों में अवच्छिन्न—सीमित चैतन्य तो एक ही है क्योंकि अन्तःकरणवृत्ति और घटादिविषय—ये उपाधियाँ, उपहित चैतन्य में भेद करने वाली होने पर भी उन दोनों की एक ही स्थान में स्थिति होने पर वे भेद नहीं कर सकतीं। इसी कारण गृहस्थित घट से अवच्छिन्न—मर्यादित आकाश, उस गृह से अवच्छिन्न आकाश से भिन्न नहीं है। इस प्रकार दो उपाधियों के एक-देशोपस्थित होने से उन उपाधियों में अपने उपधेयों का भेद करने की शक्ति नहीं रह जाती । ऐसा निर्णीत होने पर, 'यह घट है'—इस प्रत्यक्ष ज्ञान

में घटाकारवृत्ति में घटसंयोगित्व होता है। (वृत्ति बाहर से संयुक्त होती है।) इस कारण घटावच्छिन्न चैतन्य और घटाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेद—तादात्म्य—हो जाता है और इन दो चैतन्यों का ऐक्य होने से, "यह घट है" इस प्रत्यक्ष स्थल में घट ज्ञान के 'घट अंश में प्रत्यक्षत्व है। सुखाद्यवच्छिन्न चैतन्य और तद्वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य का तो नियम से ही उपाधि के एकदेश में रहने से, "मैं सुखी हूँ"—इत्यादि प्रत्यक्षज्ञान हो ही सकता है।

विमर्श—नैयायिकों की तरह हम मन को अणु नहीं, पर मध्यमपरिमाण वाला मानते हैं और अपंचीकृत भूतों का कार्य मानते हैं। अतः मध्यमपरिमाण और कार्य—दोनों होने से मन में परिणाम उत्पन्न हो ही सकता है। तैजस होने के कारण सूर्य की किरणों की तरह मन का संकोच और विकास शरीर के परिमाणानुसार हो सकता है। अतः अतः प्राणशक्ति का आश्रय लेकर मन जब शरीर के परिमाणानुसार हो सकता है। अतः प्राणशक्ति का आश्रय लेकर मन जब शरीर से बाहर निकल जाता है, तो उससे अवच्छिन्न—उसके परिध में रहा हुआ—चैतन्य भी शरीर से निकला हुआ माना जाता है। जैसे किसी तालाब का पानी छेद से निकलकर नाली का आकार धारण कर लेता है, और फिर खेत में जाने पर खेत के त्रिकोण, चतुष्कोण आदि आकार वाला बन जाता है, ठीक उसी प्रकार पाँच तन्मात्राओं का कार्य रूप स्वच्छ (तैजस्) अन्तःकरण अपने में चैतन्य का प्रतिबिम्ब धारण किए हुए, यथासंभव नेत्रादि—इन्द्रियों से बाहर निकल कर घटादि विषयदेश में जाता है। अन्तःकरण की इसी विषयाकार वृत्ति को प्रमाण कहते हैं और उससे घिरे हुए (अवच्छिन्न) चैतन्य को प्रमाण चैतन्य कहते हैं। इस प्रकार विषयों के **अपरोक्ष** स्थल में ही अतःकरण विषयदेश में जाकर विषय का आकार धारण करता है। अनुमान में जो पर्वत में वह्नि का ज्ञान होता है, वह तो परोक्ष ही है, क्यों कि वहाँ वह्नि के साथ नेत्रों का सम्बन्ध ही नहीं होता। भले ही वहाँ वह्न्याकार अन्तःकरण वृत्ति बनी हो, परन्तु वह्नि के साथ उस वृत्ति का साक्षात् सम्बन्ध तो नहीं हुआ न? विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध हुए बिना ही जो विषयाकार वृत्ति होती है, उस वृत्ति से कदापि प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। हाँ, अनुमान, उपमान आदि अन्य परोक्ष ज्ञान हो सकते हैं।

यह तो हम जानते ही हैं कि अखण्ड, एकरस, व्यापक चैतन्य में तो कोई भी भेद नहीं है, पर उपाधियों से ही भेद किए गए हैं। वे उपाधियाँ जब तक भिन्न देश में रहेंगी, वहीं तक चैतन्य में भेद पैदा कर सकती हैं, जब वे उपाधियाँ एक देश में मिलती हैं, तब भेद नष्ट होता है। "अयं घटः" इस प्रत्यक्षस्थल में घटादि विषय और घटाकारान्तःकरणवृत्ति—दोनों एक ही देश में एकत्र स्थान में मिल जाती हैं। अतः घट से अवच्छिन्न—घिरा हुआ—चैतन्य और घटाकारवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य—दोनों एक ही हो गए, क्योंकि चैतन्य में विभाग करने वाली विषय और विषयाकार वृत्ति—दोनों शरीर से बाहर एक ही स्थान में स्थित हो चुकी हैं।

किसी मठ (मकान) के भीतर रखे गए घट से अवच्छिन्न (सीमित) आकाश मठाकाश (मकान से अवच्छिन्न आकाश) से कभी भिन्न हो ही नहीं सकता। पर अगर वही घट, उस मठ से (मकान से बाहर कहीं रखा जाता तो अवश्य ही मठावच्छिन्न आकाश और घटावच्छिन्न आकाश भिन्न-भिन्न माना जा सकता था। आकाश तो स्वरूप से एक ही है, फिर भी केवल घट और मठ की उपाधियों के कारण ही उसमें भेद पड़ जाता है। और वे दानों उपाधियाँ भिन्न-भिन्न देश में हों तब भेद पड़ता है, उपाधियाँ एक स्थल में सम्मिलित होने पर भेद नष्ट हो जाता है। अतः मठावच्छिन्न आकाश से घटावच्छिन्न आकाश अपने को अलग नहीं रख सकता। क्योंकि मठावच्छिन्न आकाश में घटावच्छिन्न आकाश का एकदेश में होने से भेद टूट गया ।

ज्ञानगत प्रत्यक्ष अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्न चैतन्य के —प्रत्यक्ष का कारण हम बतला रहे हैं। इस प्रत्यक्ष का स्वरूप है "अयं घटः" 'यह घड़ा है'। घटादि विषय के प्रत्यक्ष का कारण तो हम आगे बताएँगे। यहाँ घट बाह्य देश में है और अन्तःकरणवृत्ति वहाँ नेत्रों के द्वारा निकल कर गई। और उसका घट के साथ सम्बन्ध होते ही घट के आकार की हो गई। उस वृत्ति से अवच्छिन्न सीमित—चैतन्य को प्रमाणचैतन्य कहते हैं। वह प्रमाण चैतन्य घटावच्छिन्न चैतन्य यानी विषयावच्छिन्न चैतन्य से एक ही देश में मिल गया और उपाधियाँ एक देश में मिलने से दोनों चैतन्यों की अभिन्नता हुई और प्रत्यक्ष हो गया—"अयं घटः," 'यह घड़ा है ।'

"अयं घटः"—'यह घड़ा है'—इस ज्ञान में घड़े में रहे हुए रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि बहुत से गुणों का भान तो उस समय नहीं होता, केवल 'घट-अंश' का ही प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि अन्तःकरण की वृत्ति केवल 'घटाकार' ही थी ।

विषय जब बाहर के होते हैं, तब भीतर के अन्तःकरण में वृत्ति कभी-कभी उस आकार की होती है और कभी नहीं होती पर भीतर के सुखादि विषय और भीतर के ही अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य तो नियमतः एक देश में स्थित होने के कारण, 'अहं सुखी'—'मैं सुखी हूँ'—इत्यादि अनुभव को, सुखादि अंश में ज्ञान को नियमतः प्रत्यक्ष ही माना जाएगा। सुखादि का ज्ञान कभी परोक्ष होता ही नहीं। सुखादि विषय और सुखाद्याकार वृत्ति एक ही क्षण में उत्पन्न हो जाते हैं। घटादि बाह्य विषयों में वृत्ति का जो 'कादाचित्क है, वह यहाँ नियमतः नहीं है। यही दोनों का पार्थक्य है ।

स्मर्यमाण सुख में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति का निरसन

नन्वेवं स्ववृत्तिसुखादिस्मरणस्यापि सुखाद्यंशे प्रत्यक्षत्वापत्तिरिति चेत् न, तत्र स्मर्यमाणसुखस्यातीतत्वेन स्मृतिरूपान्तःकरणवृत्तेर्वर्तमानत्वेन तत्रोपाध्योर्भिन्नकालीनतया तत्तदवच्छिन्नचैतन्ययोर्भेदात्। उपाध्योरेकदेशस्थत्वे सति एककालीनत्वस्यैवोपधेयाभेदप्रयोजकत्वात्।

यदि चैकदेशस्थत्वमात्रमुपधेयाभेदप्रयोजकं तदा "अहं पूर्वं सुखी"–इत्यादिस्मृतावतिव्याप्तिवारणाय वर्तमानत्वं विषयविशेणं देयम् ।

अनुवाद—यहाँ शंका करते हैं कि अगर "विषय और तदाकार वृत्ति—दोनों एक स्थल में हों, तो ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है"—ऐसा आप कहते हैं, तब तो अन्तःकरण में रहे हुए सुख के स्मरण में भी सुखादि **विषयांश** में भी प्रत्यक्षत्व आ जाएगा। अर्थात् आपका किया हुआ लक्षण सुखादि के स्मरण में भी चला जायगा। (अतिव्याप्ति हो जाएगी—अलक्ष्य में लक्षण चला जाएगा) ।

इसका समाधान यह है कि (विषय और विषयाकार वृत्ति—दोनों का सिर्फ एक देश में ही नहीं, एक **काल** में भी **एकत्रित** तो होना चाहिए।) यहाँ स्मृति का विषय—सुख, अतीत (भूत) काल में रहा और स्मृतिरूप अन्तःकरण की वृत्ति तो अभी वर्तमान काल में हो रही है। दोनों ही उपाधियाँ भिन्नकालीन हैं (एककालीन नहीं हैं)। अतः उन (भिन्नकालीन) उपाधियों में अवच्छिन्न (स्थित) चैतन्य का भी भेद रहता ही है, क्योंकि विषय और विषयाकारवृत्ति की दोनों उपाधियों को एकदेश में तथा एक काल में भी स्थित होना चाहिए। तभी उन दोनों उपाधियों से अवच्छिन्न-व्यावर्तकरूप से रहे हुए चैतन्य का अभेद हो सकेगा अन्यथा नहीं। फिर, जिन उपाधियों का देश एक हो और काल भिन्न हो उनके विषय को भी प्रत्यक्ष माना जाय, तब तो "मैं पहले सुखी था"—इस स्मृति में भी अतिव्याप्ति होगी (लक्षण लागू पड़ जायगा) इस अतिव्याप्ति का निरसन करने के लिए इस विषय में 'वर्तमानत्व'—ऐसा विशेषण दे देना चाहिए ।

विमर्श—शंका—पहले कहा गया है कि विषय और विषयाकार अन्तःकरण की वृत्ति एक देश में स्थित होने पर विषयावच्छिन्न चैतन्य रूप ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है। तो मान लीजिए कि कभी पहले अन्तःकरण में सुख हुआ था, और अब मैं, "मैं पहले सुखी था"—ऐसा अब स्मरण कर रहा हूँ। अर्थात् सुख भी अन्तःकरण में था और सुखाकारवृत्ति का आज का स्मरण भी तो अन्तःकरण में ही है। मतलब कि सुखरूप विषय और सुखाकार स्मृतिरूप वृत्ति—दोनों अन्तःकरण में ही स्थित हैं दोनों ही उपाधियाँ एकदेशस्थ ही हैं। अतः दोनों से उपहित-अवच्छिन्न—चैतन्य तो एक ही हुआ, तब तो उस स्मरणज्ञान को भी सुखांश में प्रत्यक्ष मानना चाहिए। क्योंकि सुखाद्यवच्छिन्न चैतन्य और सुखाकारस्मृत्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेद तो हो ही रहा है, और वही प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक हो सकता है ।

इस शंका का समाधान यह है कि दोनों उपाधियों की एकदेशमात्र में स्थिति होना ही पर्याप्त नहीं है। तदुपरान्त एक काल में भी दोनों उपाधियों की सहस्थिति अपेक्षित है। एक स्थान मात्र में रहने पर अभेद नहीं होता, एक काल में और एक स्थान में—दोनों में एकत्र स्थिति हो, तथा उभयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद होने से प्रत्यक्ष होता है ।

एक उदाहरण देखें। घट और मठ (मकान) दोनों उपाधियाँ एक देश में हैं, मानो

कि जहाँ घट है, वहाँ मठ (मकान) है। उन दोनों उपाधियों से अवच्छिन्न (मर्यादित) आकाश अभी—वर्तमान में हैं, तो उनका अभेद होगा ही और अगर मकान किसी और काल में जिस स्थान में होगा वहीं इस समय घट से अवच्छिन्न आकाश है, तो उस समय जो मठावच्छिन्न आकाश था, उससे इस समय का घटावच्छिन्न आकाश अलग ही होगा, यह तो स्पष्ट ही है ।

नन्वेवमपि स्वकीयधर्माधर्मौ वर्तमानौ सदा शब्दादिना ज्ञायेते नदा तादृशशाब्दज्ञानादावतिव्याप्तिः । तत्र धर्माद्यवच्छिन्नतद्वृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्ययोरेकत्वादिति चेत्, न, योग्यत्वस्यापि विषयविशेषणत्वात्। अन्तःकरणधर्मत्वाविशेषेपि किञ्चिदयोग्यं किञ्चिद्योग्यमित्यत्र फलबलकल्प्यः स्वभाव एव शरणम्। अन्यथा न्यायमतेऽप्यात्म-धर्मत्त्वाविशेषात्, सुखादिवद्धर्मादेरपि प्रत्यक्षत्वापत्तिर्दुर्वारा ।

अनुवाद—शंका की जाती है कि तब तो अपना धर्म और अधर्म, जो कि अन्तःकरण देश में ही वर्तमान है, वह शब्दादि प्रमाणों के ज़रिए जब जाने जाते हैं, तब उस शाब्दज्ञान में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि वहाँ पर धर्मादिकीं से अवच्छिन्न चैतन्य और तदाकारवृत्यवच्छिन्न चैतन्य दोनों का एकत्व रहता ही है। अतः यहाँ अतिव्याप्ति होगी ।

इसका समाधान है, अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि योग्यत्व को भी विषयविशेणत्व के रूप में लेना चाहिए। तब धर्माधर्मादिकों के शाब्दज्ञान में प्रत्यक्षप्रयोजक लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि सुखादिकों की तरह धर्मादिकों में अन्तःकरण धर्मत्व होते हुए भी उनमें कुछ प्रत्यक्ष के योग्य और कुछ प्रत्यक्ष के अयोग्य होते हैं। इस विषय में फलबल से कल्पित किया जाने वाला स्वभाव ही अवलम्बन है। ऐसा अगर न मानें तो न्यायमत में भी यही दोष आ जाता है। क्योंकि न्यायमत में भी सुखादिकों की तरह धर्मादिकों में भी आत्मधर्म के समान होने से प्रत्यक्षत्व का आ जाना रोका नही जा सकता । (मतलब यह है कि नैयायिक लोग सुखदुःख के समान धर्माधर्म को भी आत्मा का ही धर्म मानते हैं इससे, 'फलबलकल्प्य स्वभाव' का आधार न माना जाए, तो उन लोगों को भी सुखादिकों की तरह धर्माधर्म का प्रत्यक्षत्व मानना ही पड़ेगा ।

विमर्श—विषयाकार अन्तःकरण वृत्ति जिस प्रकार विषयों के इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष होने पर होती है वैसे शब्द से भी तो होती है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि जो वस्तु प्रत्यक्ष के अयोग्य हो, ऐसी वस्तु की अन्तःकरवृत्ति शब्द से और परोक्ष ही हुआ करती है। प्रत्यक्ष योग्य वस्तु की अन्तःकरणवृत्ति कदापि परोक्ष नहीं होती। और विषयेन्द्रिय सम्बन्ध होने पर तो विषयाकार अन्तःकरणवृत्ति परोक्ष ही होती है, वह कभी परोक्ष नहीं होती। फिर भी नैयायिक शंका करता है कि—"तू धर्मी है" या "तू अधर्मी है"—इस स्थल पर शब्द से धर्म और अधर्म के आकार की अन्तःकरणवृत्ति बनी, इस वृत्ति का विषय जो धर्मादि है, वह अन्तःकरणदेश में ही है और वर्तमान भी है। अब

तो धर्मादि वर्तमान विषयावच्छिन्न चैतन्य तथा तदाकारवृत्यवच्छिन्न चैतन्य अन्तःदेश में ही हैं तो फिर दोनों चैतन्य का अभेद हो गया। ऐसी दशा में धर्म के शाब्दिक ज्ञान में ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व के लक्षण की अतिव्याति हो गई। अर्थात् वर्तमान विषयावच्छिन्न चैतन्य एवं तद्विषयाकारान्तः करणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य—दोनों चैतन्यों की एकदेश में स्थिति होने से अभेद हो जाता है—यह पूर्वपक्षी की शंका का सार है ।

इसके समाधान के लिए सिद्धान्ती कहता है कि ठीक ही पूर्वपक्षी (आप) के कथनानुसार धर्मादि वर्तमान भी है, अन्तःकरण में रहते भी हैं, उसी देश में अन्तःकरण की तराकार वृत्ति भी है प्रत्यक्षत्व प्रयोजक सब कुछ है पर 'योग्यता' नहीं है। अतः लक्षण में एक और विशेषण "योग्यत्व" भी जोड़ देना चाहिए। इस 'योग्यत्व' विशेषण जोड़ देने से अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि धर्मादि में प्रत्यक्ष होने की योग्यता नहीं है ।

सुखादि और धर्मादि—दोनों अन्तःकरण के ही धर्म होने पर भी सुखादि में प्रत्यक्षत्व योग्यता है और धर्मादि में नहीं है, यह अनुभवसिद्ध बात है। अतः अन्तःकरण का कौन सा धर्म प्रत्यक्षयोग्य है और कौन नहीं इसका निर्णय तो सर्वसाधारण लोकानुभव के फल पर छोड़ देना चाहिए ।

इस प्रकार लोकानुभव के फल से योग्यता-अयोग्यता का निर्णय तो नैयायिकों को भी करना पड़ता है। उनके मत में भी आत्मा के चौदह गुणों में से कुछ गुण प्रत्यक्ष योग्य हैं, और कुछ नहीं हैं ।

न चैवं सुखस्य वर्तमानदशायां त्वं सुखीत्यादि वाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षता स्यादिति वाच्यम् । इष्टत्वात् । 'दशमस्त्वमसि' इत्यादौ सन्निकृष्ट विषये शब्दादप्यपरोक्षज्ञानाभ्युपगमात्। अत एव 'पर्वतो वह्निमानित्यादि-ज्ञानमपि वह्न्यंशे परोक्षं, पर्वतांशेऽपरोक्षम् । पर्वताद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य बहिर्निसृतान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य च परस्परं भेदाभावात् ।

अनुवाद—शंका की जाती है कि सुख की वर्तमान दशा में "तुम सुखी हो"— इस प्रकार के वाक्य के श्रवण से भी वाक्यजन्य सुख का अनुभव होता है। आपके प्रत्यक्ष का लक्षण तब तो उस वाक्यजन्य ज्ञान में भी चला गया। तो उसमें अतिव्याप्ति हो गई ।

समाधान यह है कि अच्छी बात है, हम भी यह मानते हैं कि वर्तमान सुख का "त्वम् सुखी"—इस वाक्यजन्य ज्ञान का प्रत्यक्ष होता ही है। 'दशमस्त्वमसि'—'तू दसवाँ है'—इस वाक्यजन्य ज्ञान का प्रत्यक्ष होता ही है। 'दशमस्त्वममि'—'तू दसवाँ है'—इस स्थल पर आप्त वाक्य से सन्निहित विषय 'दशम' का शब्द से भी अपरोक्ष ज्ञान माना ही गया है ।

"सन्निहित—नज़दीक में रही हुई वस्तु का प्रकारान्तर से भी अपरोक्षज्ञान होता

है''—इस सिद्धान्त के अनुसार ''पर्वतो वह्निमान्'' 'पर्वत वह्नि वाला है'—यह अनुमिति ज्ञान भी वह्नि के अंश में परोक्ष है, पर पर्वत के अंश में अपरोक्ष है। क्योंकि पर्वत आदि से अवच्छिन्न चैतन्य एवं बाहर निकली हुई पर्वतादि—आकार वाली वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होता ही है ।

वह्न्यंशे त्वन्तःकरणवृत्तिनिर्गमनासंभवेन वह्न्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमाणचैतन्यस्य च परस्परं भेदात्। तथा चानुभवः ''पर्वतं पश्यामि'', ''वह्निमनुमिनोमि'' इति। न्यायमते तु 'पर्वतमनुमिनोमी त्यनुव्यवसायापत्तिः ।

अनुवाद—(पर्वतो वह्निमान् इत्याद्यनुमिति स्थल में) वह्नि के अंश में तो अन्तःकरण की वृत्ति का निकलना सम्भव नहीं है ।

अतः वह्न्यवच्छिन्न चैतन्य और वह्न्याकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का यहाँ परस्पर भेद है । इसीलिए तो, ''पर्वत को देखता हूँ,''और ''अग्नि का अनुमान करता हूँ''—ऐसा अनुभव होता है। न्यायमत में तो ''पर्वतमनुमिनोमि,''। पर्वत का अनुमान करता हूँ—इस प्रकार अनुव्यवसाय होना चाहिए। अर्थात् उन्हें तो पर्वतांश में भी अनुमिति का स्वीकार करना चाहिए ।

विमर्श—एक आक्षेप यह है कि पूर्वोक्त रीति से विषय में **'वर्तमानत्व'** और **'योग्यत्व'** इन दो विशेषणों को दिए जाने पर भी 'तुम सुखी हो'—इस वाक्य से जो शाब्द बोध होता है, इसमें प्रत्यक्षत्व के आपके कहे हुए प्रयोजक के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाएगी। अर्थात् आपका प्रत्यक्षप्रयोजक लक्षण शाब्दबोध में भी चला जायगा । क्योंकि ऐसे शाब्दबोध में वर्तमानता, योग्यता, विषयावच्छिन्न और तदाकार वृत्त्यवच्छिन्न दोनों चैतन्यों की एकदेश स्थिति—सब कुछ है—प्रत्यक्ष की सभी कारण सामग्री इस शाब्दबोध में भी है ही ।

वेदान्ती का उत्तर है कि, ठीक ही तो है हमें वह मंजूर ही तो है। हमारा कहना सिर्फ इतना ही है कि वस्तु व्यवहित हो तब शाब्दज्ञान से उसका 'परोक्षज्ञान' ही होता है पर वस्तु यदि अव्यवहित हो, तब तो शाब्दज्ञान से भी उसका 'अपरोक्षज्ञान' हो सकता है। स्वर्गादि वस्तुएं व्यवहित दूर हैं इसलिए शाब्दबोध से उसका ज्ञान परोक्ष ही होगा, पर 'तू दसवाँ है' यहाँ पर वह 'दसवाँ' अव्यवहित पास में ही है, तो उसका शाब्दबोध से भी प्रत्यक्ष होता ही है। शब्द से भी सन्निकृष्ट वस्तु का प्रत्यक्ष हो सकता है ।

वह्न्यादि अनुमिति में पक्षांश-प्रत्यक्षत्व

'पर्वते वह्निमान्'—'पर्वत वह्नि वाला है' ऐसे अनुमिति स्थल में 'पर्वत' के अंश में तो प्रत्यक्ष मानते ही हैं। केवल वह्नि अंश में प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता । क्योंकि पर्वत के साथ तो नेत्र का सम्बन्ध होने पर पार्वताकार अन्तःकरण वृत्ति बनती ही है, वहाँ वह्नयाकार वृत्ति भी तो बनती ही है, पर वह्नि के साथ नेत्र का सम्बन्ध नहीं होता अर्थात्

विषय=वह्नि और वह्नाकार वृत्ति-दोनों एकदेश में स्थित नहीं हैं, जब कि विषय-पर्वत और पर्वताकार अन्तःकरण का वृत्ति नेत्रद्वारा निकल कर एक स्थान पर स्थित हैं। तो पर्वत अंश में वृत्ति और विषय एकस्थ होने से उन दोनों से अवच्छिन्न चैतन्यों में अभेद हो जाता है, और प्रत्यक्ष होता है। वह्न्यंश में वृत्ति तो हुई पर वह भीतर ही रही। नेत्रद्वारा निकल कर बाहर विषय (वह्नि) तक न पहुँची दोनों एकदेशस्थ न रह सके। इसलिए वह्न्यंश का प्रत्यक्ष नहीं होता। निष्कर्ष यह है कि 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति स्थल में पर्वतांश प्रत्यक्ष है और सिर्फ वह्न्यंश में ही अनुमान की गति है ।

यदि पूछा जाए कि 'पर्वतो वह्निन' यह पूरा अनुमान अनुमिति के रूप में सभी मानते हैं और आप भला क्यों पर्वतांश में प्रत्यक्ष और वह्न्यंश में अनुमिति मानते हैं? तो उत्तर यह है कि पर्वतांश में लोग ''पर्वत को देखता हूँ''—ऐसा ही अनुभव करते हैं और सिर्फ वह्न्यंश में ही ''अग्नि का अनुमान करता हूँ'' ऐसा अनुभव करते हैं। लोकानुभव तो हमारे ही साथ में है ।

मूल में ''न्यायमते तु''—ऐसा लिखा है। वहाँ 'तु' शब्द के द्वारा मतभेद बताकर कहा गया है कि न्यायमत में 'पर्वतो वह्निमान्' इस विशिष्ट ज्ञान में विशेषरूप पर्वत का वह्नि विशेषण है। अर्थात् पर्वतरूप साध्य का विशेषण वह्नि हुआ। तो ज्ञान के विषय के रूप में, विशेषण (अग्नि) विशिष्य पर्वत—ऐसा हुआ। तो इस तरह विशेषण और विशेष्य दोनों अनुमिति ज्ञान के विषय हुए। अब ज़रा सोचिए तो कि जब पर्वत आँखों से दीख पड़ रहा है, तब उसे अनुमिति में इस तरह घसीट कर ले जाना कहाँ तक उचित है! तब तो 'धूमात्' यह हेतु पर्वत को भी लागू होगा? तब आँखें किस काम की, जो पर्वत को देख रही हैं?

असन्निकृष्टपक्षकानुमितौ तु सर्वांशेऽपि ज्ञानं परोक्षम्। 'सुरभि-चन्दन'-मित्यादिज्ञानमपि चन्दनखण्डांशे अपरोक्षम् सौरभांशे तु परोक्षं, सौरभ्यस्य चक्षुरिन्द्रियायोग्यतया योग्यत्वघटितस्य निरुक्तलक्षण-स्याभावात् ।

अनुवाद—जिस अनुमान में जहाँ पर पक्ष संनिकृष्ट नहीं होता, ऐसे अनुमान स्थल पर पक्ष, साध्य और उन दोनों का सम्बन्ध—इन तीनों अंशों में ज्ञान परोक्ष ही होता है। यह बात सर्वमान्य हो सकती है। ''सुरभि चन्दनम्''—'चन्दन का टुकड़ा सुरभित है'—यह ज्ञान भी 'चन्दनखण्ड' के अंश में अपरोक्ष है, और सुरभित अंश में परोक्ष ही है। क्योंकि 'सुरभि' अंश में नेत्रेन्द्रिय जन्य प्रत्यक्षता की योग्यता नहीं है। और प्रत्यक्ष लक्षण में हमने योग्यता का भी संनिवेश तो कर ही दिया है। योग्यता-पद-घटित-प्रत्यक्षलक्षण का अभाव होने से सुगन्ध अंश में हम प्रत्यक्ष नहीं मानते ।

विमर्श—अनुमान दो तरह के होते हैं एक में पक्ष का इन्द्रिय से सन्निकर्ष होता है, जैसे **पर्वतो** वह्निमान् धूमात्। यहाँ पक्ष **'पर्वत'** इन्द्रियसंन्निकृष्ट होने से प्रत्यक्ष है।

और दूसरा वह होता है जिसमें पक्ष इन्द्रिय सन्निकृष्ट नहीं होता जैसे "जलपरमाणवः शीतस्पर्शवन्त जलत्वातः"—"जलीय परमाणु शीतस्पर्श वाले होते हैं, जलत्व होने से" यहाँ जलीय परमाणु रूप पक्ष इन्द्रिय संनिकृष्ट नहीं है। परामाणुओं का इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसा न्यायसिद्धान्त है। इस दूसरे प्रकार को अनुमान में पक्ष परमाणु है, साध्य शीतस्पर्श है, और दोनों का समवाय सम्बन्ध है। ऐसे अनुमान में असन्निकृष्ट पक्ष, साध्य और तीनों का सम्बन्ध—सभी ज्ञान परोक्ष ही है ।

हमने दूर से चन्दन देखा और "चन्दन सुगंधी है'—ऐसा ज्ञान हो गया। ऐसे स्थल में नैयायिक लोग 'सुरभि'त्व को भी "ज्ञानलक्षणा प्रत्यासात्ति" नाम के प्रत्यक्ष ज्ञान में समावेश कर देते हैं, पर हम तो विचार करके मानते हैं कि ऐसे स्थल पर सिर्फ चन्दन खण्ड के अंश में ही प्रत्यक्ष मानना चाहिए क्योंकि आँखों के साथ उसी का संनिकर्ष होता है, गन्ध में तो चाक्षुष ज्ञान की अयोग्यता को तो नैयायिक भी स्वीकार करेंगे। वास्तव में चन्दन में सुरभित्व का ज्ञान अनुमान से ही होता है प्रत्यक्ष से नहीं। सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति का कोई अर्थ नहीं है । अतः 'चन्दन सुरभि' चन्दनखण्ड सुरभि है, इसमें चन्दन खण्डांश का ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, और सौरभांश का ज्ञान परोक्ष है। घ्राण से ही सुगंध का प्रत्यक्ष होता है, न कि आँख से । और घ्राणेन्द्रिय के साथ तो दूर से देखे गए चन्दन खण्ड में रही हुई सुगन्ध का संनिकर्ष तो हुआ नहीं है ।

जाति-उपाधि-समवाय का खण्डन

न चैवमेकत्र ज्ञाने परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरभ्युपगमे तयोर्जातित्वं न स्यादिति वाच्यम्। इष्टत्वात्। जातित्वोपाधित्वपरिभाषायाः सकल प्रमाणागोचरतया अप्रामाणिकत्वात्। घटोऽयमित्यादि प्रत्यक्षं हि घटत्वादिसद्भावे मानं, न तु तस्य जातित्वेऽपि ।

अनुवाद—यहाँ ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि "सुरभि चन्दनम्"—इस एक ही ज्ञान में 'चन्दनखंड' के अंश में प्रत्यक्षत्व, और 'सुरभि' खण्ड में परोक्ष—इस प्रकार एकत्र ही परोक्षत्व और अपरोक्षत्व का मिश्रण होने से इसमें जातित्व की सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि परोक्षत्व या अपरोक्षत्व जैसी किसी जाति को हम नहीं मानते—ऐसी जाति का न होना हमारे लिए अच्छी बात है। क्योंकि जातित्व और उपाधित्व की कोई परिभाषा सभी प्रमाणों के लिए अमान्य ही है। इसलिए [जातित्व और उपाधित्व की परिभाषा अप्रमाणिक ही है] 'घटोऽयम्'—'यह घट है'—यह प्रत्यक्षज्ञान सिर्फ घटत्व के सद्भाव में प्रमाण है, घट की जाति होने में प्रमाण नहीं है। परोक्षत्व और अपरोक्षत्व में जातित्व न हो तो वह ठीक है—हमें स्वीकार्य है ।

विमर्श—शंकाः आपने ऐसा कहा कि जिस अनुमिति में पक्ष सन्निकृष्ट हो, वहाँ पक्ष का **प्रत्यक्षज्ञान** और जहाँ पक्ष असन्निकृष्ट हो, वहाँ पक्ष का **परोक्षज्ञान** होता है, पर साध्य का तो दोनों अनुमितियों में **परोक्षज्ञान** ही होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि

एक ही अनुमिति में एक अंश में परोक्ष और एक अंश में अपरोक्षज्ञान (दोनों विरोधी) उत्पन्न हो सकते हैं। यह बात ''सुरभि चन्दनम् '' के उदाहरण से समझाई गई है। तो ऐसे परस्पर विरोधी धर्मों का एकत्र समावेश तो जाति का बाधक है। यह शंका है इस पर ज़रा सोचें। नैयायिकों की यह शंका है—उन्होंने जाति को (सामान्य को) एक खास पदार्थ माना है और उसकी व्यास्था की है कि ''अनेकानुरातमेकं नित्यं सामान्यम् ।'' ''जो एक और नित्य है, और अनेक में अनुस्यूत होता है ।'' उदाहरण के लिए **'घटत्व'**। यह **'घटत्व'** सभी घटों में अनुस्यूत (पिरोया हुआ—समवेत) है। और सभी घटों के चले जाने पर वह 'घटत्व' तो रहेगा भी—उसका नाश नहीं होगा। वह नित्य है ।

वेदान्त इस 'जाति' नाम के पदार्थ को (सामान्य को) नहीं मानता। नैयायिक लोग इस 'जाति' को द्रव्य, गुण और कर्म में समवाद सम्बन्ध में संलग्न मानते हैं पर वेदान्ती की दृष्टि में वह घटत्व तो घट व्यक्ति के सभी गुणों का जोड़ मात्र ही है। और वही घट को दूसरी चीज़ों से अलग कर देता है। यह जोड़ कोई नित्य पदार्थ नहीं है ।

अब पुराने नैयायिकों के मतानुसार एकत्र दो धर्मों की मिश्रण—संकरता जाति के लिए अवरोधक है। वे नैयायिक यहाँ पर ऐसी शंका करते हैं कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश—ये पाँच महाभूत हैं। इनमें आकाश को छोड़कर पहले चार सावयव और क्रियावान् होने से **'मूर्त** हैं', पर पाँचवाँ आकाश निरवयव-निष्क्रिय विभु होने से 'अमूर्त' है न्याय में उन चारों 'मूर्त' महाभूतों के साथ मन को भी 'मूर्त' माना है। तदनुसार चार भूत और पाँचवा मन 'मूर्त' माने गए हैं। पर महाभूत तो आकाश सहित पाँच हैं और उन पाँचों में 'भूतत्व' धर्म रहता है। तो यहाँ 'भूतत्व' और 'मूर्तत्व' जाति नहीं बन सकती। क्योंकि मन में **'मूर्तत्व'** है, तो **'भूतत्व'** नहीं है और आकाश में 'भूतत्व' है तो मूर्तत्व नहीं है। मन में **भूतत्व** का और आकाश में **मूर्तत्व** का अत्यन्ताभाव ही है। अतः ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। पहले चार भूतों में मूर्तत्व भी है और भूतत्व भी है पर वह सांकर्य 'भूतत्व' और मूर्तत्व को जाति बनने नहीं देता। यहाँ प्रस्तुत में भी परोक्षत्व और अपरोक्षत्व एकत्र हो गए (जैसे पहले चार भूतों में मूर्तत्व और भूतत्व एकत्र हो गए) तो यहाँ ज्ञानत्व जाति नहीं बनती (जैसे वहाँ मूर्तत्व जाति नहीं बनती या भूतत्व जाति नहीं बनती ।)

वेदान्ती इस शंका का उत्तर देते हैं कि आपकी यह शंका योग्य और सराहनीय ही है। इसीलिए तो हम जाति को मानते ही नहीं। और केवल हम ही नहीं अन्य दार्शनिक भी जाति-उपाधि आदि को नहीं मानते। परोक्षत्व-अपरोक्षत्व—ये कोई जाति-फाती नहीं है ये सब कपोलकल्पित बातें हैं ।

'यह घड़ा है' 'यह घड़ा है', (घटोऽयम्) यह अनुगत प्रतीति सभी घटों में जो होती है, उसमें घटत्व नाम का एक असाधारण धर्म सभी घटों में भासित होता है, जो सिर्फ घट में ही रहता है, अन्यत्र नहीं। घटों का परस्पर भेद होते हुए भी घटत्वरूप

असाधारण धर्म में तो भेद नहीं है न? यह तो असाधारण धर्म है और वह कोई **'जाति'** नहीं है। असाधारण धर्म को 'जाति' कहने का—अलग पदार्थ मानने का कोई भी प्रमाण मिलता नहीं है ।

जातित्वरूपसाध्यासिद्धौ तत्साधकानुमानस्याप्यनवकाशात्। ब्रह्मभिन्ननिखिलप्रपञ्चस्यानित्यतया च नित्यत्व-समवायासिद्ध्या समवेतत्वघटितजातित्वस्य घटत्वादावसिद्धेश्च। एवमेवोपाधित्वमपि निरसनीयम्।

अनुवाद—घटत्व में जातित्व की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से न होने पर अनुमान से भी नहीं कर सकते क्योंकि जातित्वरूप साध्य की ही प्रसिद्धि नहीं है। साध्य की अप्रसिद्धि की दशा में जातित्व के साधक अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।

(आपने जो जाति का लक्षण किया है कि—"नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्वम् जातित्वम्" अर्थात्, "जो नित्य हो, और अनेक में **समवाय सम्बन्ध** से रहता हो तो उसे जाति कहते हैं ।"—जाति के इस लक्षण में **'समवाय सम्बन्ध'** और **'नित्यत्व'** ये दो पद आए हैं। तब जब समवाय की सिद्धि ही नहीं होती, और ब्रह्मभिन्न निखिल प्रपञ्च अनित्य ही है, तब भला ये **'नित्यत्व'** और **समवेतत्व'** पदों से घटित 'जातित्व' की सिद्धि 'घटत्व' में कैसे कर पाओगे? घटत्वादिकों के जातित्व मानने में जैसे कोई प्रमाण नहीं है, वैसे ही नील घटत्वादि के उपाधि मानने में भी कोई प्रमाण नहीं है अतः उपाधित्व का भी खण्डन यहाँ मान लेना चाहिए ।

विमर्श—'यह घड़ा' 'यह घड़ा'—यह प्रतीति घड़े के प्रत्यक्ष का प्रमाण है, न कि जाति का, घड़ा दीखता है, 'जाति' तो नहीं दीखती! इस तरह से जाति का प्रत्यक्ष तो नहीं है, पर अनुमान भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि नैयायिकों के कहे हुए नित्यत्व और अनेक समवेत्व रूप जाति (साध्य) जैसा कोई व्याप्तिज्ञान हमें नहीं मिलता क्योंकि आपका साध्य है, जातित्व और वह जातित्व, नित्यत्व और अनेक समवेतत्व है। वह तो कहीं प्रसिद्ध ही नहीं है। हमारे सिद्धान्त में तो ब्रह्म के सिवा कुछ भी नित्य नहीं है ।

ठीक है जाति के नित्यत्व का तो निरास हो गया। दूसरा शब्द नैयायिक के लक्षण में है 'समवेतत्व'। अर्थात् समवाय सम्बन्ध से जुड़ा हुआ। यह समवाय, नैयायिकों के मत में नित्यसम्बन्ध है। और वह एक है। यह समवाय नामक पदार्थ जाति-व्यक्ति गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, अवयव-अवयवी, नित्यद्रव्य आदि में नित्य सम्बन्ध के रूप में रहता है। इस नित्यसम्बन्ध को 'अयुतसिद्ध' कहा जाता है। पर नैयायिक का यह मानना हमारे लिए ठीक नहीं है। क्योंकि हम तो ब्रह्मातिरिक्त किसी वस्तु को नित्य मानते ही नहीं तो समवाय को क्यों मानें? ब्रह्मज्ञान के बाद सकलप्रपंच नष्ट हो जाता है जीव के अज्ञान से उत्पन्न रजत ज्ञान होते ही नष्ट हो जाता है। अतः जाति का नित्यस्व भी केवल कल्पना है ।

जाति के लक्षण में जिस 'समवेतत्त्व—समवाद होने की बात है उस पर जरा और विचार करें। समवाय का नैयायिक का किया हुआ लक्षण तो हम ऊपर देख चुके हैं। गुण और गुणी आदि को जोड़ने वाला यह समवाय उन दोनों सम्बन्धियों से भिन्न है कि अभिन्न? अगर भिन्न और स्वतंत्र है, तो वह अपने आश्रय में किसी सम्बन्ध से ही रहता होगा। और वह आश्रय भी किसी और आश्रय में..........इस तरह अनवस्था होगी। और यदि अभिन्न है, तो समवाय मामने की ज़रूरत ही क्या है? इसके सम्बन्ध में अनेक कुतर्क नैयायिकों ने किए हैं फिर भी समवाय का स्वीकार करना किसी बुद्धिमान को योग्य नहीं लगता। हमें "यह घट समवायेन पीला लगता है" ऐसी प्रतीति तो कभी किसी की देखी नहीं गई। प्रतीति तो यही होती है कि 'यह घट पीला है"। श्रुति में भी कहीं समवाय सम्बन्धी उल्लेख नहीं है।

उपाधि का हाल भी सामान्य (जाति) जैसा ही है। नैयायिक लोग "जातिभिन्न सामान्यधर्मवत्त्व को उपाधित्व मानते हैं पर जब जाति ही सिद्ध नहीं है, तो जाति भिन्नत्व फिर कैसे सिद्ध होगा? "मूलं नास्ति कुतः शाखाः?—" जब वृक्ष का मूल ही नहीं है, तब शाखाएँ कैसे होंगी? जब बाँस ही नहीं है, तो बांसुरी कैसे बजेगी ?

'पर्वतो वह्निमानि' त्यादौ च पर्वतांशे वह्न्यंशे चान्तःकरणवृत्ति-भेदाङ्गीकारेण तत्तद्वृत्त्यवच्छेदकभेदेन परोक्षोत्वापरौक्षत्वयोरेकत्र चैतन्ये वृत्तौ न विरोधः। तथा च तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्तमानविषया-वच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम् ।

ज्ञानगत प्रत्यक्ष का निष्कृष्ट लक्षण

अनुवाद—'पर्वतो बह्निमान्'—इस अनुमिति ज्ञान में पर्वत अंश में और वह्नि अंश में अन्तःकरण की वृत्ति का भेद माना गया है। इसलिए वृत्तिरूप अवच्छदेक-भेदक-व्यावर्तक—के भेद से एक ही चैतन्य रूप ज्ञान में परोक्षत्व और अपरोक्षत्व दो धर्म रहते हैं तो इसमें कोई विरोध नहीं है । तो ज्ञानगत प्रत्यक्ष का निष्कृष्ट लक्षण यह हुआ कि—"घट-पटादि-आकार वाली अन्तःकरण की वृत्ति से घिरे हुए (अवच्छिन्न) चैतन्य का, और चक्षुदादि इन्द्रियाँ से प्रत्यक्ष के योग्य वर्तमान विषयों से घिरे हुए (अवच्छिन्न) चैतन्य का अभेद ही घट-पटादि विषयांश में ज्ञानगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक माना गया है ।

विमर्श—"पूवोक्त रीति से 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति के ज्ञान में एक ही चैतन्य का परोक्षत्व और अपरोक्षत्व रूप विरुद्ध धर्म रूप मानना ठीक नहीं है,"—ऐसी शंका करने पर सिद्धान्ती कहता है कि आपकी शंका ठीक नहीं है क्योंकि कोई भी निर्णय प्रतीति के आधार पर लिया जाता है, प्रतीति कहीं पूर्वगृहीत निश्चय पर नहीं होती।

यहाँ 'पर्वतो वह्निमान्'—इत्यादि अनुमिति मे पर्वत के साथ नेत्र का सम्बन्ध होने के कारण पर्वताकार अन्तःकरणवृत्ति बाहर पर्वतदेश में है। ओर वह्न्याकारवृत्ति तो भीतर ही है, वह तो बाहर नहीं निकली। तो दोनों वृत्तियों का भेद है। और उन वृत्तियों का अवच्छेदक विषय—वृत्तियों को मर्यादित करने वाला वृत्तियों की हद बाँधने वाला विषय भी अलग-अलग ही है। इसलिए एक ही ज्ञान (प्रमा) रूप चैतन्य में अपरोक्षत्व और परोक्षत्व—दोनों धर्मों का रहना विरुद्ध नहीं है। अतः वह्नि अंश परोक्ष और पर्वत अंश अपरोक्ष हुआ है। इस तरह ज्ञानगत प्रत्यक्ष का निष्कृष्ट लक्षण यह होता है कि 'घट-पटाद्याकार अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न—घिरा हुआ चैतन्य अर्थात् प्रमाण चैतन्य, जब नेत्रादि इन्द्रियों के प्रत्यक्षयोग्य वर्तमान विषयावच्छिन्न विषयों से घिरे हुए चैतन्य का अभेद हो जाता है, तब घटपटादि विषयावच्छिन्न ज्ञान का घटपटांश में प्रत्यक्षत्व मानना चाहिए। अर्थात् प्रमाण चैतन्य का उस उस इन्द्रिय के योग्य और उसी काल में रहे हुए विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद हो कर घट-पट आदि विषय अंश में—विषय के ज्ञान के अंश में—प्रत्यक्षत्व का प्रयोजन माना जाता है ।

घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षत्वं तु प्रमात्रभिन्नत्वम्। ननु कथं घटादेरन्तःकरणविच्छिन्नचैतन्याभेदः? "अहमिमं पश्यामि' इति भेदानुभवविरोधादिति चेत्, उच्यते । प्रमात्रभेदो नाम न तदैक्यम्। किन्तु प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावः। तथा च घटादेः स्वावच्छिन्न चैतन्येऽध्यस्ततया विषयचैतन्यसत्तैव घटादिसत्ता। अधिष्ठान-सत्तातिरिक्ताया आरोपितसत्ताया अनङ्गीकारात्। विषयचैतन्यं च पूर्वोक्तप्रकारेण प्रमातृचैतन्यमेवेति प्रमातृचैतन्यस्यैव घटाद्यधिष्ठानतया प्रमातृसत्तैव घटादिसत्ता, नान्येति सिद्धं घटादेरपरोक्षत्वम् ।

विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक

अनुवाद—यहाँ तक ज्ञानागत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक बताया गया था। अब विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक बतलाया जाता है कि घट-पट-आदि विषयों का अन्तःकरणावच्छिन्न प्रमाता से (अन्तःकरण से घिरे हुए प्रमातृचैतन्य से) अभेद हो जाना विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है ।

यहाँ शंका की जाती है कि घट आदि विषय तथा अन्तःकरण से अवच्छिन्न प्रमाता चैतन्य का अभेद कैसे हो सकता है? क्योंकि "मैं घट को देखता हूँ"—इस अनुभव में तो घट (विषय) और प्रमाता (मैं) का स्पष्ट भेद दीख पड़ता है। इस भेद के अनुभव के साथ (आप के अभेद) का विरोध ही है ।

समाधान यह है कि, प्रमाता के साथ विषय का अभेद होने का अर्थ दोनों का ऐक्य है नहीं है, किन्तु अन्तःकरण से घिरे हुए प्रमातृ चैतन्य की सत्ता से पृथक् ऐसी

subject consciousness

घट आदि विषय की अन्य किसी सत्ता का अभाव ही यहाँ 'दोनों के अभेद' रूप से कहा गया है। अतः घटादि विषयावच्छिन्न चैतन्य में घटादि विषय कल्पित हैं। इसलिए विषय चैतन्य की ही सत्ता घटादि की सत्ता है। अधिष्ठान वस्तु की सत्ता से भिन्न कल्पित वस्तु की सत्ता नहीं मानी गई है। पहले कहे गए अनुसार, विषय चैतन्य प्रमातृ चैतन्य ही तो है। इसलिए प्रमातृ चैतन्य की सत्ता ही घट की सत्ता माननी पड़ेगी। इस प्रकार घटादि विषयों का अपरोक्षत्व सिद्ध हो जाता है ।

विमर्श—अब तक ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक बनाया गया। ज्ञानगत प्रत्यक्ष का स्वरूप है, **''अयं घटः''** और **'इदं घटज्ञानम्'**। अब विषयगत प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक की बात शुरू की जाती है। पहले किए गय दो विकल्पों में से प्रथम विकल्प की बात पूरी करके अब दूसरे विकल्प का उत्तर दिया जाता है कि—''प्रमाता से घटादि विषय का अभिन्नत्व ही विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है,'' न कि नैयायिकों का इन्द्रियजन्यज्ञान विषयत्व ।

पर यहाँ शंका होती है कि प्रमाता और विषय का अभेद कैसे होगा? जड़ घड़े का तो चैतन्य प्रमाता के साथ अभेद हो ही नहीं सकता। और अगर हो तो भी उसकी प्रतीति ''मैं घड़ा हूँ''—ऐसी विचित्र ही होगी। यह तो अनुभवविरुद्ध है। हमारा अनुभव तो, ''मैं घड़े को देखता हूँ (या जानता हूँ)''—ऐसी होती है। इस अनुभव में तो 'मैं (प्रमाता) का' घट (विषय)''—से स्पष्ट भेद ही दीखता है, तो आपका अभेद होगा कैसे?

सिद्धान्ती समाधान करता है कि यहाँ 'अभेद' का अर्थ ध्यान देने योग्य है। अन्तःकरण से घिरे हुए—अन्तःकरण में स्थित चैतन्य की जो सत्ता है, इस सत्ता से अलग कोई सत्ता घटादि विषय में न होनी चाहिए—इसी को हम दोनों का अभेद कहते हैं। तात्पर्य यह है कि वेदान्तानुसार ब्रह्म से अतिरिक्त सम्पूर्ण विश्व कल्पित-मिथ्या है, अत घटादि सभी विषय भी अपने में स्थित (रहे हुए) चैतन्य में कल्पित ही हैं। अधिष्ठान में कल्पित की कोई सत्ता नहीं है, अधिष्ठान की ही सत्ता होती है। सींथ में रजत की या रज्जु में साँप की कोई सत्ता नहीं होती।

नेत्र द्वारा अन्तःकरणवृत्ति घटदेश में जाकर घटाकार बन जाती है, तब घटावच्छिन्न चैतन्य और प्रमाण चैतन्य का अभेद हो जाता है। अर्थात् प्रमातृ चैतन्य और घटादिचैतन्य के विभाजक (अवच्छेदक) घट और अन्तःकरण अभेद के अवरोधक नहीं रह जाते। भिन्न देशस्थ ही ये दोनों अवच्छेदक भेद कर रहे थे। और ये अवच्छेदक तो कल्पित ही हैं। इसलिए जैसे घटावच्छिन्न चैतन्य में घट कल्पित है, ठीक उसी तरह अन्तःकरणवच्छिन्न चैतन्य में अन्तःकरण भी कल्पित ही है, उन दोनों की अपनी तो कोई सत्ता ही नहीं है। सो अकेले दोनों प्रमाता के अधिष्ठान की ही सत्ता है, और वह अधिष्ठान तो एक ही चैतन्य है। अतः दोनों के अभेद होने में कोई आपत्ति नहीं है ।

अनुमित्यादिस्थले अन्तःकरणस्य वह्न्यादिदेशनिर्गमनाभावे वह्न्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्यानात्मकतया वह्न्यादिसत्ता प्रमातृसत्तातो भिन्नेति नातिव्याप्तिः ।

अनुवाद—परन्तु अनुमिति आदि स्थल में अन्तःकरण, वह्न्यादिदेश में नहीं आता। अत वह्न्यवच्छिन्न चैतन्य प्रमातृचैतन्य से अभिन्न नहीं हो सका। इसलिए प्रमाता की सत्ता से वह्न्यादि की सत्ता अलग ही रह जाती है। अतः अनुमिति ज्ञान में प्रत्यक्ष के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती ।

विमर्श—'पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि अनुमिति स्थल में भी चैतन्य से भिन्न वह्नि विषय की सत्ता नहीं है। क्योंकि वह्न्यादि विषय भी अपने में रहे हुए चैतन्य में कल्पित हैं ही। अतः अधिष्ठान की सत्ता ही कल्पित की सत्ता मानी गई है। फिर भी इस स्थल में अन्तःकरण अन्दर है, और वह्नि आदि विषय बाहर हैं। अन्तःकरण विषयदेश में नहीं है । इसलिए वह्न्नवच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का अभेद सिद्ध न हो पाया। दोनों एकदेशस्थ हो जाते तो कल्पित होता हुआ वह्न्यवच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ चैतन्य में कल्पित माना जाता। यहाँ एकदेशस्थता न होने से दोनों की सत्ता भिन्न रह गई। इसलिए अनुमित्यादि स्थल में प्रत्यक्षत्वापत्ति नहीं हुई। [बात ऐसी कही गई है कि **प्रमाता की सत्ता** ही प्रत्यक्ष स्थल में विषय की सत्ता मानी गई है। ऐसा तो नहीं कहा कि **चैतन्य की सत्ता** ही विषय की सत्ता है। ऐसा अगर कहते तभी अनुमित्यादि स्थल में अतिव्याप्ति होती।] यह ख्याल रखना चाहिए ।

नन्वेवमपि धर्माधर्मादिगोचरानुमित्यादिस्थले धर्माधर्मयो प्रत्यक्षत्वापत्तिः । धर्माद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्याभिन्नतया धर्मादिसत्तायाः प्रमातृसत्तानतिरेकादिति चेत्, । योग्यत्वस्यापि विषयविशेषणत्वात् ।

अनुवाद—शंका : यद्यपि धर्म-अधर्म आदि विषयों का जहाँ अनुमितिज्ञान होता है, वहाँ धर्माधर्म आदि में प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति हो ही जाएगी। क्योंकि धर्मादि (विषय) से अवच्छिन्न चैतन्य, प्रमातृचैतन्य से वहाँ अभिन्न है। अतः प्रमाता की सत्ता से अभिन्न सत्ता वाला धर्मादि (विषय) हो ही गया है ।

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं। इस शंका के निवारणार्थ विषय में 'योग्यता' का विशेषण जोड़ देना चाहिए। धर्मादि (विषय) में प्रत्यक्ष की योग्यता ही नहीं है। अतः उसकी अनुमिति में धर्मादि में प्रत्यक्षत्व की आपत्ति नहीं होगी ।

विमर्श—वह्नि आदि के अनुमिति स्थल में अतिव्याप्ति का निवारण आपने किया वह तो ठीक है, फिर भी अपने सुख को पाकर, **'अहं धर्मी'** या अपने दुःख को पाकर **'अहम् अधर्मी'** ऐसे धर्माधर्म की अनुमिति जहाँ होती है, वहाँ तो धर्म और अधर्म में प्रत्यक्ष के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी ही। क्योंकि इस अनुमितिज्ञान का विषय

(धर्मादि) और अन्तःकरण भी भीतर के देश में हैं। अतः धर्मादिविषय से अवच्छिन्न चैतन्य तथा प्रमाण चैतन्य दोनों का अभेद हो गया है। इस स्थिति में धर्मादि विषयसत्ता और प्रमातृसत्ता एक हो गई फिर भी वहाँ प्रत्यक्ष नहीं होता इसका कारण यह है कि धर्माधर्मादि में प्रत्यक्षत्व की योग्यता ही नहीं है। हमें विषय प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक लक्षण में 'विषय में योग्यता' का एक और विशेषण जोड़ देना चाहिए। अर्थात् प्रत्यक्ष के योग्य विषय का प्रमाता के साथ अभेद होना ही उस विषय के प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है। तब इस योग्यत्वघटित प्रत्यक्षत्व लक्षण की धर्मादि विषयक अनुमिति में कथमपि अतिव्याप्ति नहीं हो सकती ।

नन्वेवं "रूपी घटः" इति प्रत्यक्षस्थले घटगतपरिमाणादौ प्रत्यक्षत्वापत्तिः। रूपावच्छिन्नचैतन्यस्य परिमाणाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य चैकतया रूपावच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्याभेदे परिमाणाद्यवच्छिन्न-चैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नतया परिमाणादिसत्तायाः प्रमातृसत्तातिरिक्तत्वा-भावादिति चेत्, न। तत्तदाकारवृत्त्युपहितत्वस्यापि प्रमातृविशेषणत्वात्। रूपाकारवृत्तिदशायां परिमाणाद्याकारवृत्त्यभावेन परिमाणाद्याकार-वृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्वाभावेनातिव्याप्त्यभावात् ।

अनुवाद—शंका का होती है कि आपका कहना तो ठीक है, परन्तु, 'रूपी घटः' इस प्रत्यक्षस्थल में घटगत परिमाण आदि का भी प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए। क्योंकि रूपादि से अवच्छिन्न (घिरे हुए) चैतन्य और परिमाण द्यवच्छिन्न चैतन्य तो एक हैं और इसलिए रूपावच्छिन्न चैतन्य जैसे प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न है, वैसे ही परिमाणावच्छिन्न चैतन्य भी प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न ही है। अतः परिमाणादि की सत्ता प्रमाता की सत्ता से अभिन्न हो ही गई। तो विषय के प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति हुई ।

इसका समाधान यह है कि, हाँ, इस स्थल में अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए प्रमाता में "तत्तद्विषयाकारवृत्ति-उपहितत्व"—ऐसा विशेषण देना जरूरी है। मतलब कि उस उस विषय के आकार वाली वृत्ति से वह प्रमाता उपहित होना चाहिए। अतः रूपाकारवृत्ति दशा में प्रमाता में परिणामाद्याकार वृत्ति न होने से, परिणामाद्याकर वृत्ति अपहित प्रमातृ चैतन्य से परिमाणादि की अभिन्न सत्ता तो नहीं हुई। अतः अतिव्याप्ति न हुई ।

विमर्श—"रूप घटः" इस प्रत्यक्ष में घट, घटरूप और उन दोनों के सम्बन्ध का तो प्रत्यक्ष होता है, यह आपके बताए अनुसार ठीक भी है, क्योंकि घटस्थ रूप और तदाकार अन्तःकरणवृत्ति एकस्थ हो जाने से रूपावच्छिन्न चैतन्य और प्रमातृ चैतन्य का अभेद होने से प्रमाता की सत्ता से रूप की सत्ता भिन्न नहीं प्रतीत होगी। इसलिए रूप का प्रत्यक्ष हो जाता है। पर घड़ें में तो रूप की ही तरह परिणामादि भी हैं तो उनका प्रत्यक्ष क्यों नही होता? ऐसी शंका है ।

शंका का उत्तर है कि रूपी घट में रूपाकार वृत्ति है पर परिणामात्मक वृत्ति कहाँ है? अगर ''स्थूलो घटः'' ऐसा प्रत्यक्ष होता, तो उसमें स्थूल परिमाणादि वृत्ति होती। यहाँ तो ऐसा नहीं है। तात्पर्य यह है कि जिस समय जिस प्रकार की अन्तःकरण की वृत्ति होती है, उस समय उस अन्तःकरण की तदाकार वृत्ति से चैतन्य उपहित—आवृत्त है, ऐसा माना जाता है। अर्थात् प्रमाता चैतन्य तत्कालीन तद्विषयक वृत्ति से उपहित हो जाता है। यहाँ प्रमाता चैतन्य रूपाकारान्तःकरण वृत्ति से उपहित है, परिमाणाद्याकारवृत्ति ही नहीं हुई, तो परिमाणाकार वृत्ति से उपहित होने का और इससे परिमाण का प्रश्न उठने का कोई प्रश्न नहीं उपस्थित होता ।

नन्वेवं वृत्तावव्याप्तिः। अनवस्थाभिया वृत्तिगोचरवृत्त्यनङ्गीकारेण तत्र स्वाकारवृत्त्युपहितत्वघटितोक्तलक्षणाभवादिति चेन्न, अनवस्थाभिया वृत्तेर्वृत्त्यन्तराविषयत्वेऽपि स्वविषयत्वाभ्युपगमेन स्वविषयवृत्त्युपहित प्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्वस्य तत्रापि भावात्। एवं चान्तकरण-तद्धर्मादीनां केवलसाक्षिविषयन्वेऽपि तत्तदाकारवृत्त्यभ्युपगमेन उक्तलक्षणस्य तत्रापि सत्त्वान्नाव्याप्ति ।

अनुवाद—यहाँ ऐसी शंका होती है कि (ऊपर जैसा कहा है उस प्रकार 'रूपी घट' में रूप का ही प्रत्यक्ष हुआ है। परिमाणादि वृत्ति के अभाव में परिमाण का प्रत्यक्ष नहीं हुआ, ठीक है। प्रमाता में ''तत्तद्विषयाकारवृत्ति से उपहितत्व''—इतना विशेषण जोड़ देने पर भी) वृत्ति के प्रत्यक्ष में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी । क्योंकि अनवस्था दोषके भय से जैसे आप एक वृत्ति को विषय करने वाली किसी अन्य वृत्ति को तो मान नहीं सकते। अर्थात् जैसे आप घटाकारा वृत्ति मानते हैं, वैसे वृत्त्याकारा वृत्ति मान नहीं सकते हैं—ऐसा करने से अनवस्था होती है ।) ऐसा होने पर वृत्ति के प्रत्यक्ष में आपका पूर्वोक्त लक्षण न जाने से अव्याप्ति होगी—आपका लक्षण छोटा पड़ जायगा। क्योंकि वृत्ति को प्रत्यक्ष करने वाली दूसरी वृत्ति तो है नहीं ।

(इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि—) नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता । क्योंकि ठीक है, विषय के प्रत्यक्ष के लिए विषयाकार वृत्ति होती है, वैसे वृत्ति के प्रत्यक्ष के लिए वृत्त्याकारवृत्ति तो अनवस्था के डर से नहीं मानी जा सकती। पर वृत्ति के प्रत्यक्ष के लिए दूसरी वृत्ति की आवश्यकता ही नहीं। उसी—विषयाकार वृत्ति से उसका-स्वयं वृत्ति का प्रत्यक्ष हो जाता है, ऐसा हमारा सिद्धान्त है। अतः स्व-विषय-वृत्ति-उपहित-प्रमातृ चैतन्य के साथ अभिन्न हो जाने से चैतन्य की सत्ता से अभिन्न सत्ता, वृत्ति की हो ही जाती है। इस प्रकार अन्तःकरण और अन्तःकरण को सुख-दुःखादि धर्म केवल साक्षी के विषय माने जाने पर भी तत्तदाकार वृत्ति भी सिद्धान्त में मानी जाती है। अतः विषयगत प्रत्यक्षत्व के लक्षण में, वृत्ति का प्रत्यक्ष समीचीन रूप से लागू हो जाता है इसलिए अव्याप्ति नहीं है ।

विमर्श—पूर्वपक्षी कहता है कि—आपने 'रूपी घटः' के प्रत्यक्ष स्थल में परिमाणादि में आने वाली अतिव्याप्ति का निरसन किया, पर किसी वृत्ति के प्रत्यक्ष करने में तब अव्याप्ति हो जाएगी। क्योंकि जैसे विषय प्रत्यक्ष करने के लिए विषयाकारवृत्ति होती है वैसे ही वृत्ति के प्रत्यक्ष के लिए वृत्त्याकार वृत्ति की आवश्यकता है ही । और जैसे विषय से विषयाकार वृत्ति भिन्न है वैसे ही उस वृत्ति से वृत्याकार वृत्ति भी भिन्न ही होनी चाहिए। फिर उस वृत्त्याकार वृत्ति में जो वृत्ति है, उसके प्रत्यक्ष के लिए आपको तीसरी वृत्ति माननी पड़ेगी । तब तो फिर चौथी, पाँचवीं की—ऐसे तो अनवस्था हो जाएगी ।

सिद्धान्ती समाधान करते हैं कि, ठीक तो है, इसीलिए हम सिद्धान्त में वृत्ति को विषय करने वाली दूसरी वृत्ति को मानते ही नहीं। मानेंगे तभी अनवस्था होगी न? हमारे मत में "घटमहं जानामि"—इस प्रत्यक्ष स्थल में वृत्ति का प्रत्यक्ष स्वयं उस वृत्ति से ही होता है। अर्थात् वहाँ वृत्ति के प्रत्यक्षत्व को स्वविषयत्व ही है। इसलिए वहाँ अव्याप्ति की शंका करना उचित नहीं है ।

अगर कोई कहे कि अन्तःकरण, उसके परिणामरूप वृत्ति तथा उसके सुखदुःखादि का धर्म तो केवल 'साक्षीवेद्य' ही हैं, अर्थात् ये सब साक्षी के ही विषय हैं, वृत्ति के विषय हैं ही नहीं तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि हम वृत्ति को उस उस विषय के आकार वाली मानते ही हैं और इस लक्षण की वृत्ति प्रत्यक्ष में भी अव्याप्ति नहीं है।

न चान्तःकरणतद्धर्मादीनां वृत्तिविषयत्वाभ्युपगमे केवलसाक्षि-विषयत्वाभ्युपगमविरोधः इति वाच्यम् । न हि वृत्तिं विना साक्षिविषयत्वं केवलसाक्षिवेद्यत्वम् । किन्त्विन्द्रियानुमानादिप्रमाणव्यापारमन्तरेण साक्षिविषयत्वम् । अत एवाहंकारटीकायामाचार्यैरहमाकारवृत्ति-रङ्गीकृता । तथा चान्तःकरण-तद्धर्मादिषु केवलसाक्षिवेद्येषु वृत्त्युपहितत्वघटित-लक्षणस्य सत्त्वान्नाव्याप्तिः ।

अनुवाद—यहाँ आपको (पूर्वपक्षी को) ऐसा नहीं कहना चाहिए कि—"अन्तःकरण और उसके धर्मों को वृत्ति का विषय जब आप मानेंगे, तब तो आपके "केवलसाक्षिवेद्यत्व" के सिद्धान्त का विरोध स्पष्ट हो गया !" क्योंकि हम केवल साक्षित्व का अर्थ" वृत्ति के बिना साक्षिविषयत्व'—ऐसा नहीं करते। परन्तु इन्दियाँ और अनुमानादि प्रमागों के व्यापार के बिना ही जो साक्षी का विषय हो उसे 'केवलसाक्षिवेद्य' कहते हैं। इसलिए ही अहंकार की टीका में पद्मपादाचार्य ने अहमाकार अन्तःकरण की वृत्ति मानी है। और इसलिए प्रातिभासिक रजताकार अविद्या की वृत्ति साम्प्रदायिकों ने मानी है। अतः अन्तःकरण और उसके धर्म सुखदुःखादि केवलसाक्षिवेद्य विषय में भी 'वृत्ति-उपहितत्व' से घटित लक्षण विद्यमान होने से किसी प्रकार अव्याप्ति नहीं हो सकती ।

विमर्श—अन्तःकरण और उसके धर्म—इन सब को वृत्ति के विषय मान लेने पर आपका 'साक्षिवेद्यत्व" का सिद्धान्त नष्ट हो गया। यह तो अपने पाँव पर खुद ने

कुल्हाड़ी मार दी। ऐसा पूर्व पक्ष का आक्षेप सुनकर सिद्धान्ती कहता है कि केवलसाक्षिवेद्यत्व''—इस शब्द में जो 'केवल' पद है, वह वृत्तिविषयत्व को हटाने के लिए नहीं है, अर्थात् वह वृत्ति को दूर नहीं करता। वह तो इन्द्रियों, प्रमाण और उनके व्यापारों को ही दूर करता है [अर्थात् हमारे केवलसाक्षित्व का अर्थ यह है कि जिसमें इन्द्रियों का व्यापार एवं अनुमानादि प्रमाणों का व्यापार काम नहीं करता। यही है हमारा ''केवलसाक्षिवेद्यत्व''] [अन्तःकरण, उसके कामादि परिणाम या धर्मों को न तो हम स्वयं अपनी आँखों से देख पाते हैं, या दूसरे भी कोई देख सकते हैं। यह ठीक है, पर फिर भी वहाँ अन्तःकरणवृत्ति तो रहती ही है, ऐसा हम मानते हैं] [वृत्ति के बिना तो साक्षी कभी कुछ अनुभव नहीं कर सकता—कुछ भी जान नहीं सकता] ऐसा न मानें तो एकजीववाद के मत में एक का जीवसाक्षी अन्य के सुखदुःखादि और अन्तःकरणादि को पहचान लेता। इसीलिए तो पद्मपादाचार्य ने अपनी पंचपादिका नामक ब्रह्मसूत्र की शांकरभाष्य की टीका के आरंभ के (अर्थातो ब्रह्मजिज्ञासा' के सूत्र की भाष्यटीका में) अहंकार का विचार करते हुए अहमाकारा वृत्ति को माना है। सभी साम्प्रदायिकों ने इसका स्वीकार किया है। अध्यास में अन्तःकरण वृत्ति न मानने वाले सर्वज्ञात्म मुनि भी अविद्यावृत्ति को तो मानते ही हैं ।

विषयप्रत्यक्ष का निष्कृष्ट लक्षण

तदयं निर्गलितोऽर्थः। स्वाकारवृत्त्युपहितप्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ता-कत्वशून्यत्वे सति योग्यत्वं विषयस्य प्रत्यक्षम्। तत्र संयोगसंयुक्त-तादात्म्यादीनां सन्निकर्षाणां चैतन्याभिव्यंजकवृत्तिजनने विनियोगः ।

अनुवाद—पूर्वोक्त विषयगत प्रत्यक्ष का निष्कृष्ट लक्षण इस प्रकार होता है कि—''घटादि विषयाकार वृत्ति से उपहित प्रमातृ चैतन्य की सत्ता से भिन्न सत्ता न हो, और योग्यत्व हो तो विषय का प्रत्यक्ष हो जाता है। और वहाँ पर संयोग, संयुक्त, तादात्म्य आदि सम्बन्धों का चैतन्य की अभिव्यंजक वृत्ति को उत्पन्न करने में विनियोग है, ऐसा मानना चाहिए ।

विमर्श—अब तक विषयगत प्रत्यक्ष का सम्पूर्ण दोषरहित लक्षण बनाने के लिए क्रमशः—विषय में विशेषण देते देते हमने ठीक विकास किया। अब उसका परिमार्जित पूर्ण लक्षण देते हैं कि, जो विषय प्रत्यक्ष योग्य हो उसके आकार वाली जब अन्तःकरणवृत्ति बनती है, तब उस वृत्ति से उपहित चैतन्य के साथ, उस प्रत्यक्षयोग्य विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद हो जाता है। उस समय, उस विषय के आकार वाली अन्तःकरणवृत्ति से उपहित प्रमातृ चैतन्य की सत्ता का अभेद हो जाता है। अन्तःकरण की वृत्ति प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न होने पर प्रमाता की ही सत्ता बाकी रहती है प्रमाता की सत्ता के सिवा कोई सत्ता बाकी नहीं रहती—अर्थात् प्रमातृसत्तारूप **अधिष्ठान में कल्पित विषसत्ता होने से कल्पित की सत्ता, अधिष्ठान की सत्ता से अतिरिक्त नहीं होती ।**

ब्रह्मचैतन्य शाश्वत होने पर भी इन्द्रियसंयोग, संयुक्ततादात्म्य, आदि सन्निकर्षों की आवश्यकता केवल उसकी अभिव्यक्ति के लिए ही है, ऐसा समझना चाहिए [अभिव्यक्ति के लिए वृत्ति और वृत्ति के लिए सन्निकर्षादि की आवश्यकता है ।]

सा च वृत्तिश्चतुर्विधा। संशयो, निश्चयो गर्वः स्मरणमिति । एवंविधवृत्तिभेदेन एकमप्यन्तःकरणं मन इति बुद्धिरिति अहङ्कार इति चित्तमिति व्याख्यायते। तदुक्तम्–

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम् ।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे ॥

अनुवाद—पूर्वोक्त रीति से सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाली वृत्ति चार प्रकार की होती है : (1) संशय, (2) निश्चय, (3) गर्व और (4) स्मरण। अन्तःकरण तो एक ही है, फिर संशय आदि वृत्ति के भेद से उसके चार नाम पड़ गए हैं—(1) मन, (2) बुद्धि, (3) अहङ्कार और (4) चित्त। इसी को पूर्वाचार्यों ने बताया है कि—

मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त रूप से अन्तःकरण चार प्रकार का है और संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण—ये (क्रमशः) उनके विषय हैं ।

विमर्श—ऊपर कही गई चार वृत्तियों की समझ इस प्रकार है। जैसे—

(1) **संकल्प-विकल्प रूप** संशयाकार—स्थाणुर्वा पुरुषो वेति—यह खम्भा है या पुरुष ।

(2) **निश्चयाकार**—इदमित्थम्—यह ऐसा ही है ।

(3) **गर्वाकार**—अयमहम्—यह मैं हूँ ।

(4) **स्मरणाकार**—अयं घटः—यह (वही) घट है ।

प्रत्यक्ष के भेद

तच्च प्रत्यक्षं द्विविधम्। सविकल्पनिर्विकल्पभेदात्। तत्र सविकल्पं वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानम्। यथा घटमहं जानामीतिज्ञानम्। निर्विकल्पं तु संसर्गानवगाहि ज्ञानम्। यथा सोऽयं देवदत्तः तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यज्ञानम् ॥

अनुवाद—यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। एक है अविकल्पक और दूसरा है निर्विकल्पक। इन दोनों में विशेषण, विशेष्य और उन दोनों का सम्बन्ध बताने वाला ज्ञान सविकल्पक कहलाता है। जैसे—'घटमहं जानामि'—'मैं घड़े को जानता हूँ।' और जो ज्ञान विशेषण-विशेष्य और उनका सम्बन्ध न बताता हो वह निर्विकल्पक कहा जाता है । जैसे—''यह वह देवदत्त है' या 'तू वह है'—ऐसे वाक्यों से उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है ।

विमर्श—[विकल्प का अर्थ सम्बन्ध है] और सम्बन्ध बताने वाला ज्ञान—

सम्बन्ध-दर्शक ज्ञान सविकल्पक कहलाता है। इस सविकल्पक ज्ञान में पहले विशेषण और विशेष्य का ग्रहण किया जाता है। और बाद में उन विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध का ग्रहण होता है। उदाहरणार्थ 'घट' इस ज्ञान में घट, घटत्व और उन दोनों का समवायसम्बन्ध—इन तीनों को ग्रहण करने वाला ज्ञान सविकल्पक है। वह सविकपक ज्ञान है। वैसे ही 'घटमहं जानामि' यह भी सविकल्पक ज्ञान है, क्योंकि इस ज्ञान में भी घटरूप विशेषण से विशिष्ट ज्ञान है, अर्थात् वह ज्ञान, विशिष्ट है। अहंपद से जोड़े जाने पर वह ज्ञान अहंपदवाच्य विशेष्य का विशेषण हो जाता है।

निर्विकल्पक ज्ञान सविकल्प से भिन्न होता है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष में विकल्प यानी सम्बन्ध नहीं होता। संसर्ग—वैशिष्ट्य—विकल्परहित ज्ञान को निर्विकल्पक कहा जाता है। ''सोऽयं देवदत्तः'' 'वह यह देवदत्त हैं' यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का उदाहरण है। **यह ज्ञान प्रत्यक्ष और दृष्ट दोनों से हो सकता है**। पहले किसी और गाँव में देखा था उसी को मैंने दूसरे गाँव में देखा। उस दूसरे गाँव में देवदत्त से आँख मिलते ही पूर्वदृष्ट देशकालविशिष्ट देवदत्त का स्मरण यद्यपि वर्तमान देवदत्त के विशेषण नहीं हो सकते पर वह इस प्रत्यक्ष देवदत्त में उपलक्षण तो है ही। वह पूर्वदेशकाल वर्तमान में न होते हुए भी वह उपलक्षण तो है ही। वर्तमानकाल और दूसरा गाँव—ये दोनों देवदत्त के विशेषण हैं, दोनों का भान देवदत्त व्यक्ति में हो ही रहा है। अर्थात् देवदत्त जब प्रत्यक्ष है, तब तो 'सोऽयं देवदत्तः' यह ज्ञान सविकल्पक ही है, पर वह ज्ञान जब **''वाक्यजन्य''** होता है, तब वह ज्ञान निर्विकल्पक हो जाता है ।

ऐसे वाक्यजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान में संसर्गादि नहीं, तात्पर्य ही विषय होता है यही इन्द्रिय-जन्य, सोऽयं देवदत्तः और शब्दजन्य सोऽयंदेवदत्तः—इन दो प्रत्यक्षों में फ़र्क है प्रत्यक्ष तो दोनों हैं पर इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष सविकल्पक है और शब्दजन्य प्रत्यक्ष निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है ।

यह ठीक है कि वाक्यजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान भी संसर्गजन्य तात्पर्य के होने पर वह भी सविकल्पक हो तो सकता है, पर यहाँ प्रस्तुत उदाहरण में वक्ता का संसर्ग बताने में तात्पर्य नहीं है। अत यहाँ पर वह वाक्यजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान विंकल्पक कहा जायगा। यहाँ 'देवदत्तपिण्ड' मात्र बताने के ही तात्पर्य से कहा गया 'सोऽयं देवदत्तः' अपने 'सः' तथा 'अयम् ' द्वारा उपलक्षित भूतकाल और वर्तमान काल से संसर्ग नहीं रखता। यहाँ संसर्ग रहित-विकल्परहित देवदत्त ही ज्ञान का विषय है ।

वैसे ही ''तात्त्वमसि'' आदि महावाक्यजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान भी निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही है। क्योंकि वहाँ पर भी 'तत्' पद का अर्थ भले ही सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट ईश्वर हो, और 'त्वं'-पद का अर्थ भले हे अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट जीव हो फिर भी उन अर्थों का विकल्प—संसर्ग लिए बिना श्रुति का तात्पर्य मात्र तत् और त्वम् पदों की एकता बताने में ही है। तत् और त्वम् शब्दों के ऐसे परस्परविरोधी विशेषणगत अर्थों का भागत्याग लक्षणा से दूर रखकर विशेष्यरूप चैतन्य को एक बताना तात्पर्य है ।

अतः 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का एक चैतन्य में अभेद् बताने पर उनका निर्विकल्पक वाक्यजन्य प्रत्यक्षत्व सिद्ध हुआ ।

शब्द से भी प्रत्यक्षज्ञान

ननु शाब्दमिदं ज्ञानं न प्रत्यक्षमिन्द्रियाजन्यत्वादिति चेत्, न। न हि इन्द्रियजन्यत्वं प्रत्यक्षत्वे तन्त्रम्, दूषितत्वात्। किन्तु योग्यवर्तमानविषये-सति प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्यभिन्नत्वमित्युक्तम् ।

अनुवाद—शंका है कि "सोऽयं देवदत्तः" इत्यादि वाक्य से उत्पन्न ज्ञान तो शाब्द ज्ञान है, प्रत्यक्षज्ञान नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष तो इन्द्रियजन्य ज्ञान को कहते हैं। (सोऽयं देवदत्तः—यह तो किसी इन्द्रिय से जन्य ज्ञान नहीं है तो फिर आप इस शाब्दज्ञान को निर्विकल्प प्रत्यक्ष क्यों कहते हैं ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं [क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है ऐसा कहना योग्य नहीं है] (अर्थात् ज्ञान के प्रत्यक्ष होने में इन्द्रियजन्यत्व प्रयोजक है, ऐसा मानना योग्य नहीं है) क्योंकि इसका खण्डन तो हम पहले कर आए हैं। अतः ज्ञान के प्रत्यक्ष होने के प्रयोजक तो योग्य, वर्तमान विषयावच्छिन्न चैतन्य का प्रमाणचैतन्य के साथ अभिन्नता ही प्रयोजक है ।

विमर्श—शंका की जाती है कि 'सोऽयं देवदत्तः', 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यरूप ज्ञान का उदाहरण आपने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय में दिया, यह तो ठीक नहीं लगता। क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष ज्ञान का उदाहरण नहीं, यह तो शाब्दज्ञान का उदाहरण है ।

इसका उत्तर यह है—ठीक है, पर ऐसा कोई नियम नहीं है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष हो सकता है, और शाब्दज्ञान प्रत्यक्ष होता ही नहीं। हम तो प्रत्यक्षज्ञान के प्रयोजक के रूप में "प्रमाणचैतन्य का (वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का), योग्य विषयावच्छिन्न चैतन्य के साथ अभेद" को ही मानते हैं वह तो हमने पहले ही बता दिया है। [जहाँ वस्तु सन्निहित होती है, वहाँ वाक्य से भी प्रत्यक्षज्ञान हो जाता है 'दशमस्त्वमसि' में हम ऐसा ही तो अनुभव करते हैं] वस्तु अगर देशकालादि से व्यवहित—दूर—ढँकी हुई हो, तब तो केवल परोक्ष ज्ञान ही हो सकता है, तब अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता वह तो हमें मान्य है ।

तथा च 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्यजन्यज्ञानस्य सन्निकृष्ट-विषयतया बहिर्निःसृतान्तःकरणवृत्त्यभ्युपगमेन देवदत्तावच्छिन्न-वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्ययोभेदेन 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम् । एवं 'तत्त्वमसि' इत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्यापि। तत्र प्रमातुरेव विषयतया तदुभयोरभेदस्य सत्त्वात् ।

अनुवाद—इसलिए 'सोऽयं देवदत्तः (वह यह देवदत्त है) यह वाक्यजन्य ज्ञान भी सन्निकृष्ट-अव्यवहित-वस्तु को ही विषय कर रहा है। इसलिए अन्तःकरण की वृत्ति का बाहर निकलना यहाँ माना गया है। और वृत्ति का बाहर निर्गमन जब स्वीकार कर लिया गया, तब देवदत्त से अवच्छिन्न चैतन्य और देवदत्ताकार वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होने से, 'सोऽयं देवदत्तः' यह वाक्यजन्य ज्ञान तथा 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्यज्ञान भी प्रत्यक्ष ही हैं। क्योंकि इस ज्ञान में प्रमाता का ही विषय होने से दोनों का अभेद है ही। अतःकोई दोष नहीं है ।

विमर्श—'सोऽयं देवदत्तः' इस स्थल में 'देवदत्त' तो वर्तमान और सन्निहित है ही। इसलिए सन्निहित देवदत्त व्यक्ति का इस वाक्य से प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है। क्योंकि बाहर स्थित देवदत्त के पास अन्तःकरण की वृत्ति जाती ही है और शाब्द अपरोक्ष होता है। विषयावच्छिन्न चैतन्य (अर्थात् देवदत्तावच्छिन्न चैतन्य) और देवदत्ताकारवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य—इन दोनों का अभेद हो गया। तब तो फिर इस वाक्यजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने में क्या तकलीफ हो सकती है?

जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' यह एक लौकिक उदाहरण है, वैसे ही 'तत्त्वमसि'—यह महावाक्यजन्य ज्ञान वैदिक निर्विकल्प प्रत्यक्षज्ञान का उदाहरण है। वहाँ तत्पदवाच्य सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य है और त्वंपदवाच्य अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य है। यहाँ पर विशिष्ट चैतन्यों का तो परस्परविरोधा होने से अभेद नहीं हो सकता। तो अभेदार्थ की सिद्धि के लिए 'तत्' और 'त्वम्' पद में रहे हुए केवल विशुद्ध चैतन्य को ही वृत्ति का विषय करके और विशिष्टता को छोड़ देने से अभेद सिद्ध किया जा सकता है ।

'तत्त्वमसि' रूप महावाक्यजन्य ज्ञान में त्वंपदवाच्य प्रमाता मुमुक्षु है, और वह तत् पदवाच्य ब्रह्म से अत्यन्त सन्निहित है। वह त्वंपदवाच्य खुद ही है। अतः 'तत्-त्वम्' पद रूप लक्ष्य तथा तदाकारवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होने से, यह ज्ञान वाक्यजन्य होने पर भी प्रत्यक्ष ही है, और वह भी संसर्गानवगाही निर्विकल्प ही है ।

वेदान्त की अखण्डार्थबोधकता

ननु वाक्यजन्यज्ञानस्य पदार्थसंसर्गावगाहिज्ञानतया कथं निर्विकल्पत्वम् उच्यते। वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वे हि न पदार्थसंसर्गत्वं तन्त्रम्। अनभिमतसंसर्गस्यापि वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वापत्तेः। किन्तु तात्पर्यविषयत्वम्।

अनुवाद—शंका की जाती है कि वाक्यजन्यज्ञान तो उस वाक्य में रहे हुए प्रत्येक पद के अर्थ के संसर्ग को विषय बनाता है। फिर तो पदार्थ संसर्गावगाही हो जाने के कारण सविकल्पक हो जायगा, उसे आप निर्विकल्पक कैसे कहते हैं ।

उत्तर यह है कि—वाक्यजन्य ज्ञान पदार्थ संसर्ग को विषय करता है तो ऐसा कोई नियम नहीं है। ऐसा होने पर तो अवभिमत संसर्ग भी वाक्यजन्यज्ञान का विषय हो

जायगा। इसलिए वाक्यजन्यज्ञान के विषत्व में तात्पर्य विषयत्व को ही नियामक (तन्त्र) मानना चाहिए।

विमर्श—शंका का रहस्य यह है कि—'गामानय'—गाय को ले आओ' इस वाक्य में 'गाम्' और 'आनय' ये दो पद हैं। वाक्यार्थ बोध के पहले हमें उन दोनों पदों के अर्थ का ज्ञान होता है। उसके बाद उन दोनों पद-अर्थों का परस्पर क्रिया-कारक भाव का सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ के बोध में विशेषता है, वाक्यार्थ ज्ञान में पदों के अर्थों के ज्ञान के साथ-साथ उन पदों का सम्बन्ध भी दीखता है। यदि पदार्थों का सम्बन्ध न दीखे, तो पदार्थज्ञान की अपेक्षा वाक्यार्थ ज्ञान में कुछ विशेषता ही नहीं रह जायगी। तात्पर्य यह है कि वाक्यार्थज्ञान संसर्गावगाही ही होता है। 'सोऽयं देवदत्तः'—यह वाक्य भी वाक्यजन्य ज्ञान है। इसलिए इसे भी पूर्वोक्त प्रकार से संसर्गग्राही मानना चाहिए। और संसर्गाँवगाही होने से वह सविकल्पक ही हुआ। फिर 'सोऽयं देवदत्तः' और 'तत्त्वमसि' आदि ज्ञान को आप निर्विकल्पक कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर यह है कि वाक्यजन्यज्ञान के विषय में पदार्थ संसर्ग कोई प्रयोजक नहीं है। अर्थात् जितने वाक्यजन्यज्ञान हैं, वे सभी संसर्गावगाही होने ही चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। अगर ऐसा नियम बनाया जाए तब तो भोजन के समय 'सैन्धव लाओ'' ऐसा सुनकर कोई ''घोड़ा ही ले आएगा! नियम तो यह है कि वाक्यजन्यज्ञान में तात्पर्य ही नियामक है। ऐसा न होने पर अनिच्छनीय संसर्ग को भी वाक्यार्थ जन्यज्ञान का विषय मानना पड़ेगा ।

प्रकृते च 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत् (छा. 6/2/1) इत्युपक्रम्या 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा. 6/8/7) इत्युपसंहारे विशुद्धे ब्रह्मणि वेदान्तानां तात्पर्यमवसितमिति कथं तात्पर्याविषयं संसर्गमबोधयेत् ?

अनुवाद—तो इस प्रसंग में 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत् ''—''हे सौम्य! सृष्टि के पहले यह नाम-रूपात्मक जगत् केवल अद्वितीय 'सत्' ही था—'' ऐसा प्रारम्भ करके, ''तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो''—वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतु! वह तुम हो''—इस उपसंहारवाक्य से वेदान्त का तात्पर्य विशुद्ध चैतन्य ब्रह्म में ही निश्चित हुआ है। तो भला तात्पर्य के अविषय संसर्ग को महावाक्य कैसे बतला सकेगा?

विमर्श—जैसे ''सोऽयं देवदत्तः'' मैं सः द्वारा निर्दिष्ट तद्देशकालविशिष्टत्व और 'अयम्' शब्द द्वारा निर्दिष्ट एतद्देशकालादिविशिष्टत्व को अतात्पर्य मानकर केवल देवदत्त पिण्ड में ही तात्पर्य माना गया है, वैसे ही यहाँ 'तत्त्चमसि' इस वाक्य में तत्पदनिर्दिष्ट सर्वज्ञत्वादिविशिष्टत्व और त्वपदवाच्च अल्पज्ञात्वादिविशिष्टत्व में तात्पर्य न मानकर केवल सारचैतन्य में ही तात्पर्य माना गया है ।

उस तात्पर्य के भी कुछ मानदण्ड हैं। यहाँ वे सब छान्दोग्य में ये मिलते हैं, और उन्हीं तात्पर्य बताने वाले चिह्नों से अर्थ का निर्णय करना चाहिए। एक श्लोक है :—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्तिश्च लिंगं तात्पर्यनिर्णये ॥

अर्थात् (1) उपक्रम-उपसहार, (2) अभ्यास, (3) अपूर्वता, (4) फल, (5) अर्थवाद और (6) उपपत्ति—ये छः तात्पर्य के निर्णायक तत्त्व हैं।

यहाँ छान्दोग्योपनिषद् में "सदेव सौम्येदमग्र आसीत् ' से उपक्रम प्रारंभ किया गया है, जो ब्रह्म की सत्यता बताया है, और उसी अर्थ में **उपसंहार** (समाप्ति) भी किया गया है कि "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो!" बार-बार उसी का **अभ्यास** (आवृत्ति) भी किया गया है। इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में अद्वितीय सत् तत्त्व में आरम्भ किया (छा. 6/2/1) और "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो! " (छा. 6/8/7) से उसी बात से उपसंहार किया गया है। तथा **अपूर्वता** बतलाई गई है कि, "अत्र वाव किल तत् सौम्य! न निभालयसे अत्रैव किलेति।"—अर्थात् "इस शरीर में ही सत् रूप ब्रह्म विद्यमान है । हे सौभ्य! तथापि तू आचार्य के उपदेश के बिना इन्द्रियों से उसे देख नहीं सकता ।" इस मंत्र से गुरु के उपदेश के बिना अन्य किसी और प्रमाण के द्वारा उसे देख नहीं सकते ।' ऐसा कहकर तात्पर्य विषय की अपूर्षता (अलौकिकता)

बताई गई है। और, "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये"—अर्थात् "उस आत्मज्ञानी को विदेहमुक्ति में तभी तक देर लगेगी, जब तक प्रारब्ध के क्षय से शरीर का अन्त नहीं हो जाता ।" ऐसे वाक्यों से ब्रह्मज्ञान का फल बताया गया है। इसी प्रकार "उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञानं विज्ञातमिति"—हे श्वेतकेतु! आचार्य से तुमने उस आदेश को पूछा कि जिससे न सुना हुआ सुना जाता है, न माना हुआ माना जाता है और न जाना हुआ जाना जाता है । " इस **अर्थवाद** वाक्य से अद्वैतप्रकाशन की स्तुति की गई है। और भी "यया सौभ्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्व मृण्मथं विज्ञानं स्यात्" "जिस प्रकार मिट्टी के एक पिण्ड से घड़े आदि सब मिट्टी से बनाए हुए पदार्थ जाने जा सकते हैं—इत्यादि वाक्यों के द्वारा यहाँ **उपपत्ति**—युक्तिसंगतता भी बताई गई है ।

इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद में सत् तत्त्व के तात्पर्य में तात्पर्यबोधक छहों लिङ्गीं का वयान किया गया है ।

निष्कर्ष यह है कि यहाँ 'तत्त्वमसि' महावाक्य में तात्पर्य तो अद्वितीय विशुद्ध ब्रह्म चैतन्य में ही है, किसी और के संसर्ग में नहीं है तात्पर्य के निर्णायक छहों लिंगों से वह सिद्ध किया गया है ।

इदमेव तत्त्वमस्यादिवाक्यानामखण्डार्थत्वम् यत्संसर्गानवगाहि-यथार्थज्ञानजनकत्वमिति। तदुक्तम् –

संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम् ।
उक्ताऽखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपादिकार्थता ॥ 1 ॥

प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वं वाऽखण्डार्थत्वमिति चतुर्थपदार्थः ॥

अनुवाद—"तत्त्वमस्यादि" वाक्यों में अखण्डार्थता यही है कि जो संसर्ग का ग्रहण नहीं करने वाले यथार्थज्ञान को उत्पन्न करता है। इसमें पूर्वाचार्यों की भी सम्मुति है कि, "तत्त्वमस्यादि महावाक्यों में संसर्गानवगाही यथार्थ ज्ञान की जनकता को अखण्डार्थकता कहते हैं। अथवा तो उन वाक्यों में रहा हुआ जो प्रातिपादिकार्थत्व है, उसे ही अखण्डार्थत्व कहते हैं। इस दूसरे लक्षण में अनिव्याप्ति को दूर करने के लिए **'मात्र'** पद जोड़ देना चाहिए । अर्थात् श्लोक में चतुर्थपाद में जो "प्रातिपादिकार्थता" लिखा है, वहा "तत्प्रातिपदिकार्थमात्र ऐसा करना चाहिए।' मतलब कि "प्रातिपादिकार्थमात्र परत्वं अखण्डार्थत्वम्" ऐसा लक्षण करना चाहिए ।

विमर्श—उसी एकमात्र तात्पर्यापेक्षित वस्तु को बताने वाला अर्थ अखण्डार्थ कहा जाता है। ऐसे एक मात्र अर्थ में और किसी का विशेषण-विशेष्य, कर्ता-कर्म आदि किसी बातो का संसर्ग नहीं होता अर्थात् जो ज्ञान यथार्थ हो और केवल जिसकी विवक्षा उस एकमात्र—केवल—अन्यसम्बन्धरहित पदार्थ की है, उसी को बतलाने वाला हो, तो वह बतानेवाला वाक्य अखण्डार्थबोधक कहा जाता है। संसर्ग को विषय न करने वाला और यथार्थ ज्ञान को पैदा करने वाला वाक्य अखण्डार्थबोधक (निर्विकल्पक) कहा जाता है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य भी संसर्ग को विषय नहीं करता और वह यथार्थ ज्ञान भी है: इसलिए वह भी अखण्डार्थज्ञान है। अतः संसर्गानवगाहित्व और यथार्थज्ञानत्व—दोनों ही अखण्डार्थत्व के योग्य ही लक्षण हैं। ग्रन्थकार ने यहाँ पूर्वाचार्य चित्सुखाचार्य की भी एक श्लोक को उद्धुत करके बताई है ।

अखण्डार्थत्व का एक दूसरा लक्षण भी यहाँ बताया गया है वह है—"प्रातिपादिकार्थभावबोधकत्वम् अखण्डार्थत्वम् ।" यह भी चित्सुखाचार्य ने अपने श्लोक में ही बताया है। पर प्रातिपादिकार्थ तो संसर्गावगाही ज्ञान में भी आ जाने से लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी, इसलिए ग्रन्थकार ने इसका परिष्कार करके उसमें 'मात्र' पद जोड़ देने को कहा है। इसका अर्थ यह होगा कि—"प्रातिपादिकार्थमात्रबोधकत्वम् अखण्डार्थत्वम्"—यह परिष्कृत लक्षण हुआ ।

साक्षी भेद से प्रत्यक्ष का द्वैचिध्य

तच्च प्रत्यक्षं पुनर्द्विविधम् । जीवसाक्षि ईश्वरसाक्षि चेति । तत्र जीवो नामान्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यम् । तत्साक्षि तु अन्तःकरणोपहितं चैतन्यम् । अन्तःकरणस्य विशेषणत्वोपाधित्वाभ्यामनयोर्भेदः।

अनुवाद—एक तरह से प्रत्यक्ष के सविकल्पक और निर्विकल्पकये हो भेद कहे

हैं, अब दूसरे ढंग से दो भेद बताते हैं ।) फिर से भी प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। एक है जीवसाक्षी और दूसरा है ईश्वरसाक्षी। इसमें जीव का लक्षण है—"अन्तःकरण से **अवच्छिन्न** चैतन्य और उसका साक्षी है अन्तःकरण से **उपहित** चैतन्य। एक ही अन्तःकरण के विशेषणत्व (अवच्छिन्नत्व) और उपाधित्व (उपहितत्व) के भेद से **जीव** तथा **जीवसाक्षी** का भेद पड़ जाता है ।

विमर्श—पहले निर्विकल्पक और सविकल्पक भेद से प्रत्यक्ष के दो भेद किए गये थे। अब उसी प्रत्यक्ष ज्ञान के दूसरे ढंग से फिरसे दो भेद किए जा रहे हैं)। एक है जीवसाक्षी और दूसरा ईश्वरसाक्षी—ये दोनों प्रत्यक्ष, किसी ज्ञान से उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि ज्ञान ही चैतन्य रूप में बताया गया है। वृत्ति से अभिव्यक्त चैतन्य को हम कभी कदाचित् 'ज्ञान' शब्द से व्यवहार करते हैं और उस दृष्टि से जन्यवृत्ति से अभिव्यक्त चैतन्य को हम जन्यसाक्षी कह दें, तो कोई दोष नहीं ! खैर, एक ही चैतन्य मैं जब अन्तःकरण विशेषण बन जाता है जब उसकी संज्ञा '**जीव**' पड़ जाती है, और वही चैतन्य जब अन्तःकरण की उपाधि बनकर रह जाता है तो उस चैतन्य को '**जीवसाक्षी**' कहा जाता है। दोनों जगहों में अन्तःकरण और चैतन्य दोनों मौजूद होते हैं। परन्तु दोनों में फर्क यह है कि जीवभाव में अन्तःकरण चैतन्य का विशेषण होता है, और साक्षीभाव में अन्तःकरण चैतन्य की **उपाधि** ही रहता है ।

विशेषणं तु कार्यान्वयि व्यावर्तकम्। उपाधिश्च कार्यानन्वयी व्यावर्तको वर्तमानश्च। "रूपविशिष्टो घटोऽनित्य" इत्यत्र रूपं विशेषणम् "कर्णशश्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रम्" इत्यत्र कर्णशश्कुल्युपाधिः अयमेवोपाधिर्नैयायिकैः परिचायक इत्युच्यते।

अनुवाद—[जो कार्य में अन्वित हो, वर्तमान हो और दूसरों से अपने को व्यावृत्त—अलग करता हो, वह **विशेषण** है,] और [जो कार्य के साथ अन्वित न हो पर वर्तमान हो और अपने को दूसरों से व्यावर्तन करता हो, वह '**उपाधि**' है।] जैसे—"रूपविशिष्ट घट अनित्य है"—यहाँ पर '**रूप**' घट का '**विशेषण**' है। क्योंकि वह घट से अन्वित—युक्त है, वर्तमान तथा व्यावर्तक (अपने को दूसरी चीज़ों से अलग करने वाला) भी है। और "कर्णगोलक से अवच्छिन्न आकाश को श्रोत्र कहते हैं"—यहाँ पर कर्णगोलक आकाश की उपाधि है। (क्योंकि वह श्रोत्र से अलग रहकर (अन्वित न रहकर) भी वर्तमान है और व्यावर्तक)—दूसरों से अपने को अलग करने वाला है । अर्थात् इतर आकाश से पृथक् कर गोलक स्थित आकाश को श्रोत्र पद से व्यवहार कर रहा है।) इसी उपाधि को नैयायिक लोग परिचायक कहते हैं।

विमर्श—अब '**विशेषण**' और '**उपाधि**' दोनों का अर्थ हमें '**जीव**' और जीवसाक्षी के स्वरूप को समझने के लिए भली-भांति जान लेना चाहिए। विशेषण वह है, जो (1) कार्य से सम्बद्ध हो, (2) वर्तमान में हो और (3) अपने से दूसरी

चीजों को अलग कर दिखाता हो। उदाहरण के लिए "रूपावान घड़ा अनित्य है'—यह वाक्य लीजिए। इसमें **'रूप' विशेषण** है, वह अपने विषय घड़े में **वर्तमान** है और दूसरे घट अदि वस्तुओं से अपने को अलग व्यावृत्त कर देता है। और "कर्ण गोलक से उपहित आकाश को श्रोत्र कहते हैं"—यहाँ पर श्रोत्ररूप कार्य में कर्णगोलक अन्वित—युक्त नहीं है, किन्तु पृथक्—अलग तो है ही, वर्तमान भी है और कर्णगोलकस्थ आकाश से भिन्न आकाश की अपने से व्यावृत्ति भी कर रहा है। अतः कर्णशश्कुली उपाधि मानी गई हैं ।

तात्पर्य यह है कि उपाधि कार्य से अलग रहा करती है। और कार्य उपाधि से उदासीन रहा करता है। परन्तु विशिष्ट स्थल में विशेषण विशेष्य—दोनों उदासीन नहीं हैं किन्तु दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं । इसी से विशेषण और उपाधि दोनों के स्वभाव में भेद है और इससे विशिष्ट और उपहित—दोनों में भी भेद पड़ जाता है ।

उपाधि को नैयायिक लोग परिचायक कहते हैं, जो परिचय कराता है जुड़ता नहीं।

प्रकृते तु अन्तःकरणस्य जडतया विषयभासकत्वायोगेन विषयावभासकचैतन्योपाधित्वम्। अयं च जीवसाक्षी प्रत्यात्मं नाना एकत्वे मैत्रावगते चैत्रस्याप्यनुसन्धानप्रसंगः ।

अनुवाद—प्रस्तुत प्रसंग में, अन्तःकरण जड़ है। अतः उसमें विषय का अवभासकत्व नहीं हो सकता। इसलिए अतःकरण को विषय के अवभासक चैतन्य की उपाधि कहा जाता है। अन्तःकरणरूप उपाधि वाला वह जीवसाक्षी प्रत्येक शरीर में अलग अलग है। यदि सभी शरीरों में एक ही जीवसाक्षी मानें, तो मैत्र नामक व्यक्ति की जानी हुई बात का अनुसन्धान चैत्र नाम के व्यक्ति को होने लगेगा ।

विमर्श—यहाँ पर अन्तःकरण की उपाधिरूप जीवसाक्षी को मानने का प्रयोजन बतलाया गया है । जड़ होने से अन्तःकरण तो विषय का प्रकाश नहीं कर सकता। विषय का प्रकाशक तो चैत्न्य ही है पर वह चैतन्य अन्तःकरण की वृत्ति के सिवा विषयों का प्रकाश नहीं कर सकता। यद्यपि विषयों का चैतन्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध तो है ही, तथापि विषयों का वृत्यात्मक ज्ञान प्रमाण चैतन्य से हुआ करता है। सामान्य चैतन्य तो सभी पदार्थों में 'सत्तास्फुर्ति' रूप से रहता है पर विशेष प्रकाश तो वृत्ति से ही होता है। अतः वृत्त्युपहित चैतन्य ही सभी विषयों का ज्ञान है, ऐसा कहना चाहिए। उस साक्षी की सिद्धि के लिए उपाधिरूप से अन्तःकरण को मानना चाहिए ।

माया एक है

ईश्वरसाक्षि तु मायोपहितं चैतन्यम्। तच्चैकम्। तदुपाधिभूतमायाया एकत्वात्। "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप इयते"–इत्यादि श्रुतौ मायाभिरिति बहुवचनस्य मायागतशक्तिविशेषभिप्रायतया मायागतसत्त्वरजस्तमो-रूपगुणाभिप्रायतया चोपपत्तेः ।

अनुवाद—किन्तु ईश्वरसाक्षी तो मायोपहित—माया की उपाधि वाले—चैतन्य को
कहते हैं। और वह एक है। क्योंकि उसकी उपाधि माया भी एक है। ''इन्द्रो मायाभिः
पुररूप ईयते''—''परमेश्वर माया से बहुत रूप धारण करता है—''ऐसी श्रुति में
''मायाभिः'' इस बहुवचनान्त से माया में बहुत सी शक्तियाँ हैं ऐसा समझना चाहिए।
अथवा तो सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के अभिप्राय से बहुवचन का प्रयोग किया
गया है। (इसका ऐसा अभिप्राय नहीं कि माया बहुत है ।) यही सुसंगत है ।

विमर्श—जीव और जीवनसाक्षी का निरूपण करने के बाद अब ईश्वर ओर
ईश्वरसाक्षी निरूपण किया जाता है। **मायाविशिष्ट चैतन्य ईश्वर** है और **मायोपहित
चैतन्य ईश्वरसाक्षी** है। एक ही माया ईश्वर के भाव में विशेषण है और ईश्वरसाक्षी के
भाव में उपाधि हैं। क्योंकि पूर्वोक्त रीति से विशेषण अपने विशेष्य से सम्बद्ध होकर
व्यवहार कराता है, और उपाधि तो अपने उपहित से—अपने समीपस्थ से अपने को
अलग ही रखती है। इसलिए मायाविशिष्ट चैतन्य ही ईश्वर है ~~चैतन्य ईश्वर है~~, और वही
जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है। वह माया एक है । इसीलिए इस
माया से उपहित—समीपस्थ चैतन्य (ईश्वरसाक्षी) भी एक ही है। ''इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप
ईयते''—इस श्रुति में माया शब्द का जो बहुवचन है, वह एक ही विविध शक्तियों का
द्योतक है ।

**''मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'' (श्वे. 4/10)
''अजामेकां लोहित-शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो
ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः (श्वेत 4/5)''
तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते, योगी मायाममेयाय तस्मै
विद्यात्मने नमः'' इत्यादिश्रुतिस्मृतिषु एकवचनबलेन लाघवानुगृहीतेन
मायाया एकत्वं निश्चीयते। ततश्च तदुपहितं चैतन्यम् ईश्वरसाक्षि।
तच्चानादि । तदुपाधेर्मायाया अनादित्वात् ॥**

अनुवाद—(माया के एकवचन के भी बहुत उदाहरण मिलते हैं, जैसे—) ''मायां
तु.........''। अर्थात्—माया को जगत् की प्रकृति मानो और मायावी को महेश्वर
मानो,'' ''अजामेकां........'' लाल सफेद तथा काले रंग की एक प्रकृति बहुत सी समान
जातीय उत्पत्ति करती है। उसमें एक जीव उसको भोगता हुआ (उसमें लिपटा हुआ)
रहता है, और अन्य जीव उसे भोगकर विवेक के सहारे उसे सारहीन समझ कर त्याग
कर देता है,'' ''तरत्यविद्यां विततां..........'' ''जिसमें दिल लग जाने पर ब्रह्म को
आवृत करने वाली, अविद्या रूप माया को योगी पार कर जाते हैं उस अमेय परमात्मा
को नमस्कार'' ऐसे ऐसे श्रुतियों और स्मृतियों के प्रमाणों में बताए गए एकवचन के
समर्थन से और लक्षण होने से माया का एकत्व ही निश्चित किया गया है। इसलिए उस
एक माया से उपहित—समीपस्थ चैतन्य ईश्वरसाक्षी है, वह अनादि है, और एक है
क्योंकि उसकी उपाधि माया एक ही है और वह अनादि है ।

विमर्श—श्रुति के **तात्पर्य** को और श्रुति का **बहुमत** देखकर निर्णय किया गया कि माया एक है, और बहुवचन का प्रयोग माया के शक्तिवैविध्य को बताने के लिए किया गया है। माया को एक मानने में लाघव भी है। माया को ''अजामेकाम्'' कहा गया है। 'अजा' का अर्थ जन्मरहित—अनादि होता है और माया का कोई सजातीय भेद न होने से उसे 'एका' कहा गया है। श्रुति में बताए गए लोहित-शुक्ल-कृष्ण रंग क्रमशः रजस्, सत्त्व और तमस् के उपलक्षण हैं। माया त्रिगुणात्मिका है। और उस अनादि, एक तथा त्रिगुणात्मिका माया से सृष्टि बनती है ।

ईश्वर का स्वरूप

मायावच्छिन्नं चैतन्यं परमेश्वरः मायायाः विशेषणत्वे ईश्वरत्वमुपाधित्वे साक्षित्वमिति ईश्वरत्वसाक्षित्वयोर्भेदः न तु धर्मिणोरीश्वरसाक्षिणोः। स च परमेश्वरः एकोऽपि स्वोपाधिभूतमायानिष्ठ-सत्त्वरजस्तमोगुणभेदेन ब्रह्म-विष्णु-महेश्वर इत्यादि शब्दवाच्यतां लभते ।

माया से अवच्छिन्न-विशिष्ट-चैतन्य को ईश्वर कहते हैं। माया को **विशेषण** रूप मानने से उसमें ईश्वरत्व आता है और उपाधित्व-सामीप्य मानने पर वह चैतन्य ईश्वरसाक्षी कहलाता है। [अतः **ईश्वरत्व** और **साक्षित्व** रूप धर्मों में ही भेद है, पर ईश्वर और ईश्वरसाक्षी—इन दो धर्मियों में भेद नहीं है] (धर्मा तो एक चैतन्य ही है ।)

वह परमेश्वर एक ही है फिर भी अपनी उपाधिभूत माया से सत्त्व, रजस् और तमोगुण के भेद से ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर रूप से कहा जाता है ।

विमर्श—ईश्वरसाक्षी ज्ञान के लिए, पहले ईश्वर का ज्ञान होना चाहिए। अतः पहले ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में सोच लें। पहले बताई गई माया से अवच्छिन्न—विशिष्ट चैतन्य को ईश्वर कहते हैं। जिस तरह पहले अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य को जीव और अन्तःकरण से उपहित चैतन्य को जीवसाक्षी कहा गया था, वैसे ही यहाँ माया से अवच्छिन्न चैतन्य को ईश्वर और माया से उपहित चैतन्य को ईश्वरसाक्षी कहा जाता है। अर्थात् माया जब चैतन्य का विशेषण बनती है (मतलब कि चैतन्य जब माया से विशिष्ट बनता है) तब ऐसे चैतन्य को ईश्वर कहते हैं और जब माया चैतन्य की उपाधि बनकर रहती है (मतलब कि चैतन्य जब मायोपाहित बनता है) तब ऐसे चैतन्य को ईश्वर साक्षी कहते हैं ।

चैतन्य तो एक ही है पर एक जगह पर उसमें ईश्वरत्व रूप धर्म आया और दूसरी जगह पर उसमें ईश्वरसाक्षित्वरूप धर्म आया। तो ये दो धर्म बदले हैं, पर धर्मी रूप चैतन्य तो एक ही रहा है। जैसे एक ही व्यक्ति पकाने का काम करने पर पाचक और पढ़ाने का काम करने से पाठक कहा जाता है, ठीक उसी तरह यहाँ ईश्वरपन में और ईश्वरसाक्षीपन में भेद होते हुए भी धर्मी में भेद नहीं आता । ईश्वरत्व ओर ईश्वरसाक्षित्व धर्म है और ईश्वरत्व और ईश्वरसाक्षी-एक ही होने से धर्मी है तो धर्मी का भेद नहीं हुआ, सिर्फ धर्मों का ही भेद हुआ ।

पूर्वोक्त रीति से माया एक है, इसलिए माया से उपहित ईश्वरसाक्षी रूप चैतन्य भी एक ही है। और यों तो मायावच्छिन्न ईश्वररूप चैतन्य भी एक ही है फिर भी उसमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि भेद माने गए हैं, क्योंकि इस चैतन्य की विशेषणरूप बनी हुई एक—ही माया के तीन गुणों के भेद से ऐसे भेद हुए हैं। यहाँ मूल में 'स्वोपाधिभूत' शब्द दिया गया है, उसके बदले ''स्वविशेषणीभूत' ऐसा पढ़ना चाहिए ।

नन्वीश्वरसाक्षिणोऽनादित्वे, ''तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'' (छा. 6/2/1) इत्यादिना सृष्टिपूर्वसमये परमेश्वरस्यागन्तुकमीक्षणमुच्यमानं कथमुपपद्यते? उच्यते। यथा विषयेन्द्रियसन्निकर्षादिकारणवशेन जीवोपाध्यन्तःकरणस्य वृत्तिभेदा जायन्ते, तथा सृज्यमानप्राणिकर्मवशेन परमेश्वरोपाधिभूतमायाया वृत्तिविशेषा, इदमिदानीं स्त्रष्टव्यमिदमिदानीं संहर्तव्यमित्याद्याकारा जायन्ते तासां च वृत्तीनां सादित्वा-त्तत्प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि सादीत्युच्यते। एवं साक्षिद्वैविध्येन प्रत्यक्षज्ञानद्वैविध्यम्। प्रत्यक्षत्वं च ज्ञेयगतं ज्ञप्तिगतं चेति निरूपितम्।

अनुवाद—यहाँ शंका की जाती है कि अगर ईश्वरसाक्षी अनादि है, तो फिर, ''उसने ईक्षण किया, मैं बहुत रूप होऊँ, प्रजारूप में उत्पन्न होऊँ''—इत्यादि श्रुति से सृष्टि के पूर्वकाल में परमेश्वर में आगन्तुक ईक्षण कहना कैसे युक्तिसंगत हो सकता है ?

शंका का समाधान कहा जाता है कि जैसे विषय और इन्द्रिय आदि के संन्निकर्ष आदि कारणों से (जीव की उपाधि) अन्तःकरण में भिन्न भिन्न वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वैसे ही सृज्यमान प्राणियों के कर्म संस्कार के कारण परमेश्वर की उपाधिरूप माया में विशेष वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं कि इस समय इसकी सृष्टि करनी चाहिए और इस समय इसका संहार करना चाहिए। ये वृत्तियाँ तो सादि हैं, अतः उनमें पड़ा हुआ चैतन्य का प्रतिबिम्ब भी सादि ही माना गया है। इस प्रकार साक्षी दो होने से (जीवसाक्षी और ईश्वरसाक्षी) प्रत्यक्ष ज्ञान भी दो प्रकार का हुआ। ज्ञानगत प्रत्यक्षज्ञान और विषयगत प्रत्यक्ष ज्ञान का निरूपण तो पहले ही किया जा चुका है ।

विमर्श—छान्दोग्योपनिषद में ऐसा लिखा है कि इस सृष्टि के पूर्व काल में (तदैक्षत बहु स्याम्, प्रजायेय) उस ईश्वरसाक्षी ने निरीक्षण किया, ''अकेला मैं बहुत रूप धारण करु, मैं प्रजा बनूँ,'' तो यहाँ शंका होती है कि जब ईश्वरसाक्षी अनादि है, तो उसमें यह आगन्तुक सादि ईक्षण आदि कैसे आ गया और वह जब आया, तब तो ईश्वरसाक्षी भी सादि हो जाएगा, उसका अनादित्व बाधित हो जाएगा ।

इसका समाधान कहा जाता है कि चैतन्य स्वरूप से तो अनादि ही है परन्तु उसकी अभिव्यंजक जिस प्रकार अन्तःकरण की वृत्तियाँ होती हैं, उन वृत्तियों में प्रतिबिम्बित जीवसाक्षीरूप ज्ञान को भी सादि कहा है, उसी प्रकार माया से उस चैतन्य की अभिव्यंजक वृत्तियाँ—ईक्षण, सर्जन, पालन, संहार आदि—उत्पन्न हुआ करती हैं।

उस चैतन्य की अभिव्यंजक ये वृत्तियाँ सादि हैं, इसलिए उनमें अभिव्यक्त चैतन्य भी सादि कहा गया है। अतः इसमें विषय—इन्द्रियसन्निकर्ष' आदि कारण बताया गया है, ठीक वैसे ही यहाँ माया में प्रतिबिम्बित—अभिव्यंजित-चैतन्य में ईक्षण, सर्जन, पालन, संहार आदि आगन्तुक इच्छाएँ प्राणियों के कर्मसंस्कार आदि के कारण हुआ करती हैं। और वह माया प्रतिबिंबित चैतन्य तो सादि है, जैसे कि ये ईक्षणादि सादि हैं। इस प्रकार जीवसाक्षी और ईश्वरसाक्षी—इन दो प्रकार से प्रत्यक्ष का भेद बताया गया। इसलिए प्रत्यक्षज्ञान का भी दो प्रकार से भेद बताया गया। इसलिए प्रत्यक्षज्ञान का भी दो भेद हो गया। (1) ज्ञानगत प्रत्यक्ष (जो ब्रह्मचैतन्य ही है) और (2) विषयगत प्रत्यक्ष। ये दो भेद तो पहले कहे जा चुके हैं ।

तत्र ज्ञप्तिगतप्रत्यक्षस्य सामान्यलक्षणं चित्त्वमेव । 'पर्वतो वह्निमा' नित्यादावपि वह्न्याद्याकारवृत्त्युपहितचैतन्यस्य स्वात्मांशे स्वप्रकाशतया प्रत्यक्षत्वात्। तत्तद्विषयांशप्रत्यक्षत्वं तु पूर्वोक्तमेव। तस्य च भ्रान्तिरूपप्रत्यक्षत्वे नाऽतिव्याप्तिः। भ्रमप्रमासाधारणप्रत्यक्षत्वसामान्यनिर्वचनेन तस्यापि लक्ष्यत्वात् ।

अनुवाद—अब ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का सामान्य लक्षण तो 'चित्'-त्व ही है। 'पर्वतो वह्निमान्'—इत्यादि अनुमिति ज्ञान में भी वह्नि—आकार वाली अन्तःकरण की वृत्ति से उपहित चैतन्य अपने अंश में स्वप्रकाश होने के कारण से प्रत्यक्ष ही है। और उस उस विषय के प्रत्यक्षत्य के बारे में तो पहले कह आए हैं। अतः भ्रान्तिरूप प्रत्यक्षत्व में अतिव्याप्ति नहीं मानी जानी चाहिए। क्योंकि यहाँ पर भ्रम तथा प्रत्यक्षत्व—दोनों में ही प्रत्यक्षत्व का सामान्य रूप से निर्वचन होने के कारण भ्रान्तिरूप प्रत्यक्ष भी लक्ष्य ही है ।

विमर्श—पहले विषयगत प्रत्यक्षत्व और ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व के भेद से दो प्रकार का प्रत्यक्षत्व बताया जा चुका है। उनमें से ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का (अन्तःकरण वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यरूप ज्ञान का—प्रमाणचैतन्य का) प्रत्यक्षत्व का सामान्य लक्षण तो चित्त्व—स्फुरणत्व ही है। अर्थात् चैतन्य रूप ज्ञान तो स्वयंप्रकाश ही है। उसका स्वरूप तो प्रत्यक्ष ही है। 'पर्वतो वह्निमान् ' बगैरह अनुमिति के स्थान में भी वह्न्याकार वृत्ति से उपहित चैतन्य रूप ज्ञान तो अपने आप के अंश में स्वप्रकाश रूप से सदा-सर्वदा प्रकाशित ही है। क्योंकि चैतन्य तो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है ऐसा श्रुति कहती है। (यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म) इसलिए चैतन्यरूप ज्ञान अपने अंश में सभी स्थलों पर प्रत्यक्ष ही रहता है। वह केवल विषयांश में ही परोक्ष है, क्योंकि जहाँ विषयों और इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है, तब उस समय के ज्ञान का विषय अंश में प्रत्यक्ष कहा गया है, और जहाँ पर विषय-इन्द्रिय संयोग के बिना ही विषयाकारवृत्ति होती है, वहाँ पर विषयांश में ज्ञान का परोक्षत्व कहा गया है। स्वात्म अंश में तो यहाँ पर भी अपरोक्ष ही है ।

यहाँ पर अगर कोई शंका करे कि जब स्वात्मांश में सभी ज्ञान प्रत्यक्ष ही हैं, तब तो सीप में जो रजत दिखाई देता है, ऐसे भ्रमस्थल में भी तो ज्ञान स्वात्मांश में अपरोक्ष होगा न?—अर्थात् भ्रान्तिरुप प्रत्यक्ष में भी स्वात्मांश में साक्षी चैतन्य के प्रत्यक्ष होने से इसमें भी प्रत्यक्ष लक्षण चला जायगा—अतिव्याप्ति होगी। तो यह शंका योग्य नहीं है। क्योंकि हमने यहाँ भ्रम-प्रमा-उभय-साधारण-प्रत्यक्षत्व का सामान्य रूप से ही निर्वचन किया है। इसलिए हमारा लक्षण भ्रम में भी लागू हो, तो उसमें कोई दोष नहीं है ।

यदा तु प्रत्यक्षप्रमाया एव लक्षणं वक्तव्यं, तदा पूर्वोक्तलक्षणेऽबाधितत्वं विषयविशेषणं देयम् । शुक्तिरूप्यादिभ्रमस्य संसारकालीनबाधविषयप्रातिमासिक-रजतादिविषयकत्वेनोक्त-लक्षणा भावान्नातिव्याप्तिः ।

अनुवाद—जब केवल प्रत्यक्ष प्रमा का ही लक्षण करना अभिप्रेत हो, तब पूर्वोक्त लक्षण में, विषय को 'अबाधितत्व' ऐसा विशेषण देना चाहिए। शुक्ति में रजत आदि का भ्रम तो संसारकालीन अवस्था में ही बाधित होता है। (व्यावहारिक सत्ता में ही वह तो बाधित हो जाता है) अतः वह भ्रमज्ञान,—प्रातिभासिक ज्ञान को विषय करने वाला होने से प्रमा के लक्षण की शुक्ति-रजत-भ्रम में अतिव्याप्ति नहीं होगी ।

विमर्श—प्रत्यक्षप्रमा के निरूपण के प्रसंग में पहले भ्रम-प्रमा-साधारण का लक्षण दिया गया। अब यदि केवल प्रमा का लक्षण करना हो तो विषय में 'अबाधितत्व'—विशेषण जोड़ देना चाहिए। इससे भ्रम की अतिव्याप्ति टल जायगी। अर्थात् "**योग्य, वर्तमान, अबाधित** विषय के आकार वाली अतःकरण की वृत्ति से उपहित प्रमातृ चैतन्य से भिन्न सत्ता का न रह जाना ही उस विषय का प्रत्यक्ष है—"यह परिमार्जित लक्षण हुआ—विषयगत प्रत्यक्ष का पूरा लक्षण हुआ। भ्रमस्थल में विषय अबाधित नहीं है, अतः भ्रम में अतिव्याप्ति नहीं होगी। सभी व्यावहारिक सत्ता वाले पदार्थों में यह लक्षण जाता है, इसलिए कहीं अव्याप्ति भी नहीं होगी। यहाँ 'अबाधित' का अर्थ, 'संसारकाल में अबाधित' है ।

शुक्तिरजत में प्रत्यक्ष विचार

ननु विसंवादिप्रवृत्त्या भ्रान्तिज्ञानसिद्धावपि तस्य प्रातिभासिक-तत्कालीनोत्पन्नरजतादिविषयकत्वे न प्रमाणम्। देशान्तरीयरजतस्य क्लृप्तत्वेन तद्विषयत्वसंभवादिति चेत्, न। तस्यासन्निकृष्टतया प्रत्यक्षविषयत्वायोगात्।न च ज्ञानं तत्र प्रत्यासत्तिः। ज्ञानस्य प्रत्त्यासत्तित्वे तत एव वह्न्यादेः प्रत्यक्षत्वापत्तावनुमानाद्युच्छेदापत्तेः ।

अनुवाद—यहाँ शंका की जाती है कि (भ्रमज्ञान से शुक्तिरूप्य में प्रवृत्ति तो होती है, पर वहाँ रजत न मिलने पर प्रवृत्ति विफल—विसंवाही हो जाती है ।) इसी

विसंवाही—विफल प्रवृत्ति से शुक्तिरजत का ज्ञान भ्रम है, ऐसा सिद्ध हो जाता है। फिर भी उस भ्रान्तिज्ञान का विषय जो प्रातिभासिक रजत है, वह तत्काल ही उत्पन्न होता है, उसका तो कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए इस भ्रान्तिज्ञान का विषय रजत देशान्तरीय—अन्य स्थान में रहा हुआ—तो सिद्ध ही है। और यह संभव है, तो फिर अनिर्वचनीय रजत रूप भ्रमज्ञान का ही विषय उस रजत को क्यों कहा जाय?

इसके उत्तर में कहा ज़ाता है कि (उस देशान्तरीय—अन्यस्थान में रहे हुए) रजत का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष न होने के कारण) वह असन्निकृष्ट है। (अतः 'इदम् रजतम्' इस भ्रान्तिज्ञान का विषय वह रजत दुकान में रखा गया रजत हो ही नहीं सकता।) देशान्तरीय रजत के साथ में इसका अलौकिक सन्निकर्ष (ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति) भी नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा होने का कोई प्रमाण नहीं है। फिर भी ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति मान ली जाए, तब तो उसी ज्ञानरूप प्रत्यासत्ति से 'पर्वतो वह्निमान्' इस स्थल में वह्नि इत्यादि का भी प्रत्यक्ष हो सकता है। फिर तो अनुमान आदि प्रमाणों का ही उच्छेद हो जायगा ।

विमर्श—वेदान्ती लोग शुक्ति में हुए रजत के भ्रम-ज्ञान में रजत को अनिर्वचनीय मानते हैं जब कि नैयायिक लोग भ्रमस्थल के रजतज्ञान को अनिर्वचनीय नहीं मानते। नैयायिक मानते हैं कि रजत, अन्यत्र जौहरी की दुकान में तो है ही। उस सत्य रजत को ही वे लोग यहाँ शुक्तिरजत के भ्रमस्थल में भी विषय के रूप में मानते हैं। वे लोग अन्यथाख्याति मानते हैं (अन्यस्य अन्यत्र ख्यातिः) जैसे—

'यह रजत है'—ऐसा मानकर कोई आदमी उस रजत को लेने गया, पर वहाँ जाने पर मालूम पड़ा कि अरे, यह तो सीप ही है, रजत नहीं है, यह प्रवृत्ति बेकार हुई—विसंवादी हुई। इसी विसंवादी प्रवृत्ति से रजत की भ्रमरूपता का निश्चय होता है। ऐसा होनेपर भी भ्रमज्ञान का जो रजत पदार्थ है, वह तो कहीं न कहीं सत्यरूप में विद्यमान है ही । किसी जौहरी की दूकान में सत्यरूप में रजत है ही। अतः अन्य किसी स्थान पर देखी गई वस्तु का अन्यत्र भान होता है—जौहरी की दुकान में देखे गए सत्य रजत का ज्ञान यहाँ सीप में होता है। उसको अनिर्वचनीय बताने का कोई प्रमाण नहीं। उस आपणस्थ सत्य रजत के साथ नेत्र का सन्निकर्ष न होने पर भी दोष के बल से उस अन्यदेशस्थ रजत का भी ज्ञान हो सकता है। यहाँ पर चाकचिक्याकारादिदोष के कारण, सामान्य रूप से आँख का शुक्ति के साथ सम्बन्ध होते ही जौहरी की दुकान में रहा हुआ रजत दीखने लग जाता है। जैसे भस्मक नामक रोगदोष से चार गुनी खुराक खाई जा सकती है, वैसे ही यहाँ भी नेत्रदोष के कारण देखने की शक्ति बढ़ जाती है। ऐसा उन अन्यथाख्यातिवादियों का बड़ा ऊहापोहात्मक पूर्वपक्ष यहाँ है ।

इसका उत्तर देते हुए अब वेदान्ती कहते हैं कि नेत्र के साथ जब आपणस्थ रजत का सन्निकर्म ही नहीं है। नेत्र का सन्निकर्ष तो समीपस्थ सीप के साथ ही हैं । और ज्ञान रजत का कैसे हो गया? अतः ऐसे स्थल में अज्ञान से ही उसी समय उत्पन्न हुए

मानने में कोई दोष नहीं है। अन्यदेशस्थ रजत में नेत्रसंयोग तो प्रातिभासिक रजत को नहीं है फिर भी उसके बनाव में यदि नैयायिक लौकिक सन्निकर्ष के बदले यदि अलौकिक सन्निकर्ष (सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति) मानें तो उन्हें हमें बतलाना पड़ेगा कि ऐसा अलौकिक प्रत्यक्ष कब होता है और क्यों होता है? ऐसी सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति मानने का कोई प्रमाण भी नहीं है। किसी भी अनुमान की सिद्धि के लिए 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' का मानना अनिवार्य रूप से जरूरी नहीं है। क्योंकि ऐसी प्रत्यासत्ति मान लेने पर तो किसी भी साधन के बिना सभी लोगों की सभी पदार्थों की यों ही जानकारी मिल जायगी। क्योंकि 'पर्वतो वह्निमान धूमात्' जैसे—अनुमितिस्थल में उस सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के जरिए नैयायिक सकलवह्नि और सकलधूम को जान लेते हैं। ऐसा होने पर किसी भी वस्तु को देखने पर तुरन्त ही उस वस्तु की सजातीय सफल वस्तुएँ जो भूत, भविष्य और वर्तमान में हैं, वे सभी वस्तुएँ प्रत्यक्ष हो जानी चाहिए, पर ऐसा तो कहीं भी नहीं देखा—सुना गया है। वेदान्ती तो पहले जहाँ अग्नि-धूम देखते हैं वहीं, उसी काल में अग्नि-धूम की व्याप्ति मानते है। अर्थात् पहले सभी अग्नि-धूमों में पृथक् पृथक् व्याप्यव्यापक भाव मानते हैं और बाद में सामान्य रूप से धूम और अग्निविषयक साहचर्य का अनुमान करते हैं। जहाँ समान प्रकार का निश्चय होता है वहाँ संशय नहीं होता। धूम-अग्नि के साहचर्य में सभी का समान प्रकार का निश्चय है ही। कभी किसी को इस विषय में अभी तक संशय नहीं हुआ है। अतः सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति को न मानकर भी सामान्य कृत निश्चय के आधार पर अनुभव किया जा सकता है।

अनिर्वचनीय रजत की उत्त्पत्ति

ननु रजतोत्पादकानां रजतावयवानामभावे शुक्तौ कथं तथापि रजतमुत्पद्यते इति चेत्, उच्यते। न हि लोकसिद्धसामग्री प्रातिमासिक रजातेत्पादिका, किन्तु विलक्षणैव। तथा हि काचकामलादिदूषित-लोचनस्य पुरोवर्तिद्रव्यसंयोगादिदमाकारा चाकचिक्याकारा च काचिदन्तःकरणवृत्तिरुदेति। तस्यां च वृत्तौ इदमवच्छिन्नं चैतन्यं प्रतिबिम्बते। तत्र पूर्वोक्तरीत्या वृत्तेर्निर्गमनेन इदमवच्छिन्नचैतन्यं, वृत्त्यवछिन्नचैतन्यं प्रमातृचैतन्यं चाभिन्नं भवति। ततश्च प्रमातृ-चैतन्याभिन्नविषयचैतन्यनिष्ठा शुक्तित्वप्रकारिकाऽविद्या चाक-चिक्यादिसादृश्य-सन्दर्शन-समुद्‌बोधित रजतसंस्कार-सध्रीचीना काचादिदोषसमवहिता रजतरूपार्थाकारेण रजतज्ञानाभासाकारेण च परिणमते।

अनुवाद—शंका की जा रही है कि (भ्रमज्ञान के स्थल में भ्रम का विषय रजत उत्पन्न होता है, ऐसा आपने कहा) परन्तु, रजत को उत्पन्न करने वाले रजतावयवों के अभाव में सीप में आप—वेदान्ती के मत में भी रजत कैसे उत्पन्न होगा ?

उत्तर में वेदान्ती कहते हैं कि प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति में लोकसिद्ध सामग्री कारण नहीं है, किन्तु विलक्षण सामग्री ही कारण है। इसी को स्पष्टतया दिखाया जाता है,—काच कामलादि दोष से दूषित नेत्र का पुरोवर्ती द्रव्य के साथ संयोग होते ही कोई इदमाकार तथा चाकचिक्याकार अन्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न होती है। उसी वृत्ति में इदमंश से अवच्छिन्न चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। पहले बताए गए प्रकार से वृत्ति बाहर निकलती है। अतः इदमवच्छिन्न चैतन्य, इदमाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य तथा प्रमातृ चैतन्य का अभेद हो गया। इसके बाद प्रमातृ-चैतन्य से अभिन्न ऐसा जो विषयचैतन्य है, उसमें रहने वाली शुक्तित्वप्रकारिका अविद्या है, वह चाकचिक्यादि सन्दर्शन से उद्‌बुद्ध रजत के संस्कार से सहकृत है, काचादिदोष से युक्त है। इसलिए वही अविद्या रजतरूप से तथा रजतज्ञानाभास के रूप से परिणत हो जाती है ।

विमर्श—यह तो सभी जानते और मानते हैं कि विषय के बिना तो ज्ञान नहीं होता है पर वह विषय हमारी इन्द्रियों के साथ जुड़ना चाहिए, यह भी शर्त है। इन्द्रियसन्निकर्ष हुए बिना विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता। जौहरी की दुकान में पड़ा हुआ रजत आँखों से सन्निकृष्ट नहीं होता । फिर भी रजत दिखाई तो दे ही रहा है। तो यहाँ लाचार होकर प्रतिभासिक रजत को मानना ही पड़ेगा। अब ऐसे प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति का कारण वेदान्ती बता रहे हैं—

व्यावहारिक रजत, जैसे रजतावयवों से बनता है, वैसे प्रातिभासिक रजत नहीं बनता । लोकसिद्ध रजतोत्पत्ति की सामग्री से प्रातिभासिक रजत की उत्त्पत्ति की सामग्री विलक्षण ही है। इस प्रक्रिया को ध्यान से सुनो—आँखों में काच-कामलादि से दोष उत्पन्न हुआ करते हैं। ऐसे किसी नेत्रदोष वाले मनुष्य के सामने सीप (शुक्ति) रखी गई। सीप का नेत्र को साथ संयोग होते ही उसके मन में इदमाकारवृत्ति पैदा हुई। साथ ही शुक्ति का चमकीलापन भी प्रतीत हुआ। इसलिए अन्तःकरण की इदमाकारवृत्ति चाकचिक्याकारवृत्ति भी तो बन गई। उसी वृत्ति में इदमंशावच्छिन्न चैतन्य प्रतिबिंबित हुआ। ऐसी अन्तःकरण की वृत्ति का बाहर निर्गमन हुआ और पहले बताई गई रीति के अनुसार वह वृत्ति विषयदेश में जाकर विषयाकार हो गई। विषयाकार वृत्ति के बनने से पहले तो उपाधिभेद से इदमवच्छिन्न चैतन्य, वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य और प्रमातृ चैतन्य में भेद था ही, परन्तु, पहले कही गई रीति से वृत्ति का जब बाहर के देश में आना हुआ कि तुरन्त ही इदमवच्छिन्न चैतन्य, वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य और प्रमातृ चैतन्य में अभेद हो गया। अर्थात् तीनों उपाधियों के एकदेशस्थ हो जाने से भेद चला गया । तीनों चैतन्यों का अभेद हो जाने पर प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न हुए विषय चैतन्य में आश्रित शुक्तित्वप्रकारिका अविद्या का सहकारी चमकीलापन आदि है, उसके सन्दर्शन से रजतसंस्कार उद्‌बुद्ध हुआ और साथ में काचकामलादि दोष भी हैं। अतः इतनी सारी सामग्री आ जाने पर प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न विषय चैतन्य-निष्ठ शुक्तित्वप्रकारिका अविद्या, रजत रूप से (रजत ज्ञानाभास रूप से) परिवर्तित हो जाती है। अर्थात् रजत और रजताकार वृत्ति दोनों उसी अविद्या के परिणाम हैं ।

परिणामो नाम उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः। विवर्तो नाम उपादानविषयसत्ताककार्यापत्तिः। भ्रान्तिभासिकरजतं चाविद्यापेक्षया परिणामः चैतन्यापेक्षया विवर्त इति चोच्यते। अविद्यापरिणामरूपं च तद्रजतमविद्याधिष्ठाने इदमवच्छिन्नचैतन्ये वर्तते। अस्मन्मते सर्वस्यापि कार्यस्य स्वोपादानाविद्याधिष्ठानाश्रितत्वनियमात्।

अनुवाद—उपादान के समान सत्ता वाले कार्य को '**परिणाम**' कहते हैं, और उपादान से, विषमसत्तावाले कार्य को '**विवर्त**' कहते हैं। प्रातिभासिक रजत अविद्या की अपेक्षा से '**परिणाम**' है, और चैतन्य की अपेक्षा से '**विवर्त**' कहा जाता है। क्योंकि अविद्यापरिणाम रूप वह रजत उस अविद्या के अधिष्ठानभूत इदमावच्छिन्न चैतन्य में ही विद्यमान है। इसीलिए हमारे (वेदान्तियों के) मत में सभी कार्यों का उपादान कारण अविद्या है, और वे (सभी कार्य) अपने उपादान कारण—अविद्या रूप अधिष्ठान के आश्रित हैं, ऐसा नियम है।

विमर्श—किसी कार्य की सत्ता और उस कार्य के उपादान की सत्ता—दोनों एक सी समान हों तो उसे **परिणाम** कहा जाता है। जैसे मिट्टी व्यावहारिक सत्ता है, तो उसका कार्य घड़ा भी व्यावहारिक सत्ता वाला है, अतः घड़ा मिट्टी का परिणाम हुआ। और जब किसी कार्य की सत्ता और उस कार्य के उपादान की सत्ता—दोनों सत्ताएँ अलग-अलग हों तो उसे **विवर्त** कहते हैं, जैसे सीप व्यावहारिक सत्ता वाली है पर उसका कार्य रजत प्रातिभासिक सत्ता वाला है, अतः रजत सीप का **विवर्त** हुआ। कार्य के अनुसार उपादान कारण भी इसी प्रकार परिणामी उपादान और विवर्ती उपादान दो प्रकार के होते हैं। यह जगत् अविद्या नामक परिणामी उपादान का परिणाम है और चेतन नामक विवर्ती उपादान का विवर्त है। क्योंकि माया और उसका कार्य जगत् दोनों समसत्ताक अनिर्वचनीय हैं। और पारमार्थिक सत्तारूप ब्रह्म और उसका अनिर्वचनीय सत्ता वाला कार्य जगत् दोनों परस्पर विषय सत्ता वाले हैं।

ठीक इसी प्रकार प्रमातृचैतन्य से अभिन्न विषयचैतन्य में रही हुई शुक्तित्व-प्रकारिका अविद्या की सत्ता के समान ही प्रातिभासिक रजत की सत्ता है। अतः शुक्तिरूप अविद्या का परिणाम है। और वह अविद्या अपने अधिष्ठान इदमवच्छिन्न चैतन्य में विद्यमान है। चैतन्य की अपेक्षा वह विषमसत्ताक होने से वह चैतन्य का विवर्त है। ऐसा वेदान्त में कहा गया है।

ननु चैतन्यनिष्ठस्य रजतस्य कथमिदं रजतमिति पुरोवर्ति-तादात्म्यम्? उच्यते। यथा न्यायमते आत्मनिष्ठस्य सुखादेः शरीरनिष्ठत्वेनोपलम्भः शरीरस्य सुखाद्यधिकरणतावच्छेदकत्वात् तथा चैतन्यमात्रस्य रजतं प्रत्यनधिष्ठानतया इदमवच्छिन्नचैतन्यस्य तदधिष्ठानत्वेन इदमोऽवच्छेदकतया रजतस्य पुरोवर्त्तिसंसर्गप्रत्यय उपपद्यते।'

अनुवाद—शंका की जाती है कि, चैतन्यनिष्ठ रजत का 'इदं रजतम्'—'यह रजत है'—इस प्रकार पुरोवर्ती—सामने रही हुई—वस्तु के साथ तादात्म्य कैसे हो सकता है?

उत्तर दिया जाता है कि, जिस प्रकार न्यायमत में आत्मा के रहते हुए भी सुख-दुःखादि की प्राप्ति तो शरीर में ही होती है, क्योंकि सुखादि की अधिकरणता का अवच्छेदक शरीर है। ठीक इसी प्रकार विशुद्ध चैतन्यमात्र को तो रजत का अधिष्ठान हम मानते नहीं हैं किन्तु इदमवच्छिन्न चैतन्य को ही मानते हैं। ऐसे (परिमित) चैतन्य में रहे हुए चैतन्य की अधिष्ठानता का अवच्छेदक (परिच्छेदक) तो इदम् ही है। इसलिए अवच्छेदक के—मर्यादक के—पुरोवर्तित्वधर्म का सम्बन्ध (इदमवच्छिन्नता का सम्बन्ध) चैतन्यनिष्ठ कल्पित सम्बन्ध में दीखता है ।

विमर्श—''पूर्व बताई रीति के अनुसार रजत चैतन्यनिष्ठ है, क्योंकि उस रजत का उपादान कारण अविद्या चैतन्यनिष्ठ हैं, जहाँ कारण होता है वहीं कार्य होता है। तो फिर, रजत चैतन्य में है' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए। इसके बदले 'यह रजत है'—ऐसी पुरोवर्ता प्रतीति क्यों होती है?''—ऐसी शंका का समाधान दिया जा रहा है कि—

न्यायसिद्धान्त में सुखःदुःखादि समवाय सम्बन्ध से आत्मा में ही रहते हैं, फिर भी व्यापक होने पर भी आत्मा में सर्वत्र ही उनकी प्रतीति नहीं होती, किन्तु केवल शरीरावच्छेदेन—शरीर की मर्यादा में ही सुखदुःखादि की प्रतीति होती है। मतलब यह है कि ये सुखदुःखादि रहते तो आत्मा में ही हैं, पर उनका अवच्छेदक मर्यादा बाँधने वाला—परिच्छेदक तो शरीर ही है न? इससे 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि प्रतीति शरीर में ही होती है। ठीक इसी प्रकार रजतकल्पना का अधिष्ठान व्यापक चैतन्य तो नहीं हैं, किन्तु ''शुक्ति का इदमंशावच्छिन्न चैतन्य'' ही है। अर्थात् इदमंशावच्छिन्न चैतन्य रूप अधिष्ठान में ही कल्पित रजत है। और वह 'इदमंश' तो पुरोवर्ता ही है। अतः रजत की पुरोवर्तित्व प्रतीत युक्तिसंगत ही है ।

तस्य च विषयचैतन्यस्य तदन्तःकरणोपहितचैतन्याभिन्नतया विषयचैतन्याध्यस्तमपि रजतं साक्षिण्यध्यस्तं केवलसाक्षिवेधं सुखादिवदनन्यवेद्यमिति चोच्यते ।

अनुवाद—यहाँ पर विषयचैतन्य और अन्तःकरणोपहित चैतन्य अभिन्न हो चुका है। इसलिए विषयचैतन्य में कल्पित रजत भी साक्षी में अध्यस्त माना गया है और केवलसाक्षिवेद्य तथा सुखादि के समान अनन्यवेद्य भी कहा गया है ।

विमर्श—कोई अगर शंका करे कि, रजत तो इदमवच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त है, साक्षिचैतन्य में तो अध्यस्त नहीं है। तो फिर उस अध्यस्त-कल्पित—अरोपित—रजत को 'केवलसाक्षिवेद्यत्व' क्यों कहा जाता है ? और सुखादिकों के समान 'अनन्यवेद्यत्व' भी क्यों कहा जाता है? वेदान्तसम्प्रदाय में ऐसा क्यों कहा गया है? इसका यहाँ उत्तर

दिया जाता है कि—'इदमवच्छिन्न चैतन्य' ही विषयचैतन्य है। और वह तो तद्विषय—**अन्तःकरणोपहित** चैतन्य से भिन्न नहीं है, अन्तःकरण से अवच्छिन्न और अन्तःकरण से उपहित—दोनों चैतन्य अभिन्न ही हैं। (अभिन्न=तद्रूप ही हैं ।) इस कारण से विषयचैतन्य में अध्यस्त होता हुआ भी रजत साक्षी में है ही। इसी तरह वह साक्षिवेद्य और सुखादि की तरह अनन्यवेद्य भी है—ऐसा पद्मपादादि साम्प्रदायिकों का मत सर्वथा मान्य करना चाहिए।

ननु साक्षिण्यध्यस्तत्वेऽहं रजतमिति प्रत्ययः स्यात्। अहं सुखीतिवदितिचेत् उच्यते । न हि सुखादीनामन्तःकरणवच्छिन्न चैतन्यनिष्ठाऽविद्याकार्यत्वप्रयुक्तत्वं अहं सुखीति ज्ञानम् । सुखादीनां घटादिवच्छुद्धचैतन्य एवाध्यासात् । किन्तु यस्य यदाकारानुभवाहितसंस्कारसहकृताऽविद्या कार्यत्वं, तस्य तदाकारानुभवविषयत्वमित्येवानुगतं नियामकम् ।

अनुवाद—पूर्वपक्षी शंका करते हैं कि रजत अगर साक्षी चैतन्य में ही अध्यस्त है, तब तो 'अहं सुखी'—'मैं सुखी हूँ'—इस प्रतीति के समान ही 'अहं रजतम्'—'मैं रजत हूँ'—ऐसी प्रतीति होनी चाहिए। (क्योंकि आपने ही तो कहा है कि जैसे साक्षी में सुखदुःखादि कल्पित हैं, वैसे ही रजत आदि भी तो कल्पित ही हैं)।

समाधान किया जा रहा है कि, सुखदुःखादि, केवल अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में आश्रित अविद्या का कार्य न होने से 'अहं सुखी' ऐसा भान होने में कोई दोष नहीं है । क्योंकि सुखादि का अध्यास तो घटादि की तरह विषयावच्छिन्न शुद्ध चैतन्य में ही होता है अविद्या के कार्य में नहीं (अविद्या की किसी और परिणामात्मक वृत्ति में नहीं) पर (सही बात तो यह है कि—) जिस वस्तु में जिस आकार का अनुभव पहले हुआ हो, उस अनुभव का संस्कार अन्तःकरण में पड़ा हुआ रहता है। पुनः उस संस्कार से सहकृत अविद्या का कार्यत्व उस वस्तु में है। अतः **तद्-आकार-अनुभव-विषयत्व** भी उसमें है। यही सर्वत्र अनुगत प्रतीति का विषय समझना चाहिए ।

विमर्श—पहले यहाँ सवाल उठाया गया है कि सुखादि की प्रतीति हमें आत्मा में होती है, जैसे मैं सुखी हूँ, इत्यादि । क्योंकि आप वेदान्ती के कहने के मुताबिक सुखादि साक्षी में कल्पित हैं। तो इसी तरह रजतादि को भी आप अगर साक्षी में ही अध्यस्त मानते हैं न? तो रजतादि में 'अहं रजतम्' ऐसा भान क्यों नहीं होता?

उत्तर यह है कि सुखादि होते तो शरीर में हैं, शरीर सुखदुःखादियों का अवच्छेदक—सीमा तय करने वाला है। फिर भी ''मैं सुखी हूँ'' ऐसा आत्मनिष्ठ अनुभव होना है, शरीरनिष्ठ नहीं होता। 'यह सुख' ऐसा अनुभव नहीं होता। अर्थात् जिस स्थान में जिस वस्तु का अध्यास होता हो, उसी स्थान में रही हुई अविद्या का उसी स्थान में भान हो''—ऐसा कोई नियम नहीं है। अर्थात् भ्रान्त रजत साक्षी में अध्यमा है, तो साक्षी में ही उस रजत का भान हो ऐसा कोई नियम नहीं है। सुनिए—जैसे सुखदुःखादि, वैसे घटपटादि सभी पदार्थं शुद्धचैतन्य में ही अध्यस्त हैं। फिर भी सुखदुःखादि का अनुभव

हमें 'अहं सुखी' इसी प्रकार आत्मगत रूप से होता है और घटपटादि का अनुभव 'अयं घटः' इस प्रकार बहिर्लक्षी होता है। मतलब कि ऊपर कहने के अनुसार कोई नियामक न हो ।

हम कह आए हैं कि जैसे घटादि शुद्धचैतन्य में अध्यस्त हैं वैसे ही सुखादि भी शुद्धचैतन्य में ही अध्यस्त हैं। दोनों समानरूप से शुद्धचैतन्य में अध्यस्त होने पर भी प्रतीतिभेद दिखाई देता है जैसे **अहं सुखी** और **अयंघटः**। इस प्रतीतिभेद में 'अविद्याकार्यत्व' की कोई नियामकता नहीं है ।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा है तो प्रातीतिभेद का कोई नियामक तो होगा न? इसके बिना तो अव्यवस्था हो जाएगी। तब इसका उत्तर देते हुए वेदान्ती कहते हैं कि—

"जिस विषय का जिस आकार से अनुभव पहले से होता आया है, वह अनुभव अन्तःकरण में वैसा ही संस्कार उत्पन्न करता है। और उस संस्कार से युक्त ऐसी अविद्या का कार्यत्व जिस विषय में होता है, उस विषय में उसी आकार वाला अनुभवविषयत्व आ जाता है ।"—यही सभी जगह पर अनुगत एक नियामक है। अविद्या की कार्यप्रयोजकता अनुभव पर है न कि अध्यास के अधिकरण पर ।

तथा च इदमाकारानुभवाहित-संस्कार-सहकृताऽविद्याकार्यत्वाद् घटादेरिदमाकारानुभवविषयत्वम् । अहमाकारानुभवाहितसंस्कार सहकृताऽविद्याकार्यत्वादन्तःकरणादेरहमाकारानुभवविषयत्वम् । शरीरे-न्द्रियादेरुभयविधानुभवसंस्कारसहिताविद्याकार्यत्वादुभयविधानुभवविषय-त्वम् । तथा चोभयविधोऽनुभवाः इदं शरीरम्, अहं देहोऽहं मनुष्योऽहं ब्राह्मण इदं चक्षुरहं काण इदं श्रोत्रमहं बधिर इति ।

अनुवाद—(पहले कहे गए सर्वत्र अनुगत प्रतीतिरूप नियामक को यहाँ स्पष्ट किया जाता है कि—) घटादि मैं 'अयं घटः', 'यह घट है'—ऐसा अनुभव-विषयत्व इसलिए है कि इदमाकार (यह ऐसे प्रकारवाले) भूतकालीन अनुभव से उत्पन्न संस्कारों से मिली हुई अविद्या का कार्य घट है। इसलिए घट में इदमाकार अनुभव का विषयत्व है। और अन्तःकरणादिकों को अहमाकार (इस प्रकार के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों से युक्त अविद्या का कार्यत्व होने से उन अन्तःकरणादिकों को अहमाकार अनुभव का विषयत्व है ।शरीर, इन्द्रियादिकों को दोनों प्रकार के अनुभवों का विषयत्व है। दोनों प्रकार का अनुभव, जैसे—'यह शरीर', 'मैं देह', 'मैं मनुष्य' 'मैं ब्राह्मण', 'यह आँख', 'मैं काना', 'यह कान', 'मैं बधिर'—इस प्रकार शरीरेन्द्रियादिकों का दोनों का प्रकार का अनुभव होता है—यह तो प्रसिद्ध बात है ।

विमर्श—यों तो जैसे घटादि बाह्य पदार्थ अविद्या के कार्य हैं, वैसे ही अन्तःकरणादि भीतर के पदार्थ भी अविद्या के ही कार्य हैं, और दोनों शुद्ध चैतन्य में ही अध्यस्त हैं फिर

भी प्रतीति भेद क्यों होता है? घटादि के लिए 'अयं घट इत्यादि और सुखादि के लिए 'अहं सुखी' ऐसे प्रतीति भेद—अनुभवभेदक्यों होते हैं? इस प्रश्न को यहाँ सुलझाया जा रहा है कि, घट आदि बाह्य पदार्थों का पहले पहल जो अनुभव हुआ, वह 'अयं घटः' 'अयं घटः' इस प्रकार से ही होता रहा है। इस अनुभव से वैसे ही संस्कार मन में पड़ते रहे। उन्हीं संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से घटादि पदार्थरूप कार्य हुए। अतः इन बाह्य पदार्थों को इदमाकार अनुभव का विषयत्व मिला और अन्तःकरणादि की कारणभूत अविद्या तो अहमाकार अनुभव से उत्पन्न संस्कार वाली (संस्कारसहकृत) है। इसलिए अन्तःकरणादि पदार्थ इहमाकारानुभव के विषय हुए। वाह्य पदार्थ, अतिरिक्त पदार्थ और शरीर-इन्द्रिय आदि सब कुछ अविद्या का ही कार्य है। शरीर और इन्द्रियवादी में तो कभी-कभी अहमाकार और इदमाकार दोनों प्रकार के अनुभवों का विषयत्व आना है। क्योंकि वहाँ दोनों प्रकारों के अनुभवों से उत्पन्न हुए संस्कारों से जुडी हुई अविद्या से पैदा हुए ये कार्य भी ऐसे अनुभवों के विषय होते हैं। जैसे—यह देह, यह आँख, यह कान, मैं मनुष्य, मैं काना, मैं बहरा, मैं मनुष्य, मैं ब्राह्मण, आदि।

प्रकृते च प्रातिभासिक-रजतस्य प्रमातृचैतन्याभिन्नेदमंशावच्छिन्न-चैतन्यनिष्ठाविद्याकार्यत्वेऽपि इदं रजतमिति सत्यस्थलीयेदमंशाकारा-नुभवाहिंतसंस्कारजन्यत्वादिदमाकारानुभवविषयता । न त्वहं रजतमित्य-हमाकारानुभवविषयतेत्यनुसन्धेयम् ।

अनुवाद—अब इस प्रस्तुत प्रसंग में देखें तो प्रातिभासिक रजत, प्रमातृ चैतेन्य से अभिन्न ऐसे (शुक्तिगत) इदमंशावच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ अविद्या ही का कार्य है तथापि व्यावहारिक सत्यरजत का, 'यह रजत' इत्याकारक जो इदमंशाकार अनुभव है, इस अनुभव से उत्पन्न जो संस्कार हैं, उन संस्कारों से उत्पन्न होने के कारण उसे 'यह रजत' ऐसे इदमाकार अनुभव का विषयत्व होता है। यहाँ 'अहं रजतम्' ऐसी अहमाकारानुभव की विषयता नहीं होती ।

विमर्श—कहने का आशय यह है कि प्रातिभासक रजत का उपादान तो अविद्या ही है। वह अविद्या, व्यावहारिक सत्यस्थल में, 'यह रजत' ऐसे अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कार से जुड़ी हुई रहती है। इसीलिए इस प्रातिभासिक रजत का 'यह रजत' ऐसा अनुभव आता है। व्यावहारिक रजत में 'मैं रजत' ऐसा अनुभव तो होता नहीं न? अतः व्यावहारिक 'यह रजत' का जो अनुभव है, उसी के अनुसार प्रातिभासिक रजत का भी 'यह रजत' ऐसा ही भान होगा ।

नन्वेवमपि मिथ्यारजतस्य साक्षात्साक्षि-सम्बन्धितया भानसंभवे-रजतगोचरज्ञानाभासरूपाया अविद्यावृत्तेरभ्युपगमः किमर्थः? इति चेत्, न । स्वगोचरवृत्त्युपहित चैतन्यभिन्नसत्ताकत्वाभावस्य विषयापरोक्षरूप-तया रजतस्यापरोक्षत्वसिद्धये सदभ्युपगमात् ।

अनुवाद—शंका की जाती है, कि ऐसा समाधान करने पर भी मिथ्यारजत का साक्षी से साक्षात्सम्बन्धित्वेन ही भान तो हो सकता है। तब रजतविषयक अज्ञानाभास रूप अविद्या वृत्ति को मानने की क्या आवश्यकता है?

इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि अविद्यावृत्ति का स्वीकार किए बिना मिथ्यारजत का ज्ञान होना संभव ही नहीं है। क्योंकि अपने विषय को रजत की वृत्ति में उपहित चैतन्य से रजत की कोई भिन्न सत्ता नहीं, यही तो विषय का रजत का अपरोक्षत्व है। अतः रजत का अपरोक्षत्व सिद्ध करने के लिए उस वृत्ति का स्वीकार करना पड़ता है।

विमर्श—यहाँ पर शंका अद्वैतवादियों के एकदेशियों की ही है। शंका का आशय यह है कि आपके कथनानुसार प्रातिभासिक रजत का अनुभव **''यह-आकार वाला''** भले ही रहे, पर इसके लिए उस प्रातिभासिक रजत को देखने के लिए अविद्यावृत्ति की क्या जरूरत है? क्योंकि उस शुक्तिरूप का साक्षात् सम्बन्ध तो अनावृत साक्षी से है ही। इसी से उसका प्रत्यक्ष हो ही जाएगा। इसके उत्तर का भाव यह है कि साक्षी में अरोपित रजत की सत्ता वस्तुतः साक्षी से निम्न नहीं है, फिर भी जहाँ तक सक्षिचैतन्य। रजताकारवृत्ति को उपहित नहीं करता, ऐसी वृत्ति साक्षिचैतन्य के समीपस्थ नहीं होती—अर्थात् साक्षिचैतन्य ऐसी वृत्ति की उपाधि वाला नहीं होता, तब तक उस रजत का अपरोक्षज्ञान सम्भव नहीं होता। [विषयाकार **वृत्त्युपहित** चैतन्य से विषय सत्ता का अभिन्नसत्ताकत्व होना ही विषय का अपरोक्षत्व है।]

नन्विदंवृत्ते रजताकारवृत्तेश्च प्रत्येकमेकैकविषयत्वे, गुरुमतवद् विशिष्टज्ञानानभ्युपगमे कुतो भ्रमज्ञानसिद्धिरिति चेन्न। वृत्तिद्वयप्रतिबिम्बितचैतन्यस्यैकस्य सत्यमिथ्यावस्तुतादात्म्यावगाहित्वेन भ्रमत्वस्य स्वीकारात्। अत एव साक्षिज्ञानस्य सत्यासत्यविषयतया प्रामाण्यानियमात् अप्रामाण्योक्तिः साम्प्रदायिकानाम्।

अनुवाद—शंका की जाती है कि, अभी बताए गए अनुसार अविद्यावृत्ति का जब स्वीकार किया ही गया, तब तो एक 'इदंवृत्ति' और दूसरी 'रजताकारवृत्ति'—ऐसी दो वृत्तियाँ आपने भ्रमस्थल में मान ली हैं। उनमें से 'इदंवृत्ति' तो सीप के सामान्य अंश को विषय करती है, और दूसरी जो रजताकार अविद्या वृत्ति है, वह प्रतिभासिक रजत को विषय करती है। दोनों का विषय अलग अलग है। जब ऐसा है, तब तो गुरु के (मीमांसक प्रभाकर मिश्रा के) सिद्धान्तानुसार कोई एक विशिष्ट ज्ञान न मानने से आपके मत में एक भ्रमज्ञान की सिद्धि कैसे होगी?

ऐसी शंका हो, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इदमाकार और रजताकार—दोनों वृत्तियों में प्रतिबिंबित चैतन्य तो एक ही है। एक ही चैतन्य सत्य शुक्ति के समान्य अंश को और मिथ्या रजत के तादात्म्य को प्रकाशित करता रहता है। अतः (तादात्म्य का) एक

ज्ञान होने से उसमें भ्रमत्व का स्वीकार किया गया है। इसीलिए साक्षिज्ञान सत्य और असत्य दोनों ज्ञानों का विषय हो गया। अतः वह प्रामाण्य में कोई नियम न होने से उसका अप्रामाण्य रूप में कथन किया है ।

विमर्श—प्रातिभासिक ज्ञान की प्रत्यक्षता के लिए अविद्यावृत्ति के मानने पर दो वृत्तियाँ हो जाएँगी। (1) अन्तःकरणवृत्ति (2) अविद्यावृत्ति। अन्तःकरणवृति **'इदमाकार'** है और अविद्यावृत्ति **'रजताकार'** है। इदमाकार—अन्तःकरणवृत्ति का विषय है शुक्ति का सामान्य-अंश, और रजतकार—अविद्यावृत्ति का विषय है प्रातिभासिक रजत। तब तो भ्रमथल में कोई एक विशिष्ट ज्ञान तो होगा नहीं, दो ज्ञान हो गए। और ऐसे दो अलग अलग ज्ञान भ्रमस्थल में मानने पर तो जैसे प्रभाकर के मत में भ्रमज्ञान की सिद्धि नहीं होती, वैसे आप—वेदान्ती के मत में भी भ्रमज्ञान की सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि प्रभाकर इदमंश में प्रत्यक्ष और रजतांश में स्मृतिज्ञान को मानकर दोनों के भेदाग्रह से भ्रम होता है, ऐसा मातने हैं। ऐसा पूर्वपक्ष होने पर उत्तरपक्ष का कहना यह है कि, 'इदं रजतम् ' इस भ्रमस्थल में अन्तःकरण की इदमाकार वृत्ति का विषय शुक्ति का सामान्यांश है, और रजताकार वृत्ति प्रातिभासिक रजत को विषय करती है। ये वृत्तियाँ तो दो हैं ही पर उन दोनों वृत्तियों को प्रकाशित करने वाला एकस्थलीय चैतन्य तो एक ही है। [इसलिए वृत्तिभेद है, पर ज्ञानभेद नहीं है।] जैसे इदमवच्छिन्न चैतन्य में रही हुई शुक्तित्वप्रकाशिका अविद्या है। उस शुक्तित्वप्रकारिका अविद्या की हो परिणामात्मक वृत्ति कल्पित रजत को ग्रहण करती है। वृत्तियाँ भले ही दो हों, पर प्रतिबिंम्बित चैतन्य तो एक ही है?

ननु सिद्धान्ते देशान्तरीयरजतमप्यविद्याकार्यमध्यस्तं चेति कथं शुक्तिरजतस्य ततो वैलक्षण्यमिति चेन्न। त्वन्मते सत्यत्वाविशेषेऽपि केषाञ्चित्क्षणिकत्वं केषाञ्चित्स्थायित्वमित्यत्र यदेव नियामकं, तदेव स्वभावविशेषादिकं ममापि । यद्वा घटाध्यासे अविद्यैव दोषत्वेन हेतुः । शुक्तिरूप्याद्यध्यासे तु काचादयोऽपि दोषाः । तथा चागन्तुकदोषजन्यत्वं प्रतिभासिकत्वे प्रयोजकम्। अत एव स्वप्नोपलब्धरथादीनामागन्तुक निद्रादिदोषजन्यत्वात्प्रातिभासिकत्वम् ।

अनुवाद—शंका की जा रही है कि वेदान्त के सिद्धान्तानुसार तो अन्य देश में रहा हुआ रजत भी तो अविद्या का ही कार्य है, और कल्पित ही है। उसी प्रकार शुक्तिरजत भी अविद्या का ही कार्य है और कल्पित है, तब तो फिर उन दोनों प्रकार के रजतों में विलक्षणता क्या है?

उत्तर दिया जाता है कि यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि तुम्हारे—न्याय के मत में भी कुछ पदार्थों में सत्यत्व तो समान ही है, फिर भी बुद्धि में सत्यत्व क्षणिक है, और घट आदि में स्थायी सत्यत्व है, इसका नियामक कोई कारण तो तुमने माना ही होगा,

तो यही कारण—(विशेषता) मेरे (वेदान्ती के) मत में भी सत्य तथा प्रातिभासिक रजत की विलक्षणता में) आ जायगा ।

अथवा तो घट-आदि के अध्यास में अविद्या ही दोषरूप से कारण मानी गई है, और शुक्तिरजत के अध्यास में अविद्या और उसके साथ काच-कामलादि दोष भी कारण हैं। अतः शुक्तिरजत के प्रातिभासिक होने में, 'आगन्तुकदोषजन्यत्व'', (एक और भी) प्रयोजक है। इसीलिए स्वप्न में देखे जाने वाले रथादि पदार्थ भी आगन्तुक—निद्रादोष से जन्य होने से प्रातिभासिक माने गए हैं ।

विमर्श—वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार शुक्तिरजत, जो कि इदमाकारवृत्ति से अवच्छिन्न ऐसे चैतन्य में आश्रित शुक्तित्वप्रकारक अविद्या का कार्य है, और इसीलिए कल्पित भी है। तब तो ठीक इसी प्रकार किसी जौहरी की दुकान में पड़ा हुआ रजत भी तो अविद्या का ही कार्य है और कल्पित भी है । फिर शुक्तिरजत का रजत प्रातिभासिक और दुकान का रजत व्यावहारिक! ऐसी विलक्षणता कहाँ से आई? शुक्तिरजत को अविद्याकार्य और भ्रमरूप तो सिद्ध किया, और दुकान के रजत को व्यावहारिक ठहराया पर सिद्धान्त में तो दोनों रजत अविद्या के ही कार्य हैं, दोनों में कुछ फर्क विलक्षणता तो है नहीं। तब प्रातिभासिक—व्यावहारिक भेद का क्या मूल्य रह गया?

उत्तर देते हुए वेदान्ती कहते हैं—जैसे तुम्हारे न्यायमत में भी शब्द, ज्ञान, इच्छा आदि गुण तथा घटपटादि अन्य सब पदार्थ—इन सब में सत्यत्व एक सा ही है, फिर भी उनमें से शब्दादि में आप क्षणिकत्व और घटादि में स्थायित्व मानते हैं, ऐसे वैलक्षण्य को मानने में जो स्वभावविशेषादि नियामक है वही आपका माना हुआ वैलक्षण्य मेरे शुक्तिरजत और अन्यदेशस्थ रजत के वैलक्षण्य का नियामक है। यहाँ दोनों पक्षों में समान दोष होने से उसका निराकरण भी दोनों को करना चाहिए ।

शुक्तिरूप्यादि की विलक्षणता का एक दूसरा भी कारण (नियामक) है। घट, पट दुकान में पड़ा हुआ रजत—आदि सभी व्यावहारिक पदार्थों में सैद्धान्ति रूप से **पूर्व-अनुभव-जनित-संस्कार-सहित अविद्या** ही दोष माना गया है, जबकि शुक्ति-रजताध्यास में पूर्वोक्त अविद्या के साथ-साथ काचकामलादि आगन्तुक दोष भी माने गए हैं। इसी प्रकार स्वप्न में भी दिखाई देने वाले रथ, घोड़े मार्ग आदि भी आगन्तुक निद्रादोष से उत्पन्न होने से उनको भी प्रातिभासिक ही माना गया है। प्रातिभासिक का कारण, आगन्तुक दोष से उत्पन्न होना ही माना गया है ।

ननु स्वप्नस्थले पूर्वानुभूतरथादेः स्मरणमात्रेणैव व्यवहारोपपत्तौ न सृष्टिकल्पनं, गौरवादिति चेन्न रथादेः स्मरणमात्राभ्युपगमे, 'रथं पश्यामि', 'स्वप्ने रथमद्राक्ष' मित्याद्यनुभवविरोधापत्तेः, 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' इति (बृ. 4/3/10) रथादिसृष्टिप्रतिपादक श्रुतिविरोधा-पत्तेश्च । तस्याच्छुक्तिरूप्यवत् स्वप्नोपलब्धरथादयोऽपि प्रातिभासिकाः यावत्प्रतिभासमवतिष्ठन्ते ।

अनुवाद—शंका होती है कि स्वप्न स्थल में पहले अनुभव किए गए रथ आदि के केवल स्मरण होने से ही व्यवहार चल सकता है। तो फिर वहाँ रथादि की सृष्टि की जरूरत नहीं है क्योंकि ऐसा मानना तो निकम्मा बोझ ही हो जायगा ।

उत्तर यह है कि, ऐसी बात नहीं है, अगर स्वप्न में रथादि का स्मरणमात्र ही मान लें तब, 'रथ को मैं देखता हूँ' 'स्वप्न मैं मैंने रथ देखा'—इत्यादि अनुभव के साथ विरोध आ पड़ेगा। और भी जो श्रुति है, ''वह स्वप्न में रथों को, घोड़ों को और मार्गों की सृष्टि करता है''—(बृह. 4/3/10) इस रथादि सृष्टि का प्रतिपादन करने वाली श्रुति का विरोध आ पड़ेगा। अतः शुक्तिरजत की ही तरह, स्वप्न में प्राप्त रथ आदि भी प्रातिभासिक ही हैं । और जब तक उनका प्रतिभास होता रहता है, तब तक वे बने रहते हैं। ऐसा मानना ही योग्य हैं ।

विमर्श—शुक्तिरजत में रजत के पूर्वस्मरण की कोई बात नहीं है, लेकिन स्वप्न रथादि में पूर्वस्मरण माना गया है। तो स्वप्न में स्मरणमात्र ही व्यवहारचालक बन सकते हैं। नयी पदार्थसृष्टि की कोई आवश्यकता नहीं दीखती। ऐसी प्राभाकर मीमांसकों की शंका है। शंका का उत्तर वेदान्ती लोग इस तरह से दे रहे हैं कि स्वप्न की प्रतीति अनुभवात्मक होती है' मैं देखता हूँ' 'मैंने देखा'—ऐसी अनुभवात्मक है । 'मैंने स्मरण किया' 'मैं स्मरण करता हूँ—ऐसी नहीं होती । और श्रुति भी स्वप्नसृष्टि का ही समर्थन करती है (बृह. 4/3/10) यह श्रुति अनुवाद में दी गई है। आप किसी युक्ति से वेदान्ती की युक्ति का आगे खण्डन कर सकते हैं, पर श्रुति का विरोध तो आप नहीं कर सकते न?

ननु स्वप्ने रथाद्यधिष्ठानतयोपलभ्यमानदेशविशेषस्यापि तदाऽसन्निकृष्टतया अनिर्वचनीयप्रातिभासिकदेशोऽभ्युपगन्तव्यः। तथा च रथाद्यध्यासः कुत्रेति चेन्न, चैतन्यस्य स्वयंप्रकाशस्य रथाद्यधिष्ठानत्वात्। प्रतीयमानं रथाद्यस्तीत्येव प्रतीयते इति सद्रूपेण प्रकाशमानं चैतन्यमेवाधिष्ठानम्। देशविशेषोऽपि चिदध्यस्तः प्रातिभासिकः, रथादाविन्द्रियग्राह्यत्वमपि प्रातिभासिकम्। तदा सर्वेन्द्रियाणामुपरमात्। 'अहं रथः'-इत्यादिप्रतीत्यापादनं तु पूर्ववन्निरसनीयम् । स्वप्नगजादयः साक्षान्मायावच्छिन्ना इति केचित्। अन्तःकरणद्वारा तत्परिणाम इत्यन्ये ॥

अनुवाद—यहाँ शंका है कि, स्वप्न में तो रथ आदि का देश भी दीखता है । जिस देश में रथ आदि रहते हैं वह रथ का आश्रयभूत देश भी दीखता है। (उसे जाग्रत्कालीन व्यावहारिक देश तो नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसके साथ तो संनिकर्ष है नहीं) अतः विवश होकर अनिर्वचनीय और प्रातिभासिक देश मानना ही पड़ेगा। तो अब रथादि का अध्यास किस देश में होता है ?

उत्तर यह है कि स्वयंप्रकाश चैतन्य ही रथादि का अधिष्ठान है (रथादि का अध्यास स्वयं प्रकाश चैतन्य में होता है) इसलिए 'सत्' रूप से प्रकाशमान चैतन्य ही स्वप्न में दिखाई देने वाले रथ आदि का आश्रय माना गया है। स्वप्न के देश विशेष भी तो चैतन्य में कल्पित—अध्यस्त हैं। अतः प्रातिभासिक ही हैं। स्वप्न-रथादि में इन्द्रियग्राह्यत्व भी प्रातिभासिक है। क्योंकि सभी इन्द्रियाँ स्वप्न में उपरत हो चुकी हैं। 'अहं गजः'—'मैं हाथी हूँ'—ऐसी प्रतीति की शंका का निराकरण पहले कही गई रीति के अनुसार कर लेना चाहिए। स्वप्न में गजादि दृश्य साक्षात् माया के परिणाम हैं, ऐसा कुछ लोग कहते हैं, दूसरों के अनुसार अन्तःकरण द्वारा माया के परिणाम स्वप्न रथादि हैं ।

विमर्श—शंकाः 'शुक्तिरजत' की ही तरह 'स्वप्नरथादि' भी आपके मत में प्रातिभासिक है, पर 'शुक्तिरजत' में अधिष्ठान सामने सीप के रूप में प्रत्यक्ष है, ऐसा 'स्वप्नरथादि' में अधिष्ठान समाने कहाँ दिखाई देता है? तब आपको अधिष्ठान बताना होगा। शुद्ध चैतन्य या 'अवच्छिन्न चैतन्य' तो उसका अधिष्ठान नहीं बन सकता क्योंकि 'रजतज्ञान' की निवृत्ति पर जैसे सीप दिखाई देता है, ऐसे स्वप्नरथादि की निवृत्ति के बाद कोई चैतन्य तो नहीं दिखाई पड़ता। और स्वप्न तो यों ही चला गया ।

ऐसी बहुयुक्तियुक्त शंका का समाधान यह है कि स्वप्नावस्था में प्रतीत होने वाले रथादि का अधिष्ठान चैतन्य ही है। और उस अवस्था में दिखाई देने वाला देशविशेष भी तो बाह्य नहीं, पर अनिर्वचनीय और प्रातिभासिक ही है। वाह्य देश के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है, केवल स्वप्नद्रष्टा चैतन्य में हाथी-घोड़े, मार्ग आदि सभी कल्पित हैं। और उन सब का अधिष्ठान भी स्वप्रकाश चैतन्य ही है। द्रष्टा अपने में अधिष्ठित कल्पित दृश्य वस्तुओं को देख रहा है। यदपि उस प्रकाश चैतन्य में सामने पड़ी हुई वस्तु की तरह कोई **''वृत्ति-अवच्छिन्न ज्ञान''** विषयत्व तो नहीं पड़ा है, फिर भी वह अधिष्ठान तो बन ही सकता है। स्वयंप्रकाश चिद्रूप—सदा भासमान सत् सब का अभिष्ठान है, इतना ज्ञान होना ही आवश्यक है, फिर उस अधिष्ठान में क्या क्या अधिष्ठित होता है, इसका जानना इतना जरूरी नहीं माना जाता। अतः रथादि कल्पना का वह अधिष्ठान बन ही सकता है, और कल्पित वस्तु में अधिष्ठान का तादात्म्य तो देखा ही गया है । उस अधिष्ठान में चाहे वृत्त्यवच्छिन्न ज्ञान का विषयत्व न हो, पर कल्पित ज्ञान का विषयत्व तो है न? बस इतना ही काफी है ।

व्यवहार में 'यह गज' ऐसी प्रतीति होती रहती है। इसलिए स्वप्न में भी 'यह गज'—ऐसी प्रतीति होती है। परन्तु 'स्वप्नगजादि' साक्षात् माया के ही परिणाम हैं, अर्थात् मूला-अविद्या के ही परिणाम हैं, ऐसा कुछ लोग कहते हैं, और कुछ लोग इन स्वप्नगजादिको को अन्तःकरण के द्वारा माया के परिणाम मानते हैं। पर अहं गजः के बदले गजः अयं की प्रतीति का कारण तो पहले बताया जा चुका है, वह यहाँ पर जोड़ देना चाहिए ।

ननु गजादेः शुद्धचैतन्याध्यस्तत्वे इदानीमधिष्ठानसाक्षात्काराभावेन जागरणेऽपि स्वप्नोपलब्धगजादयोऽनुवर्तेरन्। उच्यते। कार्यविनाशो हि द्विविधः–कश्चिदुपादानेन सह, कश्चिद् विद्यमान एवोपादाने। आद्यो बाधः, द्वितीयस्तु निवृत्तिः। आद्यस्य कारणमधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारः तेन विनोपादानभूताया अविद्याया अनिवृत्तेः। द्वितीये विरोधिवृत्त्युत्पत्तिर्दोषनिवृत्तिर्वा। तदिह ब्रह्मसाक्षात्काराभावात् स्वप्नप्रपञ्चो मा बाधिष्ठ, मुसलप्रहारेण घटादेरिव विरोधिप्रत्ययान्तरोदयेन स्वजनकीभूतनिद्रादिदोषनाशेन वा गजादि निवृत्तौ को विरोधः?

अनुवाद—शंका की जा रही है कि, यदि स्वप्न में गजादि शुद्ध चैतन्य में अध्यस्त हैं, तो अभी जाग्रत् अवस्था में स्वाप्निक गजादि का अधिष्ठान शुद्धचैतन्य जो है, उसका सक्षात्कार न होने के कारण, जागरण में भी स्वप्नगजादि का अनुवर्तन होना चाहिए। (आशय यह है कि अध्यस्त पदार्थ के चले जाने पर अधिष्ठान दिखाई देना चाहिए। सो तो जागरण में, स्वाप्निक गजादि को चले जाने पर भी नहीं दिखाई देता तो उस पर अध्यस्त का दृश्य चालू ही रहना चाहिए न स्वाप्न गजादि का दर्शन भी चालू हो रहना चाहिए न?)

इस शंका का समाधान इस तरह किया जाता है कि कार्य का विनाश दो तरह से माना गया है : (1) उपादान से सहित कार्य का नाश, और (2) उपादान के रहते हुए केवल कार्य का ही नाश। पहले को **'बाध'** कहा जाता है, और दूसरे को निवृत्ति। उनमें पहले बाध का कारण तो अधिष्ठानतत्त्व का साक्षात्कार ही है । क्योंकि अधिष्ठानतत्त्व के बिना तो उस कल्पित पदार्थ की निवृत्ति हो ही नहीं सकती। परन्तु जो दूसरा कार्यनाश—(निवृत्ति) है, वह तो उसकी विरोधी वृत्ति की उत्पत्ति तथा दोषनिवृत्ति से भी उत्पन्न हो सकता है इसलिए स्वप्न से जागने पर भी ब्रह्मसाक्षात्कार न होने के कारण मनुष्य को स्वप्नसृष्टि का बाध भले ही न माना जाए, परन्तु 'निवृत्ति' (दूसरे प्रकार का कार्यनाश) तो मानी ही जा सकती है। उसमें कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार मुसलप्रहार से घटादि कार्य अपने मिट्टी रूपी कारण में मिल जाते हैं, वैसे ही स्वप्नविरोधी जाग्रत्कालीन ज्ञान से स्वप्न हटजाता है ।

विमर्श—अधिष्ठान का ज्ञान होने पर, उस अधिष्ठान में क़ल्पित पदार्थों की निवृत्ति होती है स्वप्नगजादि का अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य है, विशिष्ट चैतन्य नहीं है। अतः उस शुद्ध चैतन्यरूप अधिष्ठान के ज्ञान से ही स्वप्नगजादि की निवृत्ति होनी चाहिए। फिर भी स्वप्न से जागे हुए मनुष्य को उस शुद्ध चैतन्याधिष्ठान का ज्ञान न होने पर भी स्वप्नगजादि की निवृत्ति क्यों हो जाती है?—यह शंका का आशय है ।

सिद्धान्ती के उत्तर का अभिप्राय यह है कि, भले ही अधिष्ठानतत्त्व के साक्षात्कार के बिना, अध्यस्त का **नाश** न होता हो, पर उसकी निवृत्ति तो हो सकती है, और नाश

(बाध) और निवृत्ति में अन्तर है। बाध अपने उपादान समेत ही होता है। और निवृत्ति उपादान के रहते हुए भी हो सकती है। यहाँ स्वप्नगजादि की निवृत्ति ही होती है बाध (समूल नाश) नहीं होता । ज्यों ही जाग्रत् रूप विरोधी वृत्ति का उदय हुआ, अथवा ज्यों ही निद्रादि दोष चले गए त्यों ही स्वप्नगजादि चले गए। (2) उसका कारण अविद्या तो बनी ही रही हैं। इसे 'निवृत्ति' कहते हैं—बाद्य तो समूल नाश है, निवृत्ति ऐसी नहीं ।

एवं च शुक्तिरूप्यस्य शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठतूलाविद्या-कार्यत्वपक्षे, शुक्तिरिति ज्ञानेन तदज्ञानेन सह रजतस्य बाधः। मूलाविद्याकार्यत्वपक्षे तु मूलाविद्याया ब्रह्मसाक्षात्कारमात्रनिवर्त्यतया रजतस्य तत्र शुक्तिज्ञानान्निर्वृत्तिमात्रम् । मुसलप्रहारेण घटास्येव ।

अनुवाद—(कार्य का नाश दो प्रकार का होता है—ऐसा सिद्ध होने पर) यदि शुक्ति रजत को शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य में रही हुई **तूलाविद्या** का कार्य मानें, तब तो "यह शुक्ति है"—ऐसा ज्ञान होते ही शुक्तिविषयक अज्ञान का नाश और रजत का बाध दोनों एक साथ हो जाएँगे। परन्तु अगर शुक्तिरूप को शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य में रही हुई, **'मूलाविद्या'** का कार्य मानें, तब मूलाविद्या की निवृत्ति तो केवल ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार से ही होती है (शुक्तित्व ज्ञान से नहीं)। इसलिए दण्डप्रहार से जैसे घटादि (कार्य) की अपने कारण (मिट्टी) में विलय रूप निवृत्ति के समान ही शुक्ति के ज्ञान से रजत का अपने उपादानकारण **मूलाविद्या** में विलय रूप निवृत्तिमात्र ही होता है ।

विमर्श—वेदान्तसिद्धान्त में अधिष्ठान के ज्ञान से शुक्तिरजत का बाध (समूल नाश) होता है या केवल निवृत्ति (उपादान के रहते हुए भी) होती है? इस प्रश्न का उत्तर अब दिया जा रहा है। दो प्रकार के कार्यनाशों को बताने के बाद अब शुक्तिरजत की उत्पत्ति के भी दो कारण बताए जा रहे हैं, कि (1) तुलाविद्या, और (2) मूलाविद्या। शुद्ध ब्रह्म को आच्छादन करने वाली अविद्या को 'मूलाविद्या'' कहलाती है, और कार्यविशिष्ट ब्रह्म को आच्छादन करने वाली अविद्या को तूलाविद्या कहा जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में तूलाविद्या का अर्थ, "शुक्ति-अवच्छिन्न चैतन्य की आच्छादिका अविद्या"—ऐसा हुआ। अब 'शुक्तिरजत' को यदि इसी अविद्या का कारण माना जाए तब तो 'यह शुक्ति है'—ऐसा ज्ञान होते ही उस 'शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्याश्रित अविद्या का नाश हो जाता है। और उसके साथ ही अविद्याकार्य रजत का भी नाश हो ही जाता है। इसी को 'बाध' कहा जाता है ।

परन्तु, यदि शुक्तिरजत को मूलाविद्या का कार्य मानें, तब मूलाविद्या की निवृत्ति तो ब्रह्मज्ञान के सिवा और किसी से नहीं होती। इसलिए शुक्ति का ज्ञान हो जाने से मूलाविद्या की निवृत्ति नहीं होती और स्वप्न से जागे हुए आदमी को ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो गया है—ऐसा तो हम मानते नहीं। अतः सिर्फ शुक्तित्व के ज्ञान से ही मूलाविद्या की निवृति नहीं हो सकेगी ।

ननु शुक्तौ रजतस्य प्रतिभाससमये प्रातिभासिकसत्ताऽभ्युपगमे, ''नेदं रजतम् इति त्रैकालिकनिषेधज्ञानं न स्यात् , किन्तु'' इदानीम् इदम् न रजतम्'' -इति स्यात् । ''इदानीं'' घटः श्यामो न'' -इति यत् । इति चेत् न, न हि तत्र रजतत्वावच्छिन्नप्रतियोगितकाभावो निषेधविषयः। किन्तु लौकिकपारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रातिभासिकरजतप्रतियोगिताकः। व्याधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावाभ्यष्युवगमात् ।

अनुवाद—शंका है कि शुक्ति में जब रजत का प्रतिभास होता है, उस समय में आपने रजत की प्रातिभासिक सत्ता मानी है। तब तो ''यह रजत नहीं है''—ऐसे त्रैकालिक निषेध का ज्ञान नहीं हो सकता, पर ''इस समय यह रजत नहीं है'—ऐसा ही ज्ञान हो सकता है। जैसे पके हुए घड़े को, ''इस समय यह घड़ा काला नहीं है''—ऐसा ही कहा जाता है। (ठीक इसी प्रकार ''इस समय यह रजत नहीं है—'' ऐसा ही कहना होगा? अतः इस ज्ञान को त्रैकालिक निषेध नहीं कह सकते ।

उत्तर में कहा जाता है कि ''नेदं रजतम्'' —'यह रजत नहीं है''—ऐसे त्रैकालिक निषेध में हम, 'रजतत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव'' को निषेधबुद्धि का विषय नहीं मानते। किन्तु,'' व्यावहारिकत्वावच्छिन्न प्रातिभासिक रजतत्वाभावप्रतियोगिताक अभाव को ही निषेध बुद्धि का विषय मानते हैं ।'' (त्रैकालिक निषेध बुद्धि का विषय मानते हैं।) इस तरह व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिकाभाव मानने पर उक्त दोष नहीं होगा ।

विमर्श—माना कि शुक्तिरजत अविद्याकार्य है। फिर भी रजतप्रतीति में आप प्रातिभासिक **'सत्ता'** के। मानते ही हैं। यदि शुक्तिरजत देखते समय आपने उसमें प्रातिभासिक **सत्ता (अस्तित्व)** मान ही ली तो जब बाद में रजत चला जाता है, तब आपको 'यह रजत नहीं है' ऐसा कहने के बदले ''अब यहाँ रजत नहीं है' ऐसा ही कहना उचित है। क्योंकि आप रजत का 'कालिक' निषेध ही कर सकते हैं, त्रैकालिक निषेध नहीं कर सकते क्योंकि प्रातिभासिक भी एक 'सत्ता' है, एक 'अस्तित्व' है ।—ऐसा पूर्वपक्षी की शंका का आशय है ।

वेदान्ती उत्तर देते हैं कि हम शुक्तिरजत के प्रतीतिकाल में प्रातिभासिक सत्ता भी मानते हैं, और बाद में केवल अधिष्ठान प्रतीति के काल में रजत निषेध ज्ञान त्रैकालिक निषेध ज्ञान भी मानते हैं । फिर भी यहाँ कुछ **रहस्यपूर्ण** बात है । 'नेदं रजतम्'—'यह रजत नहीं है'—यह त्रैकालिक—तीनों काल में रहने वाला—निषेधज्ञान है। अब जिसका निषेध हाँ किया गया, वह इस निषेध का प्रतियोगी कहा जाता है। (यस्याभावः स प्रतियोगी) अर्थात् यहाँ रजत का प्रतिषेध किया गया है, इसलिए इस निषेध (अभाव) का प्रतियोगी रजत हुआ । प्रतियोगी में रहने वाले धर्म को 'प्रतियोगिता' कहा जाता है। ऐसी प्रतियोगिता (धर्म) का अवच्छेदक (धर्मी) जो प्रतियोगी (रजत) है, उसमें अपना एक असाधारण धर्म हुआ करता है । उदाहरण के रूप में जैसे, 'घटः नास्ति'—घड़ा

नहीं हैं''—यहाँ घट प्रतियोगी है, प्रतियोगिता घट में है, इस प्रतियोगिता का अवच्छेदक (अर्थात् प्रतियोगी का घट का असाधारण धर्म) घटत्व हुआ । उसी प्रकार प्रस्तुत स्थल में भी—'नेदं रजतम्' 'यह रजत नहीं है'—यहाँ भी प्रतियोगी रजत है, प्रतियोगिता रजत में है, इस प्रतियोगिता का अवच्छदेक (अर्थात् प्रतियोगी रजत का असाधारण धर्म रजतत्व हुआ।) अब जैसे घट का निषेध घटत्वरूप से भी होता है, और पटत्वरूप से (घटत्वान्यरूप से) भी होता है—अर्थात् दो तरीक़ों से किया जा सकता है, उसी तरह रजत का निषेध भी 'रजतत्वरूप में' अथवा तो रजतत्वान्यत्वरूप से—दोनों तरह किया जा सकता है। घट का घटत्वरूप से जब निषेध करते हैं, तब वह निषेध ''समानाधिकरण धर्मावच्छिन्न निषेध करते हैं। तब वह निषेध, 'समानाधिकरण धर्मावच्छिन्न प्रतियोगी का अभाव कहा जाता है। घटत्वरूप से घट का निषेध करने पर 'समानाधिकरण धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिका अभाव होता है, क्योंकि घट में प्रतियोगिता भी है और घटत्वभी है—दोनों हैं। जहाँ प्रतियोगिता है, वही उस प्रतियोगिताका अवच्छेदक—व्यावर्तक रहे, उन दोनों में समानाधिकरण माना जाएगा। क्योंकि घटत्व ही घट का असाधारण धर्म है। जैसे 'घटो नास्ति'—'घट नहीं है'—इसकी प्रतियोगिता घट में है और प्रतियोगिता का अवच्छेदक घटत्व भी घट में है। परन्तु जब, 'पटत्वेन घटो नास्ति'—'पटत्व से घट नहीं है'—ऐसा कहते हैं, तो इस घटनिषेध का प्रतियोगी 'घट' है, प्रतियोगिता घट में है, [पर प्रतियोगिता का अवच्छेदक तो 'घट' में नहीं है, वह तो पट में है। ऐसे धर्म को व्यधिकरण धर्म कहते हैं।] ऐसा व्यधिकरणावच्छिन्न प्रतियोगिकाभाव तो सर्वत्र रहता है ।

ऐसे ही 'नेदं रजतम्' —'यह रजत नहीं है'—यहाँ रजत प्रतियोगी है, प्रतियोगिता रजत में रहती है, अब यदि उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक—असाधारण धर्म रजतत्व को मानें, तब तो वह रजत में रही हुई प्रतियोगिता का समान धर्म हो गया। तो ऐसी अवस्था में त्रैकालिक निषेध नहीं किया जा सकता, वह तो ठीक ही है ।

परन्तु, प्रातिभासिक रजत में हमने व्यावहारिकत्व का तो स्वीकार किया नहीं है। उसी व्यावहारिकत्व रूप से आज, 'नेदं रजतम्'—'यह रजत नहीं है'—ऐसा निषेध करते हैं। उसमें तो रजतनिष्ठ प्रतियोगिता का अवच्छेदक (असाधारण धर्म) व्यावहारिकत्व हुआ, वह तो उस प्रतियोगिता के लिए व्यधिकरणधर्म हुआ। और ऐसा व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगी का भाव तो सभी जगत रहता है—(वह केवलान्वयी' है) ।

प्रस्तुत स्थान में 'नेदं रजतम्'—इस त्रैकालिक निषेधज्ञान का विषय यों तो रजताभाव ही है, परन्तु वह रजतत्वावच्छिन्न प्रतियोगिकाभाव नहीं है, किन्तु व्यावहारिकावच्छिन्न प्रतिभासिकरजत प्रातियोगिक अभाव है। अर्थात् रजत पारमार्थिक नहीं है ।

ननु प्रातिभासिके रजते पारमार्थिकत्वमवगतं न वा? अनवगमे प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न रजतसत्त्वज्ञानाभावादभावप्रत्यक्षानुपपत्तिः अवगमे अपरोक्षावमासस्य तत्कालीन-विषयसत्तानियतत्वात् रजते

पारमार्थिकत्वप्यनिर्वचनीयं रजतवदेवोत्पन्नमिति तदवच्छिन्नरजतसत्त्वे तदवच्छिन्नत्वाभावस्तत्र कथं वर्तते इति चेत् न। पारमार्थिकत्व-स्याधिष्ठाननिष्ठस्य रजते प्रतिभाससम्भवेन रजतनिष्ठपारमार्थिकत्वो त्पत्त्यनभ्युपगमात्। यत्रारोप्यमसन्निकृष्टं, तत्रैव प्रतिभासिक-वस्तूत्पत्तेरङ्गीकारात्।

अनुवाद—एक और शंका है कि जब आप शुक्ति में रजत देखते थे, तब उस काल में उस रजत में आप पारमार्थिकत्व (व्यावहारिकत्व) जानते थे या नहीं? यदि आपको उस समय उसमें व्यावहारिकत्व नहीं दीखता था—ऐसा आप कहें तो ठीक नहीं, क्योंकि रजत में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक—अर्थात् **रजतत्व** के ज्ञान के अभाव में उसके अभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता और अगर उस समय आपको उस प्रतिभासिक रजत में पारमार्थिकत्व का (व्यावहारिकत्व का) ज्ञान हुआ था, तो उस प्रत्यक्षज्ञान के विषय की '**तत्कालीनविषयसत्ता**' को नियत रूप से मानना ही पड़ेगा। (अर्थात्—) उस शुक्तिरजत में पारमार्थिक (लौकिक पारमार्थिक) (व्यावहारिक) ज्ञान का विषय रजत भी अनिर्वचनीय रजत के समान ही उत्पन्न हुआ है—ऐसा मानना पड़ेगा। अब, जब उसी काल में उत्पन्न अनिर्वचनीय पारमार्थिकत्व से अवछिन्न रजत यहाँ विद्यमान ही है, तो भला उसमें पारमार्थिकता से अवच्छिन्न प्रातिभासिक रजतप्रतियोगिता का अभाव कैसे रह सकता है?

समाधान है कि शुक्ति में रहने वाले पारमार्थिकत्व का ही प्रातिभासिक रजत में आभास सम्भव होते से उसमें अनिर्वचनीय व्यावहारिकत्व की उत्पत्ति नहीं मानते। जहाँ पर आरोप्य वस्तु समीप न हो, वहीं प्रातिभासिक वस्तु की उत्पत्ति मानी जाती है।

विमर्श—किसी भी अभाव के प्रत्यक्ष के लिए उसके प्रतियोगी का पहले से प्रत्यक्ष होना आवश्यक है। अगर घट का प्रत्यक्ष नहीं हुआ, तब घटाभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता प्रतियोगिज्ञान, अभावज्ञान का कारण है। अब प्रातिभासिक रजत में आपने जिस व्यावहारिकत्व रूप व्यधिकरणधर्म को माना है, उस व्यावहारिकत्व का प्रत्यक्ष आपको प्रातिभासिक रजत को देखने के समय में होता है या नहीं? आपने तो प्रातिभासिक रजत में **व्यावहारिकत्वरूप** व्यधिकरणधर्म को माना तो है ही ? यदि प्रातिभासिक रजत को देखने के समय में आप व्यावहारिकत्व को उस समय वहाँ नहीं देखते, तब तो आपको केवल रजताभाव का ही ज्ञान होता, उसमें रहे हुए व्यावहारित्व रूप व्यधिकरण का ज्ञान तो नहीं हुआ ! अर्थात् '**व्यावहारिकत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक**'—रजताभाव का ज्ञान तो किसी भी तरह संभव न हुआ। क्योंकि प्रतियोगी के ज्ञान के बिना तो उसके अभाव का ज्ञान कभी सम्भव नहीं है। और यदि प्रातिभासिक रजत में रजतप्रतीति के समय व्यावहारिकत्व को भी आपने माना है, तो उसकी सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ेगी। क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान का विषय उस समय

अवश्य उपस्थित होना चाहिए। ज्ञान तत्कालीन विषय की सत्ता से नियत होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में तो यह बहुत आवश्यक हो जाता है कि वहाँ विषयज्ञान की सत्ता होनी चाहिए। प्रातिभासिक रजत में दिखाई देने वाला पारमार्थिकत्व वास्तम में है नहीं, तथापि दिखाई पड़ता है। इसलिए यहाँ पर अनिर्वचनीय रजत के समान ही पारमार्थिकत्व अनिर्वचनीय ही उत्पन्न हुआ ऐसा मानना पड़ेगा। और तब तो फिर पारमार्थिकत्वावच्छिन्न प्रातिभासिक रजत के रहते हुए भी उसमें पारमार्थिकत्वावच्छिन्न रजत का अभाव उसमें कैसे रह सकेगा? —यह शंका का अभिप्राय है ।

यहाँ पर वेदान्ती का उत्तर है कि रजत के अभाव के समय में, उस प्रातिभासिक रजत में पारमार्थिक रजत का ज्ञान होना हम मानते हैं, पर वह पारमार्थिकत्व (लौकिकपारमार्थिक= व्यावहारिकत्व) का उसी अनिर्वचनीय रजत के समान वहाँ उत्पन्न होना नहीं मानते। क्योंकि शुक्तिरजत का अधिष्ठान शुक्ति है उस शुक्ति में व्यावहारिकत्व है ही। और उसी व्यावहारिकत्व का प्रातिभासिक रजत में भान होता है। जब उसी व्यावहारिकत्व का भान होना प्रातिभासिक रजत में संभव ही है। इसलिए यहाँ व्यावहारिकता की उत्पत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो चीज़ वहाँ न हो, उसकी उत्पत्ति मानी जानी चाहिए। जैसे वहाँ रजत न होने पर भी दिखाई देता है, तो उसकी उत्पत्ति मान लो। व्यावहारिकत्व तो शुक्ति मैं पड़ा ही है ।

अत एवेन्द्रियसन्निकृष्टतया जपाकुसुमगतलौहित्यस्य स्फटिके भानसंभवात् न स्फटिके लौहित्योत्पत्तिः ।

अनुवाद—इसलिए इन्द्रिय से सम्बन्ध होने के कारण, 'स्फटिक लाल है'—ऐसे स्थल में, जपाकुसुम की लालिमा का स्फटिक में भान संभव होने से, उस स्फटिक में किसी अनिर्वचनीय लाली की उत्पत्ति नहीं मानी गई ।

विमर्श—प्रातिभासिक रजत का अधिष्ठान, जो शुक्ति है, उसका पारमार्थिकत्व (व्यावहारिकत्व) तो नेत्र के साथ सन्निकृष्ट ही है। जब प्रातिभासिक रजत के साथ तादात्म्य कर वही दीख रहा है, तो उसकी उत्पत्ति क्यों मानते? देखिए न जपाकुसुम के समक्ष रखे गए स्फटिक में जब लाली दीखती है, तो हम 'स्फटिक लाल है'—ऐसा तादात्म्यानुभव तो करते हैं, पर स्फटिक मैं लाली की उत्पत्ति नहीं मानते। क्योंकि जपाकुसुम की लाली का ही उसमें भान होता है। फिर किसी अनिर्वचनीय लाली का मानना तो निरर्थक है ।

नन्वेवं यत्र जपाकुसुमं द्रव्यान्तरव्यवधानादसन्निकृष्टं तत्र लौहित्य प्रतीत्या प्रातिभासिकं लौहित्यं स्वीक्रीयतामिति चेत् न, इष्टत्वात् । एवं प्रत्यक्षभ्रमान्तरेष्वपि प्रत्यक्षसामान्यलक्षणानुगमो यथार्थप्रत्यक्षलक्षणा-सद्भावश्च दर्शनीयः ।

अनुवाद—अगर ऐसा हो, तो जहाँ जपाकुसुम दूसरे किसी द्रव्य के द्वारा व्यवहित होने से असन्निकृष्ट हो गया हो, वहाँ अगर लाली देखी जाए, तो वहाँ आपको प्रातिभासिक लाली का स्वीकार करना होगा,। ऐसी शंका करने पर कहा जाता है कि हाँ, स्फटिक और जपाकुसुम की असन्निकृष्टता ने स्थल में दिखाई देने वाली लाली को तो हम भी अनिर्वचनीय मानते ही हैं ।

इस प्रकार अन्यान्य प्रत्यक्षभ्रमों में भी प्रत्यक्ष का सामान्यलक्षण—'चित्त्व' का अनुगम और यथार्थ प्रत्यक्षलक्षण का अभाव समझ लेना चाहिए। (याद रखिए कि 'अनधिगत-अबाधित-विषयक-ज्ञानत्वम् प्रमात्वम्।)

विमर्श—ऊपर का सब स्पष्ट ही है। फिर से प्रत्यक्ष के सामान्य लक्षण की याद दिलाई जा रही है कि प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण 'चित् ' ही है। यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म इस श्रुति का प्रमाण पहले दिया जा चुका है। और यथार्थ प्रत्यक्ष का लक्षण भी फिर से देख लेना चाहिए। और बाद में, भ्रमस्थल में यथार्थ लक्षण में बताई गई किस बात की कमी है, उसका विवेचन करना चाहिए ।

उक्तं प्रत्यक्षं प्रकारान्तरेण द्विविधम्। इन्द्रियजन्यं तदजन्यञ्चेति। तत्रेन्द्रियाजन्यं सुखादिप्रत्यक्षं, मनस इन्द्रियत्वनिराकरणात्। इन्द्रियाणि पञ्च घ्राणरसनचक्षुःश्रोत्रत्वगात्मकानि। सर्वाणि चेन्द्रियाणि स्वस्व-विषयसंयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञानं जनयन्ति। तव घ्राण-रसन-त्वगिन्द्रियाणि स्वस्थानस्थितान्येव गन्ध-रस-स्पर्शोपलम्भान् जनयन्ति, चक्षुःश्रोत्रे तु स्वत एव विषयदेशं गत्वा स्व-स्वविषयं गृह्णीतः। श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतया भेर्यादिदेशगमनसंभवात्। अत एवानुभवो, 'भेरीशब्दो मया श्रुतः' इति। वीचितरंगादिन्यायेन कर्णशष्कुली-प्रदेशेऽनन्तशब्दोत्पत्तिकल्पनायां गौरवम्।' 'भेरीशब्दो मया श्रुतः' इति प्रत्यक्षस्य भ्रमत्वकल्पनायां गौरवं च स्यात्। तदेवं व्याख्यातं प्रत्यक्षम्।

इति वेदान्तपरिभाषायां प्रत्यक्षपरिच्छेदः ।

अनुवाद—अन्य प्रकार से पूर्वोक्त प्रत्यक्ष दो प्रकार का है : (1) इन्द्रियजन्य, (2) इन्द्रियाजन्य। इन दोनों में सुख आदि का प्रत्यक्ष इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष है क्योंकि हमने मन के इन्द्रियत्व का खण्डन पहले कर ही दिया है। इन्द्रियाँ पाँच हैं :—घ्राण, रसना, नेत्र, त्वचा और श्रोत्र। सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से संयुक्त होकर ही प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न करती हैं। उनमें घ्राण, रसना और त्वचा तो अपने अपने गोलक में रहकर ही गन्ध, रस और स्पर्श ज्ञान को उत्पन्न करती हैं परन्तु नेत्र और श्रोत्र तो स्वयं ही विषयदेश में जाकर अपने अपने विषयों को ग्रहण करते हैं। श्रोत्र भी चक्षु आदि की तरह परिच्छिन्न होने से भेदी-वाद्य आदि के स्थानों में जा सकती है, इसीलिए ''मैंने भेरी

सुनी''—ऐसा अनुभव होता है। न्यायमत के अनुसार वीचितरंगन्याय तथा कदम्बमुकुल न्याय के अनुसार कर्णशष्कुलि प्रदेश में अनेक शब्दों की उत्पत्ति की कल्पना में गौरव है। ''मैंने भेरी का शब्द-सुना' इस प्रकार के प्रत्यक्षज्ञान में भ्रमत्व कल्पनारूप गौरव-दोष भी आ जायगा। इस प्रकार हमने प्रत्यक्षव्याख्या कर दी ।

विमर्श—सब स्पष्ट है, फिर भी कुछ कहते हैं। इन्द्रियों के सद्भाव में ''तमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति' इत्यादि श्रुति प्रमाण हैं। इन्द्रियाँ विषयसम्बन्ध होने पर ही ज्ञान प्राप्त करती हैं श्रोत्र और चक्षु विषयदेश में जाकर और अन्य तीन अपने गोलक में रहकर ही ज्ञान प्राप्त करती हैं। इन्द्रियाँ अपने अपने विषय में ही ज्ञान उत्पन्न करती हैं। दूरत्वादि ज्ञान के लिए नेत्र और श्रोत्र का विषयदेश में गति करना माना गया है। नेत्र-श्रोत्र दोनों भौतिक और परिच्छिन्न हैं। श्रोत्र के विषय में नैयायिक का मत इस (वेदान्त) के मत से उल्टा है । वे लोग वीचितरंगन्याय से एक शब्द के अनेक रूप बनकर श्रोत्र तक जाते हैं, ऐसा मानते हैं, पर वेदान्ती को उसमें गौरव लगता है। वेदान्तमत में श्रोत्र आकाश का कार्य है नैयायिकों की तरह कर्णशरकुल्यवच्छिक आकाश ही श्रोत्र नहीं है। अतः भौतिक और परिच्छिन्न होने से श्रोत्र का शब्ददेश में जाना असंगत नहीं है ।

कुछ भी हो, हमें यहाँ इस विषय में वेदान्तमत को जान लेना ही पर्याप्त है। इस सम्बन्ध में ज्यादा शास्त्रचर्चा तो कई ग्रन्थों में की गई है ।

वेदान्तपरिभाषा के प्रत्यक्षखण्ड का केशवलाल शास्त्री का किया हुआ
अनुवाद और विमर्शनामक विवेचन यहाँ पूर्ण होता है ।

***

अथानुमानपरिच्छेदः 2

अथानुमानं निरूप्यते। अनुमितिकरणमनुमानम्। अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या। व्याप्तिज्ञानानुव्यवसायादेस्तत्त्वेन तज्जन्यत्वाभावान्नानुमितित्वम्।

अनुवाद—प्रत्यक्ष के निरूपण के बाद, अब अनुमान का निरूपण किया जा रहा है। अनुमिति प्रमा के 'करण' को अनुमान कहा जाता है। अनुमिति प्रमा, ''व्याप्तिज्ञानत्व-रूप से व्याप्ति ज्ञान से उत्पन्न होने वाली'' है, ऐसा मानते हैं। जो अनुव्यवसायादि है, वह 'व्याप्तिज्ञानत्व से व्याप्तिज्ञानजन्य'' नहीं है अतः अनुमान के लक्षण की व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसायादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी ।

विमर्श—प्रत्यक्षप्रमाण प्रमाणज्येष्ठ, सर्वसम्मत और सर्वप्रमाणोपजीव्य है, इसके बाद तुरन्त अनुमान का क्रम आता है, इसलिए प्रत्यक्षप्रमाण के निरूपण के बाद अब अनुमान का निरूपण किया जा रहा है। अनुमान 'प्रमाण' है, और उससे उत्पन्न होने वाली प्रमा को 'अनुमिति' कहा जाता है। अतः 'अनुमान' को 'अनुमिति' का कारण (करण) कहा गया है। प्रमा की उत्पत्ति में **'व्यापारवत्'** और **'असाधरणकारण'** को **करण** कहते हैं। अनुमान में ये दोनों होने से वह कारण नहीं, 'करण' कहा गया है। 'अनुमान' शब्द को अगर हम व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के सन्दर्भ में देखें तो वह अनुमान का लक्षण बता देता है। जैसे—'अनु+मा' से अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्' अर्थात् जिस (करण) के द्वारा अनुमान (अनुमिति) की जाए, वह अनुमान है।'' इस प्रकार का लक्षण उभर आता है। परन्तु व्युत्पत्ति का आश्रय लिए बिना केवल रूप अर्थ में अनुमान शब्द का प्रयोग करें तो वह लक्ष्यपरक भी हो सकता है ।

मूलग्रन्थ में अनुमान के लक्षण में आए हुए 'अनुमिति'—शब्द का अर्थ है कि जो व्याप्तिज्ञान से उत्त्पन्न तो हुआ हो, पर व्याप्तिज्ञान को अपने ज्ञान का विषय न बनाता हो और केवल करणरूप में ही रहता हो, उसे अनुमिति कहते हैं । धूम अग्नि का **'व्याप्य'** है और ऐसे धूम (व्याप्य) और अग्नि (व्यापक) का साहचर्यज्ञान ही व्याप्तिज्ञान है। पर इस व्याप्तिज्ञान से अनुमिति (पर्वत अग्नि वाला है) भी हो सकती है, और ''मैं वह्निव्याप्य धूम को जानता हूँ, ऐसा अनुव्यवसाय भी तो व्याप्तिज्ञान से उत्पन्न होता हैं। तो उस अनुव्यवसाय मैं आनेवाली अतिव्याप्ति को हटाने के लिए कहा गया है कि अनुमिति व्याप्तिज्ञान से उत्पन्न तो होती है, पर वह अनुव्यवसाय की तरह व्याप्तिज्ञान को विषय नहीं करती। अनुव्यवसाय में तौ 'मैं वह्निव्याप्यधूम के ज्ञान वाला हूँ'—यह मैं विषय है और जानने का विषय (वह्निव्याप्य धूम—) व्याप्ति ही हुआ । व्याप्तिज्ञान का विषय तो केवल पक्ष, साध्य और उन दोनों का सम्बन्ध इतना ही होता है । निष्कर्ष यह है कि अनुमिति के प्रति व्याप्तिज्ञान 'करण' रूप से कारण है, और

अपने अनुव्यवसाय के प्रति विषय रूप से 'कारण' है। जो विषय होता है, वह ज्ञान का जनक होता है, और 'करण' भी तो ज्ञान का जनक होता है। यों तो घटज्ञान के लिए घट—नेत्र और प्रकाश—ये तीनों कारण हैं ही पर असाधारण कारण—करण तो नेत्रघट संनिकर्ष ही माना जाता है। जब कोई ज्ञान (प्रमा, भान) होता है तो उसमें विषय ही दीखता-प्रतीत होता है, उसका कारण नहीं दिखाई देता। घटज्ञान में घट-विषय प्रतीत होता है, उसके कारण और करण नेत्र और नेत्रविषय संयोग नहीं दीखते, अर्थात् जो प्रतीत होता है वह विषयकोटि में आता है। यहाँ व्याप्तिज्ञान से उत्पन्न हुआ अनुव्यवसाय प्रत्यक्षज्ञान का (प्रत्यक्ष अनुभव का) विषय है, इसलिए अनुव्यवसाय विषय कोटि में आता है, करण—कोटि में कदापि वह नहीं आ सकता । अनुव्यवसाय में व्याप्तिज्ञान विषयरूप से ही दीखता है अतः अनुव्यवसायगत व्याप्तिज्ञान कारणकोटि का नहीं है। पर अनुमितिज्ञान में व्याप्तिज्ञान इस तरह का नहीं है, वहाँ तो व्याप्तिज्ञान करण होकर अनुमिति को उत्पन्न करता है, और इसीलिए अनुमिति में व्याप्तिज्ञान दिखाई नहीं देता, वहाँ केवल पक्ष, साध्य और उन दोनों का सम्बन्ध ही विषयरूप से दिखाई देते हैं ।

अनुमितिकरणं च व्याप्तिज्ञानम् । तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापारः। न तु तृतीयलिंगपरामर्शोऽनुमितौ करणम् ।

अनुवाद—अनुमिति का करण व्याप्तिज्ञान है। व्याप्तिज्ञानजन्य संस्कार अवान्तर व्यापार है। तृतीय लिंग परामर्श अनुमिति का कारण नहीं है ।

विमर्श—व्याप्तिज्ञान अनुमिति का **करण** है। (व्यापारवत् असाधारणंकारणं करणम्।) यहाँ पर व्याप्ति से उत्पन्न हुआ संस्कार अवान्तर व्यापार है। जैसे घटरूप कार्य के लिए दण्ड असाधारण कारण और भ्रमि (भ्रमण) अवान्तरव्यापार है, ठीक ऐसे ही यहाँ अनुमितिरूप कार्य के लिए व्याप्ति असाधारण कारण और उसका संस्कार अवान्तरव्यापार है ।

न्यायमत व्याप्ति को अनुमिति का असाधारण कारण (करण) मानने के बदले 'लिंगपरामर्श' को अनुमिति का करण (असाधारण कारण) मानता है। व्याप्ति के साथ जब पक्षधर्मता ज्ञान मिलता है, तब परामर्श होता है और उनके मत में वही अनुमितिकरण यानी अनुमान है, केवल व्याप्तिज्ञान नहीं। केवल व्याप्ति ज्ञान को ही अनुमिति का करण मानने वाले वेदान्तियों को वह अभिमत नहीं है। वे नैयायिकों के परामर्श को (लिंगपरामर्श को) अनुमिति का **करण** नहीं मानते ।

नैयायिकों के लिंगपरामर्श के रूप को भी ज़रा देख लें—परामर्श को 'लिगंपरामर्श' कहा जाता है क्योंकि उससे लिगं का ज्ञान होता है, वह अनुमिति से पहले तीन बार होता है। इसलिए 'तृतीय लिंगपरामर्श' कहा जाता है, अन्तिम—तृतीय परामर्श को मुख्य माना है। प्रथमबार रसोई घर में, धूम—अग्नि का **'व्याप्तिज्ञान'** होता है, दूसरी बार के ऐसे दर्शन से **'पक्षधर्मताज्ञान'** होता है और सब अन्त में पर्वत पर धुआँ

देखकर '**व्याप्तिस्मरण**' होता है पर यहाँ तो उनकी सारी बातों का छेद उड़ा दिया है, इसलिए प्रक्रिया ही बदल गई है। इसीलिए मूल में कहते हैं कि—

तस्यानुमितिहेतुत्वासिद्ध्या तत्करणस्य दूरनिरस्तत्वात्।

अनुवाद—क्योंकि उस तृतीय लिंग परामर्श में अनुमिति का कारणत्व सिद्ध होता ही नहीं तब 'करणत्व' तो दूर ही रहा।

न च संस्कारजन्यत्वेनानुमितेः स्मृतित्वापत्तिः। स्मृतिप्रागभावस्य संस्कारमात्रजन्यत्वस्य वा स्मृतित्वप्रयोजसकतया संस्कारध्वंस-साधारणसंस्कारजन्यत्वस्य तदप्रयोजकत्वात्।

अनुवाद—अनुमिति को व्याप्तिज्ञान (करण) और संस्कार (अवान्तरव्यापार) से जन्य—उत्पन्न होने वाली मान लिया जाए, तब तो 'अनुमिति' में स्मृतित्व आ जायगा—अर्थात् अनुभूति स्मृतिरूप बन जायगी।''—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि स्मृति का कारण (प्रयोजक) तो संस्कारमात्रजन्यत्व है संस्कारजन्यत्व नहीं, और स्मृति का दूसरा प्रयोजक स्मृतिप्रागभाव है। यहाँ प्रस्तुत में तो साधारणसंस्कारजन्यत्व है अथवा तो संस्कारध्वंस की प्रयोजकता बताई है, इसलिए कोई दोष नहीं है।

विमर्श—एक बार कहीं साहचर्य ज्ञान होने पर, अन्तःकरण पर उसका संस्कार पड़ जाता है, दूसरी बार देखने से वह संस्कार उद्बुद्ध होता है, और तीसरी बार उसका स्मरण होता है यह क्रम है। इसका अर्थ यह हुआ कि व्याप्तिज्ञान के साथ कहीं न कहीं उस संस्कार का भी काम पड़ता है तब अनुमिति होती है जब अनुमिति में दोनों कारण है अर्थात् संस्कार भी कारण है, तब संस्कार तो स्मृतिज्ञान का भी कारण है। जैसे संस्कारव्यापार के बिना अनुमिति नहीं होती वैसे ही संस्कार के बिना स्मृति भी नहीं होती, तब दोनों में भेद क्या है?

उत्तर यह है कि स्मृति संस्कार**मात्र** जन्य है, अनुमिति ऐसी नहीं है। दूसरा अनुमिति अनुभव है, स्मृति अनुभव नहीं है तीसरा अनुमिति में व्याप्तिज्ञान 'करण' है, और 'स्मृति' तो अवान्तरव्यापारमात्र ही है। और स्मृति संस्कारजन्य है तो संस्कारध्वंस भी तो संस्कारजन्य ही है, इसलिए स्मृति का 'संस्कारजन्यत्व'—यह लक्षण ठीक नहीं हुआ। स्मृति का निर्दुष्ट लक्षण अगर बनाना हो तो ''**संस्कारमात्रजन्यत्व**'' अथवा ''**स्मृतिप्रागभावजन्यत्व**''—ऐसा बना सकते हैं। इन लक्षणों में पहला लक्षण ज़्यादा उपयुक्त है।

न च यत्र व्याप्तिस्मरणादनुमितिस्तत्र कथं संस्कारो हेतुरिति वाच्यम्। व्याप्तिस्मृतिस्थलेऽपि तत्संस्कारस्यैवानुमितिहेतुत्वात्। न हि स्मृतेः संस्कारनाशकत्वनियमः। स्मृतिधारादर्शनात्। न चानुद्बुद्ध-संस्कारादप्यनुमित्यापत्तिः। तदुद्बोधस्यापि सहकारित्वात्।

अनुवाद—''जब कभी व्याप्तिज्ञान के बदले व्याप्तिस्मरण से ही अनुमिति होती है, वहाँ अवान्तरव्यापार करने वाले संस्कार की तो जरूरत नहीं पड़ती, फिर भी अनुमिति तो वहाँ होती ही है ।''—ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जहाँ व्याप्तिस्मृति से अनुमिति होती है, वहाँ भी व्याप्ति के संस्कारों को ही अनुमिति का हेतु माना जाता है। स्मृति संस्कारों का नाश ही कर देती हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि धारावाहिक स्मृति का सभी को अनुभव है। स्मृति के उत्पन्न होने में संस्कारोद्‌बोध सहकारी कारण है ही ।) स्मृति से पहले संस्कारोद्‌बोध सहकारी रूप से होना ही चाहिए। (इसलिए अनुद्‌बुद्ध संस्कार की तो यहाँ बात ही नहीं उठती)। संस्कारोद्‌बोध का अर्थ है संस्कारों की कार्योन्मुखता ।

विमर्श—जहाँ व्याप्तिस्मरण होने पर अनुमिति होती है वहाँ भी व्याप्तिसंस्कार ही अनुमिति का हेतु है। क्योंकि, ''स्मृति आने से संस्कार नष्ट होते हैं''—यह तो हम नहीं मानते। क्योंकि संस्कारों में (कारण से) स्मृति (कार्य) उत्पन्न होने पर संस्कार (कारण) का हमारे मत में नाश नहीं होता। इसलिए हेतु (संस्कारजन्यत्व) व्यभिचरित नहीं है। अगर स्मृति होने पर पूर्वसंस्कार का नाश हो जाता तो जब उसी विषय की पुनः स्मृति हो तब नया ही संस्कार मानना पड़ेगा, क्योंकि प्रथम संस्कार तो प्रथम स्मृति के होने पर ही नष्ट हो गया है । तब तो तीसरी, चौथी, पाँचवीं—इस तरह सभी स्मृतियों के लिए नए-नए संस्कार मानने पड़ेंगे, गौरव हो जाएगा। तो ऐसे अनन्त संस्कारों की कल्पना की अपेक्षा एक ही संस्कार क्यों न मानें? व्याप्ति के संस्कारों से व्याप्ति का स्मरण तो अबाधित अनुभव की ही बात है ।

वेदान्ती मानते हैं कि जिस अनुभव से जो संस्कार उत्पन्न हुआ, वही संस्कार उद्‌बोधक के निमित्त से युक्त होने पर उससे स्मृति उत्पन्न होती है, परन्तु, उस संस्कार से उत्पन्न हुई स्मृति अपने उत्पादक संस्कार का नाश नहीं करती। बल्कि उस स्वजनक संस्कार को ज़्यादा पुष्ट करती है। कल पढ़ी हुई किताब की घटना का आज स्मरण हुआ और इस स्मरण ने संस्कार को सुदृढ़ कर दिया ।

एवं च 'अयं धूमवान्' इति पक्षधर्मताज्ञानेन, 'धूमो वह्निव्याप्य' इत्यनुभवाहितसंस्कारोद्‌बोधे च सति वह्निमानित्यनुमितिर्भवति। न तु मध्ये व्याप्तिस्मरणम्। तज्जन्यवह्निव्याप्यधूमावानित्वादि विशेषण-विशिष्टं ज्ञानं वा हेतुत्वेन कल्पनीयम्, गौरवात्। मानाभावाच्च ।

अनुवाद—इस प्रकार, 'यह धूमवान् है'—ऐसा पक्षधर्मताज्ञान होने पर, और 'धूम वह्निव्याप्य है'—इस अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कार का उद्‌बोध होने पर 'बह्निमान्'—ऐसी अनुमिति होती है। परन्तु बीच में व्याप्ति का स्मरण और उससे उत्पन्न वह्निव्याप्यधूमवानन् आदि विशेषणविशिष्ट ज्ञान को (लिंगपरामर्श को) अनुमिति के हेतु (करण) के रूप में मानना योग्य नहीं है क्योंकि ऐसा मानने में गौरव हो जाएगा और इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है ।

विमर्श—पहले बताए अनुसार व्याप्तिज्ञान ही अनुमिति का **करण** है, व्याप्तिज्ञान के संस्कार '**व्यापार**' है, तथा पक्षधर्मताज्ञान से उत्पन्न 'संस्कारोद्‌बोध' **सहकारी** है। —इतना होने पर 'पर्वतो वह्निमान्' ऐसी अनुमिति होती है। और ऐसा होने से नैयायिकों की लिंग परामर्श को अनुमिति का करण मानने की बात योग्य नहीं है ।

तच्च व्याप्तिज्ञानं वह्निविषयकज्ञानांश एव करणम् न तु पर्वतविषयकज्ञानांश इति पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानस्य वह्न्यंश एवानुमितित्वं न पर्वताद्यंशे, तदंशे प्रत्यक्षत्वस्योपपादितत्वात् ।

अनुवाद—यहाँ, 'पर्वतो वह्निमान्'—इस अनुमितिज्ञान में, वह्निविषयक ज्ञानांश में ही व्याप्तिज्ञान '**करण**' माना जाता है। पर्वतविषयक ज्ञानांश में नहीं। इसलिए 'पर्वतो वह्निमान्' इस ज्ञान में वह्नि-अंश में ही अनुमिति है, पर्वत अंश में नहीं, क्योंकि उस पर्वत अंश में प्रत्यक्षत्व का उपपादन हम पहले कर आए हैं ।

व्याप्तिश्च अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसमानाधिकरणरूपा । सा च व्यभिचारादर्शने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते। तच्च सहचारदर्शनं भूयोदर्शनं सकृद्दर्शनं वेति विशेषो नादरणीयः। सहचारदर्शनस्यैव प्रयोजकत्वात् ।

अनुवाद—अब व्याप्ति का स्वरूप बताते हैं कि सम्पूर्ण साधनों (धूमों) का आश्रय (पर्वत आदि) में आश्रित—रहा हुआ वह्नि आदि साध्य के साथ हेतु का सामान्याधिकरण्य—एक देश में रहना इसे 'व्याप्ति' कहते हैं। ऐसी व्याप्ति का ग्रहण हम व्यभिचार के अदर्शन से—व्यभिचार के अभाव से और सहचार के दर्शन से—सहचार के वहाँ उपस्थित होने से कर सकते हैं। वह सहचारदर्शन चाहे एक बार हुआ हो, अथवा अनेक बार हुआ हो, इसमें कोई खास आग्रह नहीं है। केवल सहचारदर्शन ही व्याप्तिज्ञान का प्रयोजक—नियोजक है ।

तच्चानुमानमन्वयिरूपमेकमेव । न तु केवलान्वयि । सर्वस्यापि धर्मस्यास्मन्मते ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकत्वरूपकेवलान्वयित्वस्यासिद्धेः ।

अनुवाद—यह अनुमान अन्वयरूप एक ही हेतुवाला है (नैयायिकों की तरह केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी—ऐसे तीन प्रकार के हेतु वाला नहीं है) क्योंकि वेदान्तियों के मत में सभी धर्म ब्रह्म में रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी हैं। फिर तो अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी साध्य वाला केवलान्वयी पदार्थ है ही नहीं ।

विमर्श—नैयायिकों के तीन प्रकार वाले अनुमान से असहमत होते हुए वेदान्ती अनुमान का "**अन्वयरूप**" ही स्वीकार करते हैं। अन्वयरूप का तात्पर्य यह है कि "अन्वयमुखव्याप्तिज्ञानरूपम्" और केवलान्वयि का तात्पर्य है, "अत्यन्ताभावाप्रतियोगि-

साध्यकत्व'' अब दोनों का फर्क समझें। केवलान्वयी का यह अर्थ होता है कि 'अत्यन्ताभावा प्रतियोगि साध्यकत्व। अर्थात् जिस अनुमान में साध्य का अत्यन्ताभाव किसी भी देश-काल में न मिले वह साध्य, अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी कहलाएगा। न्याय ने ऐसे प्रमेयत्व, वाच्यत्व आदि सर्वत्र रहने वाले धर्म माने हैं, तो ऐसे धर्म तो कभी अत्यन्ता भाव के प्रतियोगी नहीं हो सकते बल्कि अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी ही रहते हैं। तो ऐसे अभिधेयादि धर्मी का अनुमान न्यायमत में केवलान्वयीरूप से हो सकता है पर वेदान्त के पास कहाँ ऐसा कोई पदार्थ है? यहाँ तो 'नेह नानास्ति किंचन'—ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई चीज़ ही नहीं। सभी पदार्थ ब्रह्म एक में अध्यस्त होने से ये सभी पदार्थ अत्यन्ताभाव प्रतियोगी ही हुए। अतः वेदान्त तो कभी केवलान्वयी अनुमान को मान ही नहीं सकता ।

नाप्यनुमानस्य व्यतिरेकिरूपत्वम्। साध्याभावे साधनाभाव-निरूपितव्याप्तिज्ञानस्य साधनेन साध्यानुमितावनुपयोगात् कथं तर्हि धूमादावन्वयव्याप्तिमविदुषोऽपि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानादनुमितिः? अर्थापत्ति प्रमाणादिति वक्ष्यामः ।

अनुवाद—ऐसे ही अनुमान में केवल व्यतिरिक्तत्व भी नहीं है। क्योंकि साध्याभाव में रहने वाली साधनाभाव की व्याप्ति का ज्ञान, साधन से साध्य की अनुमिति में अनुपयुक्त ही है। यदि कहो, तब तो धूम में वह्नि की अन्वयव्याप्ति न जानने वाले को व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान से अनुमिति कैसे हो सकेगी ? तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि वहाँ पर अर्थापत्ति प्रमाण से काम चल जायगा—ऐसा हम कहेंगे ।

विमर्श—यह विषय ज़रा क्लिष्ट है आगे के परिच्छेद में ब्रह्म में केवलान्वयी अनुमान का खण्डन किया क्योंकि सभी चीजें ब्रह्म में अध्यस्त होने से ब्रह्म के अत्यंताभाव का कोई अप्रतियोगी रहा ही नहीं ।

अब दूसरा अनुमान है व्यतिरेकी अनुमान। पहले ही कह दिया है कि ब्रह्म में यह भी नहीं है अतः इसका खण्डन भी जरूरी है। नैयायिक लोग केवलव्यतिरेकीका स्वरूप बतालाते हुए कहते हैं कि ''व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकि, यथा पृथ्वी इतरभेदवती, गन्धवत्त्वात्, **जलवत्** ।'' (पृथ्वी इतरभेद वाली है, गन्धवती होने से **जल के समान**), अब जरा सोच कर देखो तो यहाँ जो **जलवत्** (जल समान) यह दृष्टान्त दिया गया है उसमें साध्यसाधन का साहचर्य नैयायिक बताते नहीं। (वास्तव में दृष्टान्त में साध्य और हेतु का साहचर्य अवश्य दिखाई देना चाहिए। यहाँ तो नैययिक लोग 'यत्रेतरभेदो नास्ति तत्र गन्धोऽपि नास्ति। 'इतर' शब्द से वे पृथ्वी के भिन्न सभी पदार्थों को मानते हैं। और उनका पृथ्वी से भेद अन्य हेतु से करना चाहते हैं। यहाँ इतर का अर्थ पृथ्वी से भिन्न सभी पदार्थ हैं, और नैयायिक उन्हें पृथ्वी से अलग करना चाहते हैं। गन्ध हेतु से । जहाँ पर गन्ध है, वहाँ पर इतरभेद है, ऐसा कह नहीं सकते। क्योंकि गन्ध केवल

पृथ्वी में रहती है, और पृथ्वी तो यहाँ अनुमान में पक्ष ही है। और दृष्टान्त तो हमेशा अनुमान के पक्ष में भिन्न ही हुआ करता है और ऐसा कोई अन्वय दृष्टान्त मिल नहीं रहा है। जहाँ इतरभेद नहीं है, वहाँ गन्ध नहीं है। ऐसा उन्हें कहना पड़ा । इसलिए विवश होकर व्यतिरेक अनुमान के बदले यदि अर्थापत्ति प्रमाण को माना जाए तो काम चल सकता है। इसकी सारी शंकाओं का समाधान करेंगे। इस प्रमाण का मण्डन आगे किया जायगा ।

ऊपर के लेख का तात्पर्य यह है कि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान से जो अनुमिति उत्पन्न होती है, वह व्यतिरेकत्व वाली होती है। जैसे अग्नि के अभाव में उसके साधन धूम का अभाव है। अर्थात् साध्य के अभाव में साधन का अभाव। पर वेदान्त कहते हैं कि ऐसे व्यतिरेकी—अभावात्मक अनुमान से फायदा क्या है ? यह कोई विधानात्मक अनुमिति थोड़ी है? (साध्याभावेन साधनाभावः)। ऐसे अनुमान से अगर अनुमानता करे लाभ हुआ भी तो ज़्यादा से ज़्यादा साध्य के अभाव से साधन का अभाव सिद्ध करने में शायद होगा। केवलव्यतिरेकी लिंगों से अनुमिति का विधानात्मक और व्यवहार्य क्या उपयोग हो सकता है? ऐसे अनुमान का स्वीकार किए बिना भी उपपाद्य ज्ञान के द्वारा उपपादक का कल्पनरूप 'अर्थापत्ति' नाम का प्रमाण मानने से हमारी सब मुसीबतें हल हो जाएंगी ।

अत एवानुमानस्य नान्वयवयतिरेकिरूपत्वं व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान-स्यानुमित्यहेतुत्वात् ।

अनुवाद—इसलिए अनुमान को अन्वय व्यतिरेक व्याप्तिरूप का भी नहीं कहा जा सकता । क्योंकि, व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान की अनुमिति में कारण नहीं माना गया है ।

विमर्श—जब व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान भी अनुमिति को उत्पन्न नहीं कर सकता, तो फिर न्यायमतवादियों की मानी हुई केवल अन्वयि और व्यत्तिरेक—उभयरूपता तो अनुमान को उत्पन करने के लिए असंभव ही साबित होंगी। क्योंकि अन्वयरूप और व्यतिरेकरूप दोनों में से एक अन्वयव्याप्तिज्ञान से ही यदि अनुमिति हो सकती हो, तो व्यातिरेकव्याप्तिज्ञान की अनुमिति ज्ञान के प्रति हेतुता मानना व्यर्थ ही है। व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान की अनुमिति ज्ञान के प्रति हेतुता है ही नहीं। इस प्रकार अन्वयिरूप एक ही प्रकार का अनुमान वेदान्ती मानते हैं ।

तच्चानुमानं स्वार्थ-पदार्थ भेदेन द्विविधम् । तत्र स्वार्थं तूक्तमेव । पदार्थं तु न्यायसाध्यम् । न्यायो नामावयवसमुदायः । अवयवाश्च त्रय एव प्रसिद्धाः–प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपाः। उदाहरणोपनयनिगमनरूपा वा । न तु पञ्चावयवरूपाः । अवयवत्रयेणैव व्याप्तिपक्षधर्मतयोरुपदर्शन-संभवेनाधिकावयवद्वयस्य व्यर्थत्वात् ।

अनुवाद—यह अनुमान स्वार्थ और पदार्थ भेद से दो प्रकार का है। उनमें स्वार्थानुमान के बारे में तो कहा जा चुका है। परार्थानुमान तो न्याय की तरह साध्य किया जा सकता है। यहाँ न्याय का अर्थ अवयवों का समुदाय है। अवयव प्रसिद्धरूप से तीन ही माने गए हैं। या तो प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण—ये तीन, और या तो उदाहरण, उपनय और निगमन रूप। नैयायिकों के पाँच अवयव हम नहीं मानते। तीन ही अवयवों के द्वारा व्याप्ति और पक्षधर्मता का उपदर्शन का संभव होने से बाकी के दो अवयवों को मानना व्यर्थ ही है ।

विमर्श—खुद के मन में उठे हुए विवादी विषय का समाधान जिस अनुमान से आदमी स्वयं कर लेता है उसे स्वार्थानुमान कहते हैं, और जब किसी और के मन में उठे विवादी विषय का समाधान करने के लिए बाहरी प्रत्यक्ष, लिंग पक्षधर्मता ज्ञान आदि का सहारा लेकर पद्धतिपूर्वक अनुमान किया जाता है, उसे परार्थानुमान कहते हैं। वह परार्थानुमान न्यायसिद्ध होता है। स्वार्थानुमान में न्यायसिद्धता की कोई जरूरत नहीं है। यह न्याय अवयव समुदाय को कहते हैं। नैयायिक लोग परार्थानुमान के लिए पाँच वाक्यों को 'पँचावयव' कहकर मानते हैं (1) प्रतिज्ञा, (2) हेतु, (3) उदाहरण (4) उपनय और (5) निगमन। इनमें साध्यविशिष्ट पक्षबोधक वाक्य है **प्रतिज्ञा** । पंचम्यन्त या तृतीयान्त लिंग दर्शक शब्द है **'हेतु'**। व्याप्ति समर्थक उदाहरण को उदाहरण कहते हें । उदाहृत व्याप्तिविषिष्टत्व रूप से हेतु में पक्षधर्मताप्रतिपादक वचन को **उपनय** कहा जाता है और पक्ष में साध्य का अबाधितत्व बताने वाला वाक्य है **निगमन** ।

न्याय तो परार्थानुमान में इन पाँचों अवयवों को महत्त्व देता है, पर अन्यान्य दार्शनिकों में से किसी ने दो, तीन या चार ही माने हैं बाकी को व्यर्थ बताया है वेदान्ती या तो आदि तीन अवयवों को—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण को अथवा तो अन्तिम तीन उदाहरण उपनय और निगम को मानते हैं और बताते हैं कि जब इन तीन अवयवों से ही (पहले या अन्त के तीन) काम चल सकता है, तब बाकी रहे दो अवयवों को मानने की कोई जरूरत नही है ।

एवं अनुमाने विरूपिते तस्यादब्रह्मभिन्ननिखिलप्रपञ्चस्य मेथ्यात्वसिद्धिः । तथा हि ब्रह्मभिन्नं सर्व मिथ्या, ब्रह्मभिन्नत्वात्, यदेवं तदेवं, यथा शुक्तिरूप्यम् । न च दृष्टान्तासिद्धिः । तस्य साधितत्वात् । न चाप्रयोजकत्वम् । शुक्तिरूप्यरज्जुसर्पादीनां मिथ्यात्वे ब्रह्मभिन्नत्वस्यैव लाघवेन प्रयोजकत्वात् ।

अनुवाद—इस प्रकार अनुमान प्रमाण का निरूपण किये जाने से, इसके द्वारा ब्रह्म से भिन्न समस्त प्रपंच का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है। जैसे—ब्रह्म से भिन्न सब कुछ मिथ्या है। क्योंकि वह ब्रह्म से भिन्न है। जो ब्रह्म ये भिन्न होता है, वह वैसा ही हुआ करता है। जैसे सीप में देखा गया रूपा। इसके लिए अन्यान्य दृष्टान्तों का अभाव नहीं

है क्योंकि वह प्रत्यक्षखण्ड में साधित ही है। और इसकी अप्रयोजकता भी नहीं है। सप्रयोजकता ही है। सीप में जो रूपा दिखाई देता है, उसी प्रकार रज्जु में भी साँप दिखाई देता है और उनका मिथ्यात्व सिद्ध होने पर 'ब्रह्मभिन्नत्व की ही लाघव से प्रयोजकता सिद्ध हुई ।

मिथ्यात्वञ्च स्वाश्रयत्वेनाऽभिमतयावन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्। अभिमतपदं वस्तुतः स्वाश्रयाप्रसिद्ध्या असंभववारणाय। यावत्पद-मर्थान्तरवारणाय। तदुक्तम् –

सर्वेषामेव भावानां स्वाश्रयत्वेन सम्मते ।
प्रतियोगित्वमत्यान्ताभावं प्रति मृषात्मता ।। (चित्सुखी 7)

अनुवाद—'मिथ्यात्व' के पद से यह विवक्षित है कि स्वाश्रयत्वेन माने हुए जितने भी अधिकरण हैं, उन सभी में रहने वाले अत्यंताभाव का प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है। वस्तुतः स्व का आश्रय प्रसिद्व न होने से असंभवदोषनिवारण के लिए लक्षण में **'अभिमत'** यह दिया गया है । उक्त लक्षण में 'यावत्' पद अर्थान्तरवारण के लिए दिया गया है । इस विषय में चित्सुखाचार्य भी कहते हैं कि—"सभी पदार्थों के आश्रयरूप से जो अभिमत्त हो, उसी में उनका अत्यन्ताभाव रहे, तो उस अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता को ही **मिथ्यात्व** कहते हैं ।"

विमर्श—सीप में जो रजत दिखाई देता है उस रजत का मिथ्यात्व—प्रतिभासिकात्व तो प्रत्यक्षसिद्ध ही है। और उसी मिथ्यात्व को इस प्रपंच (संसार) के सन्दर्भ में भी अनुमान लगाकर के वेदान्ती सिद्ध करते हैं। किन्तु मिथ्यात्व का लक्षण क्या है, ऐसा आकांक्षा होने पर अब मिथ्यात्व का लक्षण बाँध रहे हैं। मान लीजिए कि घट मिथ्या है, तो इसमें मिथ्यात्व का लक्षण घटित होना चाहिए। तो घटादि में मिथ्यात्व की सिद्धि इस प्रकार होती है। जैसे—स्व (घटादि) की **आश्रयता** (कपाल में) भी उसका (घट का) अत्यन्ताभाव रह जाए, तो वह घट स्व-आश्रयत्वेन-अभिमत-यावन्निष्ठ-अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी हो जाएगा। और उसका प्रतियोगित्व घट में चला जायगा। यही घट में मिथ्यात्व है। घट में मिथ्यात्व समझने से पहले शुक्तिरजत के मिथ्यात्व को समझ लेना बहुत जरूरी है। शुक्तिरजत की आश्रयत्वेन अभिमत शुक्ति में तो रजत **न था, न है, न होगा** ।

इस प्रकार से शुक्तिज्ञान में रजत का अत्यताभाव होना सर्वलोकानुभव सिद्ध है अतः उस रजतात्यंताभाव का प्रतियोगित्व रजत मैं है ।

ठीक इसी प्रकार इस सम्पूर्ण प्रपंच (जगत्) में मिथ्यात्व के लक्षण घटाते समय, इस समपूर्ण जगत के आश्रयत्व के रूप में अभिमत ब्रह्म में प्रपंच का अत्यन्ताभाव है, उसका प्रतियोगित्व प्रपंच में चला गया। यही प्रपंच में मिथ्यात्व है ।

उक्त लक्षण में **'अभिमत'** पद देने का महत्त्व यह है कि अगर वहाँ पर

'स्वाश्रययावन्निष्ठ-अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्' केवल इतना ही कह दिया होता, और अभिमत पद न दिया होता तो जिसका जो वास्तविक रूप में स्वाश्रय होता है, उसमें उसका अत्यन्ताभाव रहना असंभव ही है। इस असंभव दोष को दूर करने के लिए **'अभिमत'** पद दिया है। जो वस्तुतः उसका स्वाश्रय न होता हुआ भी स्वाश्रयरूप से प्रतीत होता है। जैसे शुक्ति-रजत—का स्वाश्रय वस्तुतः शुक्ति है ही नहीं। फिर भी भ्रमदशा में रजत की स्वाश्रय शुक्ति प्रतीत होती है। उस शुक्ति में विचार दृष्टि से रजत का अत्यंताभाव है। फिर तो उसमें अत्यंताभाव का प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व सिद्ध हो गया ।

उक्त लक्षण में **यावत्** पद नहीं देते तो अर्थान्तर दोष लग जाता है। जैसे कपिसंयोग के आश्रयत्वेन अभिमत वृक्ष के मूल में कपिसंयोग का अत्यंताभाव तो है, और उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी कपिसंयोग भले मूलावच्छेदेन **न हो** फिर भी उसी (एक ही) वृक्ष के शाखावच्छेद से तो है ही। अतः एक ही वृक्ष में मूलावच्छेदेन कपिसंयोग का अत्यन्ताभाव हुआ, और उसी वृक्ष में शाखावच्छेदेन कपिसंयोग है ही। अतः लक्षण दुष्ट हुआ, अर्थान्तर दोष लग जायगा। इस अर्थान्तर का निवारण करने के लिए लक्षण में **'यावत्'** (जितने में) यह पद दिया गया है। अतः मिथ्यात्व का निर्दुष्ट लक्षण सिद्ध हुआ—''स्वाश्रयत्वेनाभिमतयावन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम् ।

यद्वा अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, पटत्वात्, पटान्तरवदित्याद्यनुमानं मिथ्यात्वे प्रमाणम्। तदुक्तम् –

> **अंशिनः स्वांशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनः ।**
> **अंशित्वादितरांशीव दिगेषैव गुणादिषु ॥ (चि. 5)**

अनुवाद—अथवा तो ''यह पट एवतत्तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है; क्योंकि इसमें पटत्व है; अन्य पट के समान''—यह अनुमान मिथ्यात्व में प्रमाण है। चित्सुखाचार्य ने इस प्रकार कहा है कि—

अवयवी पदार्थ में उसके अवयव में विद्यमान, अत्यंताभाव की प्रतियोगिता होती है, क्योंकि वह अवयवी है, अन्य अवयवी के समान ।

न च घटादेर्मिथ्यात्वे, 'सन् घटः' इति प्रत्यक्षेण बाधः। अधिष्ठानब्रह्मसत्तायास्तत्र विषयतया घटादेः सत्यत्वासिद्धेः। न च नीरूपस्य ब्रह्मणः कथं चाक्षुषादिज्ञानविषयतेति वाच्यम्। नीरूपस्यापि रूपादेः प्रत्यक्षविषयत्वात्। न च नीरूपस्य द्रव्यस्य चक्षुराद्ययोग्यत्वमिति नियमः। मन्मते ब्रह्मणो द्रव्यत्वासिद्धेः। गुणाश्रयत्वं समवायिकारणत्वं वा द्रव्यत्वमिति तेऽभिमतम्। न हि निर्गुणस्य ब्रह्मणः गुणाश्रयता, नापि समवायिकारणता, समवायासिद्धेः।

अस्तु वा द्रव्यत्वं ब्रह्मणः तथापि नीरूपस्य कालस्येव चाक्षुषत्वादि ज्ञानविषयत्वेऽपि न विरोधः ।

अनुवाद—ब्रह्म से भिन्न घटादि पदार्थों का जो मिथ्यात्व आपने अनुमान से सिद्ध किया है, वह अनुमान तो 'सन् घटः'—'घट है'—इस प्रत्यक्षज्ञान से बाधित होता है (घट की प्रत्यक्ष विद्यमानता से अनुमान बाधित हो गया है)—इस प्रकार शंका उठाना उचित नहीं है। क्योंकि अधिष्ठान ब्रह्म की ही सत्ता वहाँ पर दीख रही है। अतः घटादि में सत्यत्व सिद्ध नहीं है । यदि कहा जाए, कि रूपरहित ब्रह्म में चाक्षुषज्ञानविषयता कैसे रह सकती है? तो ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि रूपरहित रूप में जिस तरह चाक्षुषज्ञानविषयता रहती हुई देखी है, ठीक इसी तरह रूपरहित ब्रह्म में भी चाक्षुषज्ञानविषयता के रहने में कोई विरोध नहीं है। अगर आप कहें कि नीरूप द्रव्य में चाक्षुष प्रत्यक्षयोग्यता का नियम नहीं है—तो यह तो ठीक नहीं लगता। क्योंकि मेरे (वेदान्ती के) मत में ब्रह्म के द्रव्यत्व की ही असिद्धि है। गुणों के आश्रय को अथवा समवायी कारण को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य का यह लक्षण नैयायिकों का माना हुआ लक्षण है। लेकिन हम वेदान्ती ब्रह्म को निर्गुण मानते हैं, इसलिए वह किसी भी गुण का आश्रय नहीं हो सकता अतः द्रव्य नहीं हो सकता। और दूसरे वह समवायी कारण भी नहीं हो सकता क्योंकि अभी तक हमारे मत में समवाय की सिद्धि ही नही हुई है, इसलिए भी ब्रह्म द्रव्य नहीं हो सकता। अथवा यह मान भी लें कि ब्रह्म द्रव्य है, तो भी कालद्रव्य जैसे नीरूप है उसी प्रकार ब्रह्म नीरूप है, और जिस प्रकार नैयायिक लोग कालद्रव्य को चाक्षुषज्ञान विषयता मानते हैं, उसी तरह ब्रह्म की भी चाक्षुषज्ञानविषयता मानने में कोई विरोध नहीं है ।

विमर्श—सब कुछ स्पष्ट ही है ।

यद्वा त्रिविधं सत्त्वम्-पारमार्थिकं, व्यावहारिकं, प्रातिभासिकं च पारमार्थिकं सत्त्वं ब्रह्मणः, व्यावहारिकं सत्त्वमाकाशादेः, प्रातिभासिकं सत्त्वं शुक्तिरजतादेः । तथा च घटः सन्निति प्रत्यक्षस्य व्यावहारिकसत्त्वविषयत्वेन प्रमाण्यम्। अस्मिन्पक्षे च घटादेर्ब्रह्मणि निषेधो न स्वरूपेण किन्तु पारमार्थिकत्वेनैवेति न विरोधः । अस्मिन् पक्षे तु मिथ्यात्वलक्षणे पारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकत्वमत्यन्ताभाव विशेषणं द्रष्टत्वम्। तस्मादुपपन्नं मिथ्यात्वानुमानमिति ।

इत्यनुमान परिच्छेदः

अनुवाद—अथवा तो वेदान्तियों ने तीन प्रकार की सत्ता मानी है—(1) पारमार्थिक, (2) व्यावहारिक और (3) प्रातिभासिक। इनमें पहली पारमार्थिक सत्ता ब्रह्म की है, दूसरी व्यावहारिक सत्ता आकाशादि की है और तीसरी प्रातिभासिक सत्ता शुक्तिरजतादि की है। अब जहाँ 'घटः सन्' —'घट विद्यमान है'—ऐसा प्रत्यक्ष होता है, वहाँ पर घट

की व्यावहारिक सत्ता को विषय करने के कारण **प्रत्यक्षत्व प्रामाण्य** है। इस पक्ष में ब्रह्ममेंघटादि का निषेध स्वरूपतः नहीं किया जाता, किन्तु, पारमार्थिकत्वरूप से किया जाता है। अतः कोई विरोध नहीं। इस दशा में मिथ्यात्व के लक्षण में ''पारमार्थिकत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता''—ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् ''पारमार्थिकत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक'' यह विशेषण अत्यन्ताभाव को देना चाहिए। अतः मिथ्यात्व का अनुमान निर्दुष्ट सिद्ध हो गया ।

विमर्श—रूपरहित रूप में भी प्रत्यक्षज्ञान विषयता है पर रूप तो **गुण** है, यहाँ ब्रह्म कोई **गुण** नहीं।

—रूपरहित कालद्रव्य मं प्रत्यक्षज्ञानविषयता है पर ब्रह्म तो द्रव्य भी नहीं ।

—हाँ, 'तुष्यतु दुर्जन' न्याय से ब्रह्म को द्रव्य मान लें तो जैसे आप (तार्किक) कालाद्रव्य, की प्रत्यक्षज्ञानविषयता मानते हैं, वैसा मानने में हमें विरोध नहीं ।

—फिर भी हम तो ब्रह्म को द्रव्य नहीं मानेंगे क्योंकि ब्रह्म निर्गुण होने से किसी भी गुण का आश्रय नहीं बन सकता, जब कि आप का द्रव्य किसी न किसी गुण को आश्रय देने के सिवा रह नहीं सकता ।

—आपके द्रव्य की तरह ब्रह्म किसी का समवायी कारण बन नहीं सकता क्योंकि हम (वेदान्ती) समवाय को मानते ही नहीं ।

—हमारे विचार से तीन सत्ताएँ हैंः (1) पारमार्थिक, (2) व्यावहारिक और प्रातिभासिक । उनमें पारमार्थिक सत्ता परब्रह्म की है, व्यावहारिक सत्ता जगत की है और शुक्तिरजतादि की तीसरी प्रातिभासिक सत्ता है। इन सत्ताओं के द्वारा 'सन् घटः' आदि में अनुस्यूत 'सत् ' का दूसरे तरीके से समाधान बताया गया है, जिस सत्ता के स्तर की बात है, वहाँ वह 'सत्' है, यह समाधान का तरीका है।

—इस नए समाधान से मूल मिथ्यात्व के लक्षण में कुछ फारफेर होगा और पूरा लक्षण इस प्रकार होगा—''स्वाश्रयत्वेनाभिमतयांवन्निष्ठपारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता-कान्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् मिथ्यात्वम् ऐसा लक्षण हुआ ।

वेदान्तपरिभाषा के अनुमानपरिच्छेद की श्रीकेशवलाल शास्त्री लिखित
सानुवाद हिन्दी टीका-विमर्श यहाँ समाप्त हुई ।

***

अथोपमानपरिच्छेदः 3

अथोपमानं निरूप्यते। तत्र सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्। तथाहि-नगरेषु दृष्टगोपिण्डस्य पुरुषस्य वनं गतस्य गवयेन्द्रियसन्निकर्षे सति भवति प्रतीतिः-अयं पिण्डो गोसदृशः इति। तदनन्तरञ्च भवति निश्चयः। "अनेन सदृशी मदीया गौरिति।" तत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां गवयनिष्ठ-गोसादृश्यज्ञानं करणं, गोनिष्ठगवय-सादृश्यज्ञानं फलमिति।

अनुवाद—प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के बाद अब उपमान प्रमाण का निरूपण किया जा रहा है। **सादृश्य** प्रमा के करण को उपमान कहा जाता है। वह इस प्रकार है—नगरों में जिस पुरुष ने गोपिण्डों को देखा, पीछे वह जंगल में गया। वहाँ पर गवय पिण्ड के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर, 'वह पिण्ड गो के सदृश है',—ऐसी प्रतीति हुई। इसके बाद, 'इसके सदृश मेरी गौ है'—ऐसा निश्चय हुआ। यहाँ पर अन्वयव्यतिरेक से, 'गवय में रहने वाला गो के सादृश्य का ज्ञान करण है, और गो में रहने वाला गवय के सादृश्य वाला ज्ञान फल है। (अनुमिति है)

विमर्श—यहाँ अव्युत्पन्न 'उपमान' शब्द लक्ष्य है और 'उपमीयते अनेन' इस व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ लक्षण है।

न चेदं प्रत्यक्षेण संभवति। गोपिण्डस्य तदेन्द्रियासन्निकर्षात्। नाप्यनुमानेन, गवयनिष्ठगोसादृश्यस्यातल्लिंगत्वात्।

यह उपमितिज्ञान प्रत्यक्षज्ञान से संभव नहीं। क्योंकि सादृश्यज्ञान के समय में गोपिण्ड का इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं है और अनुमान से भी इस प्रकार के ज्ञान का संभव नहीं है, क्योंकि जो सादृश्य गवय में रहता है वह उक्त उपमिति का लिंग नहीं बन सकता।

नापि "मदीया गौरेतद्गवयसदृशी, एतन्निष्ठसादृश्यप्रतियोगित्वात्, यो यद्गतसादृश्यप्रतियोगी स तत्सदृश, यथा मैत्रनिष्ठसादृश्यप्रतियोगी चैत्रो मैत्रसदृशः" इत्यनुमानात् तत्संभवः इति वाच्यम्। एवंविधानुमानानवतारेऽप्यनेन सदृशी मदीया गौरिति प्रतीतेरनुभव-सिद्धत्वात् उपमिनोमीत्यनुव्यवसायाच्च। तस्मादुपमानं मानान्तरम्।

अनुवाद—अनुमिति का प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों में अन्तर्भाव नहीं हो सकता यह बात पहले कही परन्तु पूर्वपक्षी एक नया अनुमान पेश करता है और दिखाना चाहता है कि इस प्रकार के अनुमान में उपमान का अन्तर्भाव क्यों नही हो सकता? पूर्व पक्षी का अनुमानः—

(1) मेरी गो इस गवय के समान है। (प्रतिज्ञा)

(2) इस गवय में रहने वाले सादृश्य का प्रतियोगी होने से (हेतु) ।

(3) जो जिसमें रहे हुए सादृश्य का प्रतियोगी होता है वह उसके सदृश होता है, जैसे मैत्रनिष्ठ सादृश्य का प्रतियोगी चैत्र, मैत्र के सदृश है (उदाहरण) उपनय, (निगमम)

तो पूर्वपक्षी की इस नयी अनुमानरीति भी उपमिति को स्वतन्त्र प्रमाण बनने से रोक नहीं सकती। क्योंकि इस प्रकार अनुमान का नवीन प्रयोग अगर न किया जाए, तो भी तो 'इसकी गो के समान' मेरी गो है, ऐसी प्रतीति तो सर्वानुभवसिद्ध है ही। इसके लिए इतनी बड़ी झंझट करने की क्या जरूरत है ? और जब प्रतीति ही है, तो तर्क की कोई आवश्यकता है ही नहीं। उपमिति ज्ञान में **'अहम् उपमिनोमि'**–ऐसी अनुव्यवसायात्मक प्रतीति होती है न कि अहम् अनुमिनोमि—यह दोनों का भेद है ।

अतः अनुमान और उपमान दोनों भिन्न प्रमाण है।

इस प्रकार वेदान्तपरिभाषा के उपमान परिच्छेद का केशवलाल शास्त्री प्रणीत सानुवाद विमर्श व्याख्यान यहाँ पूर्ण हुआ ।

***

आगमपरिच्छेदः 4

अपागमो निरूप्यते। यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते, तद्वाक्यं प्रमाणम्। वाक्यजन्यज्ञाने च आकांक्षा-योग्यताऽऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञानञ्चेति चत्वारि कारणानि।

अनुवाद—अब आगम प्रमाण का निरूपण किया जा रहा है। जिस वाक्य के तात्पर्य का विषयरूप संसर्ग, अन्य प्रमाणों के द्वारा बाधित न हो, तो ऐसा वाक्य प्रमाण माना जाता है। वाक्यजन्य ज्ञान में आकांक्षा, योग्यता आसत्ति (सन्निधि) और तात्पर्य—ये चार कारण माने जाते हैं।

विमर्श—अर्थापत्ति और अनुपलब्धि की अपेक्षा आगम प्रमाण—शब्द प्रमाण बहुवादि-सम्मत होने से पहले आगम—शब्द प्रमाण का निरूपण करते हैं।

हर एक वाक्य का अपना तात्पर्य होता है। पदार्थों के संसर्ग-सम्बन्ध का बोध कराना तात्पर्य का काम है और वह संसर्गबोध यदि किसी अन्य प्रमाण से बाधित न होता हो, तो वह वाक्य प्रमाण माना जाता है। यों तो सभी प्रमाणों का तात्पर्य, 'विषयीभूत संसर्ग बोध' तो होता ही है, पर यहाँ प्रमाणान्तर में होने वाली अतिव्याप्ति को हटाने के लिए '**वाक्यस्य**' शब्द दिया गया है।

और लक्षण में 'मानान्तरेण न बाध्यते'—'अन्य प्रमाणों से बाधित न हो'—ऐसा विशेषण देने का प्रयोजन यह है कि, अगर कोई कहे कि 'वह पानी में जल गया'—तो 'पानी से जलना'—रूप '**तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग**' तो प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। अतः वह विशेषण भी सार्थक है। अर्थवाद वाले सभी वाक्यों में तात्पर्यविषय की ही महिमा है। अर्थवाद वाक्यों को प्रमाणरूप मानने के लिए '**तात्पर्यविषयीभूतसंसर्ग**' का ही सहारा लेना पड़ता है। **तात्पर्य का विषय** होने वाला संसर्ग, **शब्दार्थ के विषय होने वाले** संसर्ग में आश्रय लेता है, यह अभिप्राय है।

'मूल में 'आकांक्षा-योग्यता-आसत्तयः' इस प्रकार तीनों को समासिकता से बाँधकर 'तात्पर्य' 'च'—इस प्रकार तात्पर्य को पृथक्-पृथक् करके बताने का प्रयोजन 'तात्पर्य' का बहुवादियों द्वारा अस्वीकार है। वेदान्ती इसे मानते हैं।

यहाँ ख़्याल रखने की बात यह है कि कानों से शब्द सुनना ही कोई शाब्दबोध या शाब्दी प्रमा नही हैं, वह तो शब्द का प्रत्यक्ष ही है। इस शब्दप्रत्यक्ष के प्रति शब्द करण नहीं हैं, करण तो श्रोत्र ही है। वहाँ श्रोत्र प्रत्यक्ष प्रमाण है, वाक्य प्रमाण नहीं है। इस शब्द प्रत्यक्ष से शाब्दी प्रमा को—आगम प्रमाण को अलग करने के लिए ही, ...र्यविषयीभूत संसर्ग बोध'' को शाब्दी प्रमा—आगम प्रमाण ... श्रवणप्रत्यक्ष के बाद—

का करण **वाक्य** है (श्रोत्र नहीं) । पदार्थ का बोध अवान्तर व्यापार है, और प्रत्येक पद का अपने अपने अर्थ में पूर्व से हुआ शक्तिग्रह सहकारी कारण माने गए हैं । इस सबके रहते हुए जो शब्दज्ञान होता है, उसे 'शाब्दी प्रमा' कहा जाता है ।

उक्त वाक्यजन्य ज्ञान में आकांक्षादि चार सहकारी कारण कहे गए हैं क्योंकि इन सभी कारणों के रहने से ही शाब्दबोध होता है। याद रखिए कि इनमें **शब्द** को करण नहीं माना गया है परन्तु, **शब्दज्ञान** को करण माना गया है। सिर्फ शब्द को प्रमाण (शब्दप्रमाण) तो कहीं कहीं इसीलिए कहा गया है कि कानों से सुनकर या लिपि में शब्द को देखकर स्मरणादि प्रकार से जो पदज्ञान हो रहा है, उसके प्रकार—विशेषण—रूप से शब्द विषय पड़ रहा है। इसलिए शब्द को उपलक्षणरूप से ही प्रमाण कर दिया गया है वस्तुतः तो **'शाब्दबोध'** में ही शब्दबोध करण पड़ता है ।

तत्र पदार्थानां परस्परजिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकांक्षा । क्रियाश्रवणे कारकस्य, कारकश्रवणे क्रियायाः करणश्रवणे इतिकर्तव्यतायाश्च जिज्ञासाविषयत्वात् । अजिज्ञासोरपि वाक्यार्थबोधाद् योग्यत्वमुपात्तम् । तदवच्छेदकं च क्रियात्वकारकत्वादिकमिति नातिव्याप्तिः गौरश्च इत्यादौ । अभेदान्वये च समानविभक्तिक प्रतिपाद्यत्वं तदवच्छेदकमिति तत्त्वमस्यादि-वाक्येषु नाव्याप्तिः ।

अनुवाद—(पूर्वोक्त आकांक्षा आदि चार सहकारी कारणों में से—) जो परस्पर जिज्ञासा में विषय बनने की योग्यता है, उसे 'आकांक्षा कहते हैं। (जैसे—) क्रिया का श्रवण होने पर कारक की, कारक का श्रवण होने पर क्रिया की और करण को पहचानने पर इतिकर्त्तव्यता की जिज्ञासा होती है और उस जिज्ञासा के विषय कारक, क्रिया इतिकर्तव्यता आदि बनते हैं। जिज्ञासारहित पुरुष को भी वाक्यार्थबोध के लिए 'योग्यत्व' पद दिया गया है। उस योग्यता के अवच्छेदक क्रियात्व, कारकत्व आदि है, इसलिए अतिव्याप्ति नहीं होगी। इसलिए 'गौ' 'अश्व' आदि पदसमूह में आकांक्षा के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। अभेदान्वयप्रतिपादक वाक्य में समान विभक्ति वाले पदों का प्रतिपाद्यत्व ही योग्यता का अवच्छेदक (निर्णायक) है। इसलिए 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में भी समान विभक्तिक-पद-प्रतिपाद्यत्वरूप योग्यता का अवच्छेदक (निर्धारक) होने से अव्याप्ति नहीं है ।

विमर्श—शाब्दबोध के चार सहकारी कारण—आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति (सन्निधि) और तात्पर्य हैं। उनमें से क्रमशः हर एक का स्पष्टीकरण किया जाता है। पहले आकांक्षा का स्वरूप और आवश्यकता को बताया जाता है। पदों के श्रवण से पदार्थ का बोध तो होता है। किन्तु इन पदार्थों में एक-दूसरे के पति जिज्ञासा विषय की योग्यता रहती है। इसी को यहाँ पर 'आकांक्षा' का नाम दिया गया है। जैसे 'गामानय'—'गाय को लाओ' इस वाक्य के पहले 'गाय को' यह पद सुना, गाय को द्वितीया विभक्ति—कर्म विभक्ति

का, अर्थज्ञान हुआ, अब जिज्ञासा होती है गाय को क्या करें? दोहें, बाँधें? लाएँ?। इसी प्रकार 'आनय'—'लाओं' पद को भी सुना, इतिकर्तव्यता का अर्थबोध हुआ, आज्ञार्थ-मध्ययम पुरुष एकवचन है, यहाँ जिज्ञासा होती है किसको क्या लाना है? तो इन दोनों पदार्थों में परस्पर के लिए जो जिज्ञासा का विषयत्व है, वही है **'आकांक्षा'** ।

वाक्यश्रवण से जिज्ञासारहित पुरुष को भी शाब्दबोध तो होता ही है तो प्रश्न यह है कि जिज्ञासा के न रहते हुए शाब्दबोध कैसे हुआ? उत्तर यह है कि लक्षण में इसीलिए 'योग्यत्त्व'—यह विशेषण दिया है। अर्थात् आकांक्षा के विरह में भी च़हे जिज्ञासारहित व्यक्ति के द्वारा सुने गए पद के अर्थों में परस्पर जिज्ञासाविषयत्व नहीं है किन्तु उसकी योग्यता तो है न? इसीलिए यहाँ पर उक्तलक्षण की अव्याप्ति नहीं है ।

इसी प्रकार 'दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'—'स्वर्ग की कामना वाले पुरुष को दर्श और पौर्णमास द्वारा यज्ञ करना—यहाँ पर स्वर्ग का करण दर्श-पौर्णमास याग है । इसमें इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होती है किससे हवन करें ? दूध से? घी से? लकड़ी से? ऐसी जिज्ञासा होने पर 'समिधो यजति'—आदि वाक्यों के साथ अन्वय किया जाता है। और इतिकर्तव्यता में करण की जिज्ञासा होने पर दर्श-पौर्णमास का अव्यय होता है ।

ये क्रियात्व कारकत्व आदि पूर्वोक्त योग्यता के अवच्छेदक हैं। 'गाम् आनय' इस वाक्य में दोनों पदार्थों में एक-दूसरे में **'जिज्ञासविषयत्व'** की योग्यता है। **'गाम्'** इस पद में योग्यता का अवच्छेदक **क्रियात्व** है, और **'आनय'** इस पद में योग्यता का अवच्छेदक **कारकत्व** है । गोः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती, आदि प्रथमान्त पदों में क्रियात्व कारकत्व आदि का अभाव ही है, और इसलिए आकांक्षा न होने से उनसे, 'पदार्थसंसर्गबोधरूप वाक्यार्थबोध नहीं होता ।

शंकाः—प्रथमान्त पदों वाले वाक्यों में पदों में योग्यता के अवच्छेदक क्रियात्व, कारकत्वादि का तो अभाव रहता है। अतः उनमें विशिष्ट अर्थ का भान नहीं होना चाहिए। अतः ऐसे वाक्यों में आकांक्षा के लक्षण की अव्याप्ति हो जाएगी ।

समाधान यह है कि जहाँ वाक्यरूप में प्रथमान्त पदों का समूह होता है, वहाँ अभेदान्वय होता है। ऐसे स्थल पर क्रियात्व कारकत्वादि अवच्छेदक न होने पर भी **'समानविभक्तिक प्रतिपाद्यत्व'** रूप अवच्छेदक है ही। अर्थात् समान विभक्ति वाले पदों से प्रतिपाद्य वस्तु में **'समान-विभक्तिक-पदप्रतियाद्यत्व' रूप** अवच्छेदक रहता है। जैसे 'नीलम् उत्पलम्' 'सोऽयं देवदत्तः', 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में सभी पद प्रथमा विभक्ति वाले हैं। वे अभिन्नार्थ प्रतिपादक हैं, अभेदान्वय ही यहाँ अवच्छेदक है। **योग्यता का अवच्छेदक तो यहाँ है ही।** अतः अव्याप्ति नहीं है। 'गोः' 'अश्वः',— इत्यादि का अभेदान्वय तो प्रत्यक्ष से ही बाधित है, वहाँ अभेदान्वय हो ही नहीं सकता। तत्त्वमस्यादि महावाक्य में भी अन्वय की योग्यतारूप आकांक्षा है, और वही अवच्छेदबोधक है, ऐसा अनुभव होता है तो उस अवच्छेद का अवच्छेद्य है ही. तो यह़ाँ भी अवच्छेदक

का अनुगम तो होता ही है। अवच्छेदकों का रूप अलग हो, तो वह दोष नहीं है। अवच्छेदक एक न हो तो वह दोष नहीं माना जाना चाहिए।

एतादृशाऽकांक्षाभिप्रायेणैव बलाबलाधिकरणे, 'सा वैश्वदेव्या-मिक्षावाजिभ्यो वाजिनम्'-इत्यत्र वैश्वदेवयागस्यामिक्षाऽन्वितत्वेन न वाजिनाकांक्षेत्यादिव्यवहारः।

अनुवाद—(हमने आकांक्षा का जैसा लक्षण, बतलाया है, ठीक वैसा ही लक्षण पूर्वमीमांसकों को भी मान्य है।) इसी अभिप्राय से पूर्वमीमांसा दर्शन के 3/3)। बलाबलधिकरण में ''यह '**अमिक्षा**' विश्वदेव सम्बन्धी है, और 'वाजिन' नामक द्रव्य वाजिदेवता सम्बन्धी है।'' यहाँ वैश्वदेव याग का 'अमिक्षा' के साथ अन्वय हो जाने पर उसे 'वाजिन' द्रव्य की आकांक्षा नहीं रह जाती। इसलिए ''वैश्वदेव याग में 'वाजिन द्रव्य' का अन्वय होता नहीं है।''—इत्यादि व्यवहार किया जाता है।

विमर्श—'आकांक्षा' का जो लक्षण (ऊपर बताया हुआ) वेदान्ती करते हैं, वही लक्षण मीमांसकों को भी मान्य है। और इसी अभिप्राय से पूर्वमीमांसकों ने 3/3 में बलाबलाधिकरण में स्पष्ट भी किया है। पदों के अर्थ की एक-दूसरे के साथ जिज्ञासा की योग्यता किस तरह निश्चत करनी चाहिए इसके सम्बन्ध में मीमांसकों ने एक अवरोहात्मक मानदण्ड बनाकर सूत्र बनाया है, वही बलाबलाधिकरण का सूत्र है। सूत्र इस प्रकार है—''श्रुति-लिंग-वाक्य-प्रकरण-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्।'' (मी.सू. 3/3) अर्थ यह है कि, (1) श्रुति (निरपेक्षशब्द), (2) लिंग (अर्थविशेषप्रकाशनसामर्थ्य) **(3) वाक्य** (एक-दूसरे की आकांक्षा से एकार्थपर्यवसित पदसमूह), **(4) प्रकरण** (वाक्यरूप बने हुए पदों के अन्य कार्य की अपेक्षा से दूसरे वाक्य के साथ सम्बन्ध) **(5) स्थान** (अनेक पठित पदार्थों की सन्निधि) और **(6) समाख्या** (यौगिक शब्द)—इन छहों के एक ही विषय में सम्बन्ध होने पर यदि परस्पर विरोध हो, तो किसे दुर्बल और किसे सबल समझना चाहिए इसका निर्णय करने के लिए कहा है कि पूर्व से पर (पीछे) को दुर्बल मानना चाहिए अर्थात् इन छहों में पहला दूसरे से, दूसरा तीसरे से, तीसरा चौथे से—इस प्रकार अवरोहात्मक स्वीकार करना चाहिए यह बताया है।

अब हम वेदान्तपरिभाषा के मूल विषय पर आएं। प्रस्तुत में बलाबलाधिकरण का निर्देश करने का प्रयोजन यह है कि वाक्य और श्रुति की एक जगह प्राप्ति होने पर, सूत्र में बताए अनुसार, श्रुति से वाक्य का बाध किस प्रकार होता है, इसका उदाहरण ''आमिक्षावाजिनन्याय'' के रूप में मूल में दिया गया है।

अब इस 'आमिक्षावाजिनन्याय' को समझना मूल को स्पष्ट करने के लिए जरूरी है। इसे समझ लें—

श्रुति है—''तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्''। इस श्रुतिवाक्य का अर्थ इस प्रकार है—''तपे हुए (उबाले हुए दूध में दही डालने पर, फटे हुए दूध में जो घन भाग उत्पन्न होता है, यह—'आमिक्षा' (द्रव्य) वैश्वदेवी—विश्वदेवदेवता

की है और जो पानी बचा रहता है, उसे 'वाजिन' कहते हैं। वह 'वाजिदेवता' के लिए है ।''

यहाँ पर शंका होती है कि 'वाजि' देव का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी विश्वदेव हो ही सकता है जैसे—''वाजमामिक्षारूपमन्नं यस्य सः'' तो 'वाजिन्' क्या अन्य कोई देव है या विश्वदेव स्वयं ही है? पूर्वपक्ष कहता है कि वाक्य में दोनों का विधान है अतः दोनों का विकल्प समझना चाहिए। दोनों एक हों या अलग हों तो भी द्रव्यों का विकल्प मानना चाहिए ।

ऐसे संदेह पर बलाबलाधिकरण के सन्दर्भ से यहाँ वाक्यप्रमाण से श्रुतिप्रमाण की प्रबलता बताई गई है। अतः कहा गया है कि 'वाजिन' वैश्वदेव याग का अंग नहीं हो सकता। 'आमिक्षा' वैश्वदेवी है, ऐसी ही विवक्षा है। वह विवक्षा श्रुतिरूप (निरपेक्ष शब्दरूप) है और 'वाजिन' का विश्वदेव के साथ जो सम्बन्ध होगा वह तो समभिहाररूप वाक्य से ही होगा है । इसलिए श्रुतिप्रमाण, वाक्यप्रमाण की अपेक्षा बलवत्तर होने से वाक्य प्राप्त वाजित् का बाध हो जाता है। वैश्वदेव याग की देवताविषयक आकांक्षा तद्धितश्रुति से प्राप्त होने के कारण प्रबल बनकर 'आमिक्षा' से ही शान्त होती है। अब 'वाजिन् ' की काई और आकांक्षा नहीं रहती। अब वाजिन् निराकांक्ष वैश्वदेव की जिज्ञासा का विषय नहीं रहा। अतः वाजिन् —आभिक्षा का विकल्प या समुच्चय स्वीकार्य नहीं है। इसलिए दो याग हुए 'आभिक्षा'' से वैश्वदेवयाग और वाजिन से वाजिदेव का याग ।

इस लम्बी चौड़ी चर्चा का कारण नैयायिकों के किए गए आकांक्षा के लक्षण की अस्वीकृति है। नैयायिक लोग एक पद को दूसरे पद की आकांक्षा मानते हैं, और आकांक्षा को 'अन्वयबोध प्रागभावरूप' मानते हैं, पर वेदान्ती पदों में आकांक्षा नहीं मानते, वे अर्थों में आकांक्षा मानते हैं। वेदान्तियों की आकांक्षा नैयायिकों की तरह 'अन्वयबोधप्रागभावरूप' भी नहीं है, किन्तु 'जिज्ञासाविषयत्वयोग्यता रूप' ही है (अभावरूप नहीं, भावरूप है ।)

नैयायिकों के अनुसार तो हमारे मूल के उदाहरण में वैश्वदेव याग में 'आमिक्षा' के साथ 'वाजिन' का भी अन्वय होने लगेगा।

इस प्रकार यहाँ पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के आकांक्षा के स्वरूप में समानता बताई गई है ।

ननु तत्रापि वाजिनस्य जिज्ञासाऽविषयत्वेऽपि तद्योग्यत्वमस्त्येव। प्रदेयद्रव्यत्वस्य याग-निरूपित-जिज्ञासा-विषयतावच्छेदकत्वादिति चेत् न। स्व-समानजातीय-पदार्थान्वय-बोधविरहसहकृत-प्रदेयद्रव्यत्वस्यैव तदवच्छेदकत्वेन वाजिनद्रव्यस्य स्वसमानजातीया-मिक्षाद्रव्यान्वय-बोधसहकृतत्वेन तादृशावच्छेदकाभावात् आमिक्षायां तु नैवम्। वाजि-नाऽन्वयस्य तदानुपस्थिततत्वात् ।

अनुवाद—यहाँ पर शंका करते हैं कि, 'तप्ते पयसि' इत्यादि श्रुतिवाक्य में 'वाजिन' को वैश्वदेव याग का जिज्ञासाविषयत्व तो नहीं है, फिर भी जिज्ञासाविषयत्व की योग्यता तो है ही। क्योंकि यागनिरूपित जिज्ञासाविषयत्व का अवच्छेदक (निर्णायक) प्रदेयद्रव्यत्व तो 'वाजिन' में भी है ।

इस शंका का समाधान करते हैं कि, हम केवल प्रदेवन्द्रव्यत्व को ही योग्यता का अवच्छेदक—निर्णायक—नहीं मानते; किन्तु, स्व-समान-जातीय पदार्थ के अन्वय-बोधाभाव से सहकृत प्रदेय द्रव्यत्व को पूर्वोक्त योग्यता का अवच्छेदक-निर्धारक-निश्चायक मानते हैं। 'वाजिन' में यह बात नहीं है। क्योंकि जिस समय हम वाजिन द्रव्य का अन्वय करना चाहते हैं, उस समय वजिन के समानजातीय द्रव्य 'आमिक्षा' का विश्वदेव के साथ अन्वय बोध हो चुका होता है। अतः स्व-समान-जातीय-पदार्थ-अन्वय-विरहरूप विशेषण नहीं है। भले ही प्रदेयद्रव्यत्व रूप विशेष्य अंश वाजिनद्रव्य में विद्यमान हो किन्तु विशेषण अंश न होने से प्रदेय द्रव्य रूप विशिष्ट पदार्थ भी वहाँ नहीं माना जायगा। (विशेषण के अभाव में हम किसी को 'विशिष्ट' नहीं कहते। आमिक्षा में ऐसी बात नहीं है क्योंकि आमिक्षा का वैश्वदेव याग में अन्वय करते समय, आमिक्षा के समान जातीय 'वाजिन' द्रव्य का अन्वय उपस्थित नहीं है। अतः आमिक्षा में स्व-समान-जातीय-पदार्थ-अन्वय-बोध- विरह रूप विशेषण भी है और प्रदेयद्रव्यत्वरूप विशेष्य भी है। इसलिए विशेषण-विशेष्य दोनों के रह जाने से योग्यतावच्छेदक आमिक्षा में ही है पर 'वाजिन' में नहीं है ।

विमर्श—मूल में उठाई गई शंका का तात्पर्य यह है—आपने आकांक्षा का लक्षण, 'पदार्थों की परस्पर जिज्ञासा में विषय बनने की योग्यता'—ऐसा किया। वह तो वाजिन में भी विद्यमान है। फिर उसमें आकांक्षा का अभाव आप कैसे कह रहे हैं। क्योंकि वाजिन द्रव्य में जिज्ञासा भले ही न हो, परन्तु याग की जिज्ञासा में विषय बनने की योग्यता तो है न? क्योंकि यागनिरूपित जिज्ञासा विषयत्व का अवच्छेदक-निश्चायक **'प्रदेयद्रव्यत्व'** वाजिनद्रव्य में भी विद्यमान ही है। इसलिए प्रकृत स्थल में याग की योग्यतारूप आकांक्षा का अवच्छेदक 'प्रदेयद्रव्यत्व' को ही मानना चाहिए।

उत्तरपक्ष का कहना है कि यदि हम 'प्रदेयद्रव्यत्व' को ही मात्र यहाँ योग्यता का अवच्छेदक मानते होते, तब तो आपका कहना ठीक था, पर ऐसा नहीं है। हम केवल 'प्रदेयद्रव्यत्व' को ही 'योग्यतावच्छेदक' नहीं मानते। हम तो योग्यता के अवच्छेदक—निर्धारक के रूप में, 'स्व(पदार्थ) के समान जाति वाले पदार्थ के अन्वयबोध से रहित'—ऐसे विशेषण से युक्त 'प्रदेय द्रव्यत्व' को ही उक्त योग्यता का अवच्छेदक मानते हैं, केवल 'प्रदेयद्रत्यत्व' को नहीं। इसलिए 'वाजिनद्रव्य' में आकांक्षा के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य का यज्ञ में विनियोग करते समय यह देखना चाहिए कि याग में उसके विनियोग होने के पहले किसी और उसके समान

जातीय पदार्थ का उस याग में विनियोग हो चुका है या नहीं? यदि हो चुका है, तब तो हम उस द्रव्य का (यानी पहले की अपेक्षा दूसरे पदार्थ का) प्रकृत—उसी याग में अन्वय नहीं कर सकते। क्योंकि फिर तो उस दूसरे पदार्थ में आकांक्षा नहीं है ।

हमने यहाँ जो योग्यता का अवच्छेदक बताया (स्व-समान-जातीय-पदार्थ-अन्वयबोध-विरह-सहकृत प्रदेयद्रव्यत्वम्), उसमें 'प्रदेयद्रव्यत्व'—**विशेष्य** है, और 'स्व-समान-जातीय-पदार्थ-अन्वय बोध' रहित—यह **विशेषण** है। इन दोनों में से एक का भी यदि अभाव रहेगा तो वह विशिष्ट का अभाव माना जायगा क्योंकि विशेषण के सिवा विशिष्ट नहीं रहता और विशिष्ट के सिवा केवल विशेषण 'विशिष्ट' नहीं बन सकता। ठीक इसी प्रकार यहाँ भी 'स्व-समान-जातीय-पदार्थ-अन्वयबोध—विरह'-रूप विशेषण के अभाव में, केवल 'प्रदेयद्रव्यत्व' रूप विशेष्य को योग्यता का अवच्छेदक नहीं मान सकते। वैश्वदेव याग में 'आमिक्षा' और 'वाजिन'—दो द्रव्य उपस्थित हैं। यहाँ पहले किसका अन्वय होगा? और बाद में किसका अन्वय होगा?

पहले इस बात का निर्णय तो हो चुका ही है कि वाक्यप्रमाण की अपेक्षा श्रुतिप्रमाण प्रबलतर है। अतः श्रुतिप्रमाण से 'आमिक्षा' द्रव्य का वैश्वदेव याग में पहले ही अन्वयबोध हो चुका। इसके बाद अगर वाजिनद्रव्य का उसी वैश्वदेव याग में अन्वय करना चाहें, तो उस समय तो वाजिनद्रव्य के समान जाति वाले 'आमिक्षा द्रव्य' की अपनी समान जाति वाले पदार्थ—आमिक्षा का अन्वयबोध, वैश्वदेव याग में श्रुतिप्रमाण से हो ही चुका है। इसलिए स्व-समान-जातीय-पदार्थ-अन्वयबोध विरहरूप विशेषण के न रहने से, 'प्रदेशद्रव्यत्व' रूप विशेष्य मात्र कहीं योग्यता का अवच्छेदक नहीं बन सकेगा। विशेषणाभाव से तद्विशिष्ट का भी अभाव होता है ।

उदाहरणान्तरेष्वपि दुर्बलत्वप्रयोजक आकांक्षाविरह एव द्रव्यव्यः ।

इसी प्रकार से अन्यान्य उदाहरणों में भी श्रुति, लिंग आदि की एक साथ उपस्थिति होने पर दुर्बलता का प्रयोजक आकांक्षा का अभाव ही समझना चाहिए ।

विमर्श—जैसे श्रुति और वाक्य में विरोध होने पर वाक्यप्रमाण में दुर्बलता का प्रयोजक, आकांक्षा का अभाव माना गया है, वैसे ही दूसरे-दूसरे उदाहरणों में भी दुर्बलता का प्रयोजक आकांक्षा का अभाव ही समझना चाहिए। ऐसे तो बहुत से उदाहरण हैं, वे यहाँ बताए नहीं जा सकते। नैयायिकों की आकांक्षा **पदों** में अन्वय बोधाभाव रूप है जबकि वेदान्ती **पदार्थों** में अन्वय बोधाभाव को आकांक्षा कहते हैं। नैयायिकों की आकांक्षा अभावरूप है, जब कि वेदान्ती की आकांक्षा भावरूप है। वेदान्ती का यह पदार्थनिष्ठ, भावरूप आकांक्षा पूर्वमीमांसकों को भी मान्य है ।

योग्यता च तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गाबाधः । वह्निना सिञ्चतीत्यादौ तादृशसंसर्गबाधान्न योग्यता । ''स प्रजापतिरात्मनो वयामुदखिदत्,'' इत्यादावपि तात्पर्यविषयीभूतपशुप्राशस्त्याबाधाद् योग्यता ।

तत्त्वमस्यादिवाक्येष्वपि वाच्याभेदबाधेऽपि लक्ष्यस्वरूपाभेदबाधाभावाद् योग्यता ।

अनुवाद—तात्पर्य विषयीभूत संसर्ग का बाध न होता ही 'योग्यता' है। 'अग्नि द्वारा सींचता है'—आदि वाक्य में सिंचन की क्रिया के प्रति अग्नि का करणस्वरूप संसर्ग अभिप्रेत तो है,पर यह प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। इसलिए 'अग्निया सिंचति' इत्यादि वाक्य में योग्यता नहीं मानी जाती। 'उस प्रजापति ने अपनी वपा (चरबी) को खरोंच कर निकाला'—इत्यादि वाक्य में योग्यता विद्यमान है। क्योंकि 'तात्पर्यविषयीभूत' पशुयाग की प्रशंसारूप अर्थ किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं होता। इसी तरह 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य में भी दोनों पदों के वाच्यार्थ का अभेद प्रत्यक्ष अनुभव से बाधित होने पर भी लक्ष्य स्वरूप के अभेद का बाध नहीं होता। अतः वहाँ योग्यता विद्यमान ही है ।

विमर्श—वाक्य से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के सहकारी कारणरूप आकांक्षा का निरूपण करके अब योग्यता का स्वरूप बता रहे हैं, कि "जहाँ पर वाक्य के तात्पर्य विषयभूत जो सम्बन्ध का अन्य प्रमाण से बाध न होता हो, तो वहाँ वाक्यार्थबोध करने की योगयता है।" यह योग्यता की व्याख्या है। उदाहरणार्थ 'गामानय'—इस वाक्य में योग्यता विद्यमान है, क्योंकि 'गोकर्मक' 'आनय'—क्रियारूप—इस वाक्य का तात्पर्य, विषयभूतसंसर्ग, किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं है। सावयव तथा परिच्छिन्न होने से आनमनक्रिया के साथ, कर्मत्वरूप से गो का सम्बन्ध संभव ही है। इसलिए इसका बाध कोई भी नहीं कर सकता। परन्तु 'अग्निना सिञ्चति' इस वाक्य का वह्निकरणक सेचन क्रियारूप तात्पर्य विषयीभूतसंसर्ग तो प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। कहीं भी कोई भी आग से गीला होता हुआ देखा-सुना नहीं गया है। आग से तो गीलेपन का शोष ही होता है। इसलिए वह्निकरणक सेचन क्रिया का प्रत्यक्ष से बाध हो जाने से 'वह्निना सिञ्चति'—आदि वाक्य में योग्यता नहीं मानी जाती। 'स प्रजापतिरात्मनो यथामुदविदत्'—"उस प्रजापति ने अपनी वपा (चरबी) खरोंच डाली"—आदि वाक्यों में पशुयाग की प्रशंसा अर्थवाद से की गई है। यहाँ अपनी वपा को खरोंच डालना तो प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध बात है। वह प्रत्यक्षप्रमाणबाधित है। दूसरे की वपा को तो कोई खरोंच सकता है, पर अपनी वपा को खरोंचना तो कभी देखा नहीं गया। इसलिए यह वाक्य अप्रमाणिक है। तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इस वाक्य का तात्पर्य, विषयीभूत संसर्ग—चरबी—के खरोंचने में नहीं है। किन्तु पशुयाग की प्रशंसा में है। इसका मतलब यह है कि पशुयाग इतना श्रेष्ठ है कि जिसकी सिद्धि के लिए प्रजापति ने भी खुद अपनी वपा-चरबी—का उल्खात किया था । इस प्रकार प्रशंसा बताकर पाशुयाग करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है। यहाँ यह याद रखने की जरूरत है कि योग्यता के होते हुए भी यदि वह ज्ञापमान नहीं है तो ऐसी अज्ञात योग्यता वाक्यार्थबोध में कारण हो नहीं सकती।

अतः ज्ञायमान योग्यता ही वाक्यजन्यज्ञान में सहकारिकारण है। अज्ञात-अकेली-विद्यमान योग्यता नहीं ।

इसी तरह, 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्य में भी योग्यता विद्यमान है। 'तत्वमसि'— इस महावाक्य का तात्पर्य विषयीभूत अर्थ, 'तत्' और 'त्वं' पदार्थ का अभेद ही है। उस 'तत्' और 'त्वं' पदार्थ का अभेद जनसाधारण दृष्टि से तो हो नहीं सकता। परन्तु, इस असंभावना पर विचार करने से वह 'संभव' हो जाता है। वाक्य के **'तत्'** पद का वाच्यार्थ तो 'सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य' और 'त्वं' पद का अर्थ होता है 'अल्पक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य'। इसलिए ऐसे वाच्यार्थ वालों का अभेद तो अनुभवविरुद्ध ही है। इसलिए बाधित है। फिर भी **'तत्'** और **'एवं'** पदार्थों का अभेद, औपाधिक सर्वज्ञत्व और 'अल्पज्ञत्व' ऐसे दोनों के विरुद्ध धर्मों का 'भागत्यागलक्षणा' से त्याग देने से अवशिष्ट चैतन्यमात्र का—लक्ष्मार्थरूप चैतन्यमात्र का—लक्ष्यार्थ का अभेद तो संभव ही है। और यही, महावाक्यों का तात्पर्यविषयीभूत अर्थ है। सभी प्रमाणों से वह निर्बाध होने के कारण 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में योग्यता है ही। ऐसे ही सभी जगह लौकिक तथा वैदिक वाक्यों में ''तात्पर्य-विषय-संसर्गाबाध'—रूप योग्यता रहने पर ही ''वाक्यार्थबोध'' होता है ।

आसत्तिश्चाव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपस्थितिः। मानान्तरोपस्थापितपदार्थस्यान्वयबोधाभावात् पदजन्येति। अत एवाश्रुतपदार्थ-स्थले तत्तत्पदाध्याहारः। द्वारमित्यादौ 'पिधेहि' इति। अत एवा 'इषेत्वा' इत्यादिमन्त्रे 'छिनद्मि' इति पदाध्याहारः। अत एव विकृतिषु 'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि' इति पदप्रयोगः ।

अनुवाद—वाक्यार्थज्ञान में सहकारी कारण आसत्ति का स्वरूप अब बताया जा रहा है। अव्यवहित रूप से पदजन्य पदार्थों की जहाँ उपस्थिति होती है, वह 'आसत्ति' है । अन्य प्रमाणों के द्वारा उपस्थापित पदार्थ का वाक्यार्थबोध में अन्वय **वाक्यार्थ** में तो नहीं होता। इसीलिए यहाँ **पदजन्यपदार्थोपस्थिति**' कहा गया है। और इसीलिए जहाँ किसी पदार्थ का श्रवण न हुआ हो, वहाँ उस उस पद का अध्याहार किया जाता है। जैसे—'द्वारम्' इत्यादि में 'पिधेहि' पद का अध्याहार किया जाता है। इसी तरह, ''इषे ज्वा'' इत्यादि मंत्र में, छिनभि पद का अध्याहार किया जाता है (पद-जन्य-पदार्थोपस्यिति मीमांसकों को भी मान्य है) इसलिए विकृति यागों में, ''सूयार्य जुष्टं निर्वपामि''—''मैं सूर्यदेव को उद्देश्य कर, सहसंबंधी हवि का निर्वाप करता हूँ''—ऐसे पद का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार सभी जगहों में पदजन्य पदार्थों की ही उपस्थिति वाक्यार्थं में कारण मानी गई है।

विमर्श—'ओदनं पश्य'—'भात देखो', और 'चन्द्रंभुंक्ष्व'—'चन्द्र को खाओ'— इन दोनों वाक्यों में प्रत्येक में दोनों पदों की उपस्थिति अव्यवहितरूप से बनी ही रही

है। आसत्ति का लक्षण ऐसे वाक्यों में न आए, इसलिए **पदार्थों की उपस्थिति** के साथ ही 'अव्यवधान' पद का अन्वय कर देना चाहिए। केवल पदों की ही यह याद रखें ।

भले ही प्रत्यक्षप्रमाण से यह दिखाई भी दे रहा हो, फिर भी शाब्दबोध में उसका अन्वय नहीं होता। कारण यह है कि उस घटरूप पदार्थ की उपस्थिति **पद** से नहीं हुई है—'वह पदजन्य नहीं है। हाँ, जहाँ पर प्रत्यक्ष से दीखने वाले घट की ओर ऊँगली से निर्देश करके, 'पश्य हे माधव!' ऐसा कहकर घट का निर्देश किया जाता है, वहाँ पर ''पद-जन्य-पद-अर्थ''त्व आ तो जाता है, पर वहाँ भी 'घटम्' ऐसे द्वितीयान्तपद का 'अध्याहृतशब्दबोध' ही होता है। इसीलिए तो मूल में कहा गया है कि ''शब्दप्रमाण के सिवाय अन्य प्रमाणों के द्वारा उपस्थापित पदार्थों का अन्वयबोध वाक्यार्थ के ज्ञान में नहीं होता ।'' इसलिए शब्दप्रमाण में पदार्थ की उपस्थिति पदजन्य ही होनी चाहिए । जहाँ पदार्थ सुना न गया हो, वहाँ पर श्रुत पदार्थ के साथ सम्बन्ध के योग्य पदार्थ का उपस्थापक पद अध्याहृत करना पड़ता है। इसलिए तो 'द्वारम्' इस पद को सुनते ही 'पिधेहि' पद का अध्याहार करने पर ही 'द्वार बन्द करो'—ऐसा शाब्दबोध होता है। लौकिक वाक्यों के समान वेद में भी पदों के अध्याहार करके शब्दबोध बताया गया है ।

जैसे—श्रुति में एक अज्ञातार्थ मंत्र है—''इषे त्वयोर्जे त्वा..........'' इत्यादि। इस श्रुति का स्पष्ट अर्थ समझने के लिए मीमांसासूत्रों में एक अधिकरण बताया गया है। 'इषे त्वोर्जे इत्यादि एक श्रुति है, वहाँ पहले संशय प्रकट किया गया है कि वह लम्बा समस्त मंत्र रूप एक ही वाक्य मानेंगे या तो विभिन्न दो वाक्य मानेंगे? इसके निर्णय के लिए मीमांसासूत्रों में द्वितीयाध्याय के प्रथम पाद में एक पूरा अधिकरण दिया गया है ।

बताए गए संशय पर पूर्वपक्षी कहता है कि यह एक ही वाक्य मानना चाहिए। क्योंकि यह मंत्र अदृष्टार्थ है। और दो अदृष्ट अर्थों की कल्पना करने की अपेक्षा एक अदृष्ट को मानने में ही लाघव है। इस मंत्र में क्रिया श्रुत नहीं है, क्रिया बताई गई नहीं है। इसीलिए यह अदृष्टार्थ प्रतिपादक एक वाक्य है, ऐसा पूर्वपक्षी का मानना हुआ ।

अब सिद्धान्ती यह निर्णय करता है कि ये दो भिन्न वाक्य हैं (एक वाक्य नहीं और निर्णय के लिए एक सूत्र बनाता है—''समेषु वाक्यभेदः स्यात्'' (जै.सू. 2/1/57) इसके आधार पर ये दोनों भिन्न वाक्य हैं, ऐसा 'मानना चाहिए क्योंकि मंत्र के ''इषे त्वा'' और ऊर्ज्वे त्वा—ये पद सम हैं और परस्पर भी आकांक्षा नहीं करते ।

परन्तु इस मंत्र में क्रियापद तो है नहीं। तो फिर दो वाक्यों को मानने का प्रयोजन क्या है? उसका उत्तर यह है कि मंत्र के ''इषे त्वा''—पदों के बाद 'छित्ति' क्रिया का यहाँ अध्याहार मानना चाहिए और 'ऊर्जे त्वा''—इन पदों बाद अनुमार्ष्टि (समार्जन करता है) इस क्रियापद का अध्याहार करना चाहिए। ये दोनों वाक्य क्रमशः पलाश शाखा के छेदन और मार्जनरूप दो अलग कर्मों का प्रकाशन करने वाले दृष्टार्थक ही हैं। अर्थात् 'इषे त्वा' का अर्थ है—''हे पलाशशाखे! मैं तुझे इच्छित अन्न प्राप्त करने के

लिए तोड़ता हूँ'' और 'ऊर्जे त्वा' का अर्थ है—''हे पलाशशाखे, मैं तुम्हारे रस के लिए अथवा बल के लिए सम्मार्जन करता हूँ।'' ऐसा अर्थ निश्चित होता है ।

इसी तरह एक दूसरे वेदवाक्य में भी अश्रुत पद का अध्याहार बताने के लिए मीमांसा के नवमाध्याय के प्रथम पाद में एक अधिकरण की रचना की गई है। मीमांसा में प्रकृति और विकृति प्रकार के याग होते हैं। जहाँ पर समग्र अंगों का उपदेश हो, उसे 'प्रकृतियाग' कहते हैं, और जहाँ पर न हो उसे 'विकृतियाग' कहा जाता है ।

अब **'आग्नेय'** नामक प्रकृतियाग में एक मंत्र पठित है—''देवस्य त्वा सवितुः.........अग्नये जुष्टं निर्वपामि''—इत्यादि। अब यहाँ 38-39 सूत्रों से यह चर्चा की गई है कि उपर्युक्त मंत्र में आए हुए 'अग्नि' शब्द का सौर्यादि विकृतियाग में ग्रह किया जाए या नहीं?—पहले तो संदेह किया गया है कि 'अग्नि' शब्द के स्थान पर सूर्य शब्द की योजना की जाए या न की जाए? यह संशय हो जाने पर पूर्वपक्षी कहता है कि जैसे पीछे के अधिकरण में 'सवितुः' यहाँ सवितृशब्द का ऊह न करने का फैसला सुनाया गया है, इसी के आधार पर यहाँ भी ऊहा नहीं करनी चाहिए। पूर्वपक्षी की बात का खण्डन करके यहाँ पर सिद्धान्त बनाया गया है कि **सवित्रादि** शब्द, कर्म से प्रत्यक्ष सम्बद्ध नहीं है, इसलिए उसका 'ऊह' संभव न होने पर भी **अग्न्यादि** शब्द तो कर्म से प्रत्यक्ष सम्बद्ध है ही। इसलिए विकृतियाग में 'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि'—यह ऊह करना चाहिए ऐसा सिद्धान्त बनाया गया है। यहाँ पर भी पदाध्याहार ही बताया गया है ।

सारांश यह है कि 'पद' का अध्याहार न करके 'पद के अर्थ' का अध्याहार किया जाए यह मानने पर मीमांसा के पूर्वाधिकरणों से विरोध होगा। इसलिए 'पद का अध्याहार' ही स्वीकरणीय है ।

पदार्थश्च द्विविधः-शक्यो लक्ष्यश्चेति। तत्र शक्तिर्नाम पदानामर्थेषु मुख्या वृत्तिः। यथा घटपदस्य पृथुबुध्नोदराद्याकृतिविशिष्टे वस्तुविशेषे वृत्तिः। सा च शक्तिः पदार्थान्तरम्। सिद्धान्ते कारणेषु कार्यानुकूल-शक्तिमात्रस्य पदार्थान्तरत्वात् ।

अनुवाद—शाब्दबोध में पदजन्य पदार्थोपस्थिति कारण है यह तो बताया गया। परन्तु, वह पदार्थ कितने प्रकार का है ऐसी आकांक्षा होने पर वह बताया जाता है—पदार्थ दो प्रकार का है (1) शक्य और (2) लक्ष्य। शक्तिवृत्ति से पद जिस अर्थ को बताना है उसे शक्यार्थ कहते हैं। पदों की अपने अपने अर्थों में रहने वाली मुख्य वृत्ति को शक्तिवृत्ति कहते हैं। जैसे 'घट' पद की बड़ा वर्तुल उदर वाली आकृति से विशिष्ट वस्तुविशेष में शक्ति है। वह शक्ति एक पदार्थान्तर ही है। इच्छादिरूप नहीं है। क्योंकि सिद्धान्त में कारणों में कार्य उत्पन्न करने की अनुकूल समस्त शक्तियों को अलग-अलग पदार्थ ही माना गया है ।

विमर्श—पहले पदजन्य पदार्थोपस्थिति बता चुके हैं। उनमें शक्य तथा लक्ष्य के

भेद से पदार्थ दो प्रकार के हैं। जिस पदार्थ को शक्ति वृत्ति से बतलाया जा सके उसे शक्य पदार्थ कहते हैं। और जिस पदार्थ को लक्षणा वृत्ति से बतलाया जाए उसे लक्ष्यार्थ कहते हैं । दोनों में अर्थबोधन का सामर्थ्य पद में हैं ।

इस प्रकार वृत्ति के भेद से पदार्थ दो प्रकार का होता है। यद्यपि वृत्ति के उपविभाग गौणीवृत्ति, केवललक्षणा, लक्षितलक्षण आदि भेदों का ख़्याल आगे करवा दिया जायगा, फिर भी उन सभी का अन्तर्भाव इन दोनों में कर दिया जाता है। उनमें गौणीवृत्ति का लक्षित लक्षण में अन्तर्भाव कर देने से विभाग दो ही बचते हैं ।

पदनिष्ठ शक्तिवृत्ति के विषय को शक्यार्थ कहा गया है। इस शब्दार्थ का निरूपण शक्तिवृत्ति के निरूपण पर आधार रखता है। अतः शक्तिवृत्ति का निरूपण किया जाता है । प्रभाकर ने सिद्ध अर्थों में पदों की शक्ति नहीं मानी है, किन्तु कार्य से अन्वित पदों में ही शक्ति मानी है। उनका कहना है कि 'घटमानय', यहाँ पर 'आनयन' रूप कार्य से सम्बद्ध घट व्यक्ति को जब कोई देखता है, तभी वह घट पद की शक्ति ग्रहण कर सकता है । यह ठीक नहीं । तब तो आनय पद का अपने अर्थ में शक्तिग्रह होगा नहीं। क्योंकि घट तो आनयन क्रिया के साथ अन्वित है, पर आनयनक्रिया तो किसी दूसरी क्रिया के साथ अन्वित नहीं है। अतः सभी पदों की अपने अपने अर्थों में वृत्ति होती है उसी को शक्ति कहते हैं। जैसे घट की बड़े तथा गोल पेट वाली वस्तुविशेष—घट—में शक्ति है। यह शक्ति क्या चीज़ है? इस प्रश्न का उत्तर नैयायिक देते हैं कि इस पद का यह अर्थ है, ऐसी ईश्वरेच्छा ही वह शक्ति है। पर नैययिकों का यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि हम तो शक्ति को एक अतिरिक्त पदार्थ ही मानते हैं। और वह हमारा पदार्थ भी केवल 'पदार्थबोधनसामर्थ्य'-रूप पदनिष्ठ वृत्ति रूप ही नहीं है। परन्तु सभी जगह कारणों में कार्यों की उत्पत्ति के अनुकूल शक्ति को ही हम पदार्थ कहते हैं। ऐसी शक्ति (पदार्थ) के होने में कार्य की अनुपपत्ति ही प्रमाण है। यदि अग्नि में दाहानुकूल शक्ति न होती तो अग्नि कभी दाहक नहीं होता। जल में दाहानुकूलशक्ति नहीं है, इसलिए वह नहीं जलता। नैयायिक कहीं कहीं 'शक्तिपदार्थ' के होने के स्थान पर 'प्रतिबन्धकाभाव' को मानते हैं, पर किसी भी के अभाव से किसी भी प्रकार के भावकार्य की उत्पत्ति आजतक न देखी गई है, न सुनी भी गई है। चन्द्रकान्तमणिरूप प्रतिबन्धक के साथ रहने पर अग्नि नहीं जलती और प्रतिबन्धकाभाव—चन्द्रमणि के प्रतिबन्धक के—अभाव में जलता है, ऐसा कहकर नैयायिक लोग अग्नि में दाहानुकूलशक्ति मानने की बजाय प्रतिबन्धकाभाव को दाह का कारण मान रहे हैं—अभाव को भाव का कारण मान रहे हैं। कितनी बेहूदी बात है ? नैयायिक अगर प्रतिबन्धकाभावविशिष्ट वह्नि में दाहकता मानते हैं तो इससे प्रतिबन्धका भाव में रहा हुआ 'अभाव' तो कहीं चला नहीं जाता न? और ऐसे विशेषणयुक्त अग्नि में दाहकता मानने की अपेक्षा केवल अग्नि में दाहकतारूप शक्तिपदार्थ को मानने में क्या हानि है, वह हमारी समक्ष में नहीं आता ।

और सभी जगह कारणों में अपने-अपने कार्य की उत्पत्ति के अनुकूल शक्ति हुआ

ही करती है मिट्टी में घड़े की, तन्तु में पट की आदि। उसका कभी व्यत्यय नहीं होता। न मिट्टी पट बना सकती है और न तन्तु घड़ा ही। शक्ति विचार से पृथक् है। झूठी कापोतकल्पित बेहूदी कपोलकल्पनाएँ करने की अपेक्षा कारणों में कार्योत्पत्ति के अनुकूल शक्तिपदार्थ को मानना ही योग्य है। कार्य की अन्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति प्रमाण ही यहाँ अकेला नहीं है, श्रुति भी प्रमाण है कि ''पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते (इस परमात्मा की शक्ति तरह तरह की सुनी गई है।) और स्मृति भी, ''शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्या ज्ञानगोचराः।'' (सभी पदार्थों में ज्ञानमात्र से जानी जा सकें, ऐसी शक्तियाँ होती हैं)— ऐसा कहती है ।

सा च तत्तत्पदजन्यपदार्थज्ञानरूप कार्यानुमेया। तादृशशक्तिविषयत्वं शक्यत्वम्। तच्च जातेरेव, न व्यक्तेः। व्यक्तीनामानन्त्येन गुरुत्वात्। कथं तर्हि गवादिपदाद् व्यक्तिमानमिति चेत्, जातेर्व्यक्तिसमानसंवित्संवेद्यत्वादिति ब्रूमः ।

अनुवाद—तत् तत् पद से उत्पन्न पदार्थ ज्ञानरूप कार्य से वह शक्ति अनुमेय मानी गई है। ऐसी शक्ति के विषय को ही शक्य कहा जाता है। उसमें (विषय में) शक्यत्व रहता है। उस शक्ति का विषय जाति ही है, व्यक्ति नहीं है। व्यक्तियों की असंख्येयता के कारण, व्यक्ति में शक्ति मानने में गौरव पड़ जाता है। यदि कहा जाए कि व्यक्ति में शक्ति न मानने पर गोपद से गाय अर्थ का भान (व्यक्ति का भान) कैसे होगा? तो कहते हैं कि जाति और व्यक्ति में हम 'एकज्ञानविषयत्व' मानते हैं ।

विमर्श—कारणों में कार्यानुभव शक्ति हमें इष्ट है। तदनुसार प्रस्तुत सन्दर्भ में पदार्थ का ज्ञानरूप कार्य देखकर पद में तदनुसार शक्ति का अनुमान किया जा सकता है अतः उसे कार्यानुमेय कहा गया है। कार्य के पहले शक्तिज्ञान कभी भी नहीं होता। और अनुमान या अर्थापत्ति से अन्य किसी प्रमाण से शक्ति का ज्ञान नहीं होता। जैसे दाहरूप कार्य देखकर अग्नि में तदनुरूप शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है, ठीक इसी तरह 'घट' पद सुनकर कम्बुग्रीवादिमान पदार्थ का ज्ञानरूप कार्य को देखने के बाद ही घट पद में **घटपदार्थबोधन** सामर्थ्य का अनुमान किया जा सकता है। ऐसे शक्ति के विषय को ही 'शक्य' कहा जाता है ।

यद्यपि घट पद सुनने से **'घटत्व-विशिष्ट-घट'** ही बोध होता है, तथापि घट पद की शक्ति घटत्व जाति में ही माननी चाहिए। क्योंकि घटव्यक्ति तो अनन्त हैं। और अनेक घटों की अनन्त शक्तियाँ मानने की बजाए एक ही शक्ति मानने में लाघव होने से वही वांछनीय है ।

यद्यपि इसी ग्रन्थ के प्रत्यक्षप्रमाणपरिच्छेद में 'जाति' का खण्डन किया है, फिर भी शक्ति का उस अमान्य-खण्डन की गई जाति में रहने की बात कहना बड़ी विचित्र बात मालूम होगी तथापि वहाँ पर जाति के **'नित्यत्प'** और **'सत्त्व'** का खण्डन किया

गया है, **अनेकानुगतत्व** का खण्डन नहीं किया है। घटत्व को निखिलघटानुगत एक धर्म मानना तो हमें इष्ट है ही । क्योंकि घटत्व तो सभी को अनुभवसिद्ध ही है । अनेकानुगतत्व को केवल जातित्व मानने में ही हमारा विरोध है, उसे अनुभव मानने में नहीं। ऐसे उस अनुभव को यहाँ हमने जाति नाम इसलिए दिया कि पूर्वपक्षी हमारे अभिप्राय को अच्छी तरह समझ सकें । अर्थात् अनुगतधर्म में ही (=आपकी जाति में ही) शक्तिपदार्थ रहता है ।

जाति और व्यक्ति का तादात्म्य है, अतः जहाँ घटत्व होगा, वहाँ घट तो होगा ही। हमें घटत्व और घट का ज्ञान भी इसीलिए एक ही समय में हो जाता है इसीलिए इन दोनों को हम '**एक-संवित्-संवेद्य** कहते हैं। अर्थात् जिस ज्ञान से घटनिष्ठ घटत्वधर्म का प्रकाश होता है, उसी ज्ञान से घट का भी प्रकाश होता है। वेदान्त मत में गुण-गुणी, अवयव-अवयवी और जाति-व्यक्ति को अभिन्न माना गया है। अतः दोनों के बोधक के लिए एक समान ज्ञान सामग्री ही है, भिन्न नहीं। इसे महर्षि बादरायण ने 'तदनन्यत्वमारंभणशब्दादिभ्यः'—(ब्र.सू. 2-1) में स्पष्ट किया है। वहाँ वे कहते हैं कि ''कार्य कारण से अभिन्न है, अतः उपनिषद् ने घट को केवल कथनमात्र माना है वस्तुतः मृत्तिका ही सत्य है ।''

यद्वा गवादिपदानां व्यक्तौ शक्तिः स्वरूपसती, न तु ज्ञाता हेतुः। जातौ तु ज्ञाता। न च व्यक्त्यंशे शक्तिज्ञानमपि कारणम्, गौरवात्। जातिशक्तिमत्त्वज्ञाने सति व्यक्तिशक्तिमत्त्वज्ञानं विना व्यक्ति-धीविलम्बाभावाच्च ।

अथवा गवादि पद की व्यक्ति में शक्ति 'स्वरूपसती' ही है, ज्ञाता नहीं है। (मात्र स्वरूप में विद्यमान होकर ही शाब्दबोध का कारण है, ज्ञायमान होकर नहीं) और जाति में ज्ञात भी होकर शाब्दबोध का कारण बनती है। व्यक्ति-अंश में भी ज्ञानशक्ति को साथ में जोड़ने से गौरव होगा। साथ ही जाति में शक्तिमत्ता का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य में व्यक्तिनिष्ट शक्तिमत्ता का ज्ञान तो किसी भी प्रकार के विलम्ब के बिना ही हो जाता है ।

विमर्श—शाब्दबोध में दो प्रकार की शक्ति कारणभूत हो सकती है, (1) स्वरूप से (2) ज्ञायमान होकर। यों तो शाब्दबोध में दोनों प्रकार की शक्ति कारण बनती हैं । परन्तु भेद केवल इतना ही है कि गवादि पद की गो व्यक्ति में शक्ति स्वरूप से विद्यमान होती हुई शाब्दबोध में कारण होती है, जबकि जाति में वह शक्ति ज्ञायमान होती हुई कारण बनती है । अर्थात् गोपद की शक्ति गोव्यक्ति और गोत्व—दोनों में होते हुए भी गोव्यक्ति में स्वरूपतः और गोत्व में ज्ञायमान रूप से कारण है। गोत्व में शक्तिग्रह होने के बाद गोव्यक्ति में साथ ही शक्तिग्रह हो जाता है। इसमें कोई क्रमिकता नहीं है। अग्नि की दाहशक्ति का ज्ञान पहले हो या न हो, पर स्पर्श होते ही दाह होना निश्चित ही है। ज्ञान नहीं होने पर वह शक्ति 'स्वरूपसती' कही जायगी। जाति और व्यक्ति दोनों में ही ज्ञायमान शक्ति को कारण मानने में गौरव है ।

अत एव न्यायमतेऽप्यन्वये शक्तिः स्वरूपसतीति सिद्धान्तः। ज्ञायमानशक्तिविषयत्वमेव वाच्यत्वमिति जातिरेव वाच्या।

अनुवाद—इसीलिए न्यायमत में सम्बन्ध अंश में 'स्वरूपसती शक्ति' शाब्दबोध का कारण मानी गई है। 'ज्ञायमान शक्ति' का विषय ही शक्य या वाच्य होता है। अतः जाति ही शक्यार्थ है व्यक्ति नहीं।

विमर्श—जहाँ पर शक्ति के ज्ञान के बिना ही पदार्थ का शाब्दबोध हो जाता है, वहाँ पर शक्ति के ज्ञान की कल्पना करना अनुचित ही है। इसीलिए न्यायमत में पदार्थों के संसर्ग में स्वरूपसती शक्ति को शाब्दबोध का हेतु माना है। तथा घट पद की शक्ति घट, घटत्व और दोनों के समवाय सम्बन्ध में है। इनमें घटत्व और घट—इन दोनों में शक्ति का ज्ञान होने पर ही पदार्थ-शाब्द-बोध होता है। किन्तु समवायसम्बन्ध में, शक्तिज्ञान, शाब्दबोध के लिए आवश्यक नहीं है। उस, अंश में तो सिर्फ शक्ति की सत्ता—विद्यमानता—ही व्यक्ति का बोध करा देगी। इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है।

ज्ञायमान शक्ति के विषय को ही 'शक्य' कहा जाता है, केवल स्वरूपसती शक्ति के विषय को शक्य नहीं कहा जाता। व्यक्ति ज्ञायमान शक्ति का विषय न होने से उसमें शक्यत्व की कल्पना व्यर्थ है। पर सम्बन्धांश में केवल स्वरूपसती शक्ति से काम नहीं चलता, क्योंकि सम्बन्धांश-अन्वयांश का बोध वाक्य से होता है। अर्थात् संसर्ग ही पदार्थों की अपेक्षा वाक्यार्थ ज्ञान में विशेष रूप से विषय पड़ता है।

अथवा व्यक्तेर्लक्षणयाऽवगमः। यथा 'नीलो घट' इत्यत्र नीलशब्दस्य नीलगुणविशिष्टे लक्षणा, तथा जातिवाचकस्य तद्विशिष्टे लक्षणा। तदुक्तम् –''अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः।' इति शक्यो निरूपितः।

अनुवाद—अथवा व्यक्ति का लक्षणा से बोध हो जायगा। जिस प्रकार 'नीलो घटः' (नीला घड़ा है) यहाँ पर नील शब्द की नीलगुणविशिष्ट में लक्षणा मानी जाती है, ठीक इसी प्रकार जातिवाचक शब्द की जातिविशिष्ट में लक्षणा कर दी जाएगी। इस बात को, 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इस वाक्य से कहा गया है। (अर्थात् शब्द का अर्थ शब्द से अन्य के द्वारा प्राप्त नहीं होता।) मतलब यह है कि जो लक्षणा से जाना जाता है, वह शब्दार्थ नहीं होता।

विमर्श—शक्ति के विषय को ही शक्यार्थ कहते हैं। जहाँ लक्षणा से व्यक्ति भान होता है, वहाँ शक्तिवृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं। नैयायिकों ने अन्वय बोध में स्वरूपसती की कल्पना की है, पर अन्वयबोध तो वाक्य से होता है। अतः लक्षणा से ही व्यक्ति तथा अन्वय—दोनों अंशों की उपस्थिति माननी चाहिए। जिस तरह 'नीलोघटः' (नीला घड़ा है) इसमें नील पद की शक्ति नीलगुण बोधन में है, तथा घट पद की शक्ति घट अर्थ में है, तथापि नीला पद की नीलगुणविशिष्ट के अर्थ में लक्षणा करने से **'नीलगुणविशिष्ट अर्थ'** का बोध होता है, ठीक इसी तरह 'घट' पद **'घटत्व'** अर्थ में

शक्ति है और घटत्वविशिष्ट घट में लक्षणा कर दी जाती है। दोनों का अभेद 'नीलोघटः' में सुचारु रूप से सिद्ध है। अतः व्यक्ति और सम्बन्धांश में शक्ति मानने की कोई जरूरत नहीं है ।

इसी को मीमांसादर्शनकार ने भी कहा है कि शक्तिवृत्ति से भिन्न लक्षणा वृत्ति से उपस्थित अर्थ शब्दार्थ नहीं माना जाता। शब्दार्थ तो शब्दशक्तिगम्य अर्थ को कहते हैं। वह कोई व्यक्तिगम्य या सम्बन्धशक्तिगम्य नहीं है ।

अथ लक्ष्यपदार्थो निरूप्यते। तत्र लक्षणाविषयो लक्ष्यः। लक्षणा च द्विविधा। केवललक्षणा लक्षितलक्षणा चेति। तत्र शक्यसाक्षात्सम्बन्धः केवललक्षणा यथा 'गंगायां घोषः' इत्यत्र प्रवाहसाक्षत्सम्बन्धिनि तीरे गंगापदस्य केवललक्षणा। यत्र शक्यपरम्परा-सम्बन्धेनार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र लक्षितलक्षणा। यथा द्विरेफपदस्य रेफद्वये शक्तस्य भ्रमरपदघटितपरम्परा सम्बन्धेनमधुकरे वृत्तिः। गौण्यपि लक्षितलक्षणैव। यथा 'सिंहो माणवकः' इत्यत्र सिंहशब्दवाच्यसम्बन्धिक्रौर्य्यादिसम्बन्धेन माणवकस्य प्रतीतिः ।

अनुवाद—अब लक्ष्यपदार्थ का निरूपण किया जाता है। उसमें लक्षणावृत्ति के विषय को लक्ष्य कहते हैं। लक्षणा दो प्रकार की होती हैं (1) केवल लक्षणा और (2) लक्षित लक्षणा। शक्यसम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं। उसमें भी शक्य के साथ साक्षात् सम्बन्ध को केवललक्षण कहते हैं और शक्य के साथ परम्परा सम्बन्ध से अन्य अर्थ की प्रतीति जहाँ होती हो, वहाँ लक्षितलक्षणा होती है। जैसे 'द्विरेफ' पद की दो रेफों में शक्ति है, उसकी भ्रमर पद में लक्षणा है क्योंकि भ्रमर पद में दो रेफ हैं, ('र कार' हैं ।) और भ्रमर-पद-घटित-परंपरा सम्बन्ध से मधुकर में द्विरेफ की वृत्ति को लक्षितलक्षणा कहते हैं। गौणी वृत्ति भी लक्षितलक्षणा ही है। जैसे 'बालक सिंह है'—इस वाक्य में सिंह शब्द का वाच्य अर्थ सिंह (पशु) की सम्बन्धी शूरत्व क्रूरत्व (आदि) के सम्बन्ध से माणवक की प्रतीति होती है ।

विमर्श—शक्यसम्बन्ध का नाम लक्षणा है और उस लक्षणावृत्ति के विषय को लक्ष्य कहा जाता है। लक्षणानिरूपण के बिना लक्ष्य का निरूपण नहीं हो सकता। और लक्षणा का निरूपण शक्यनिरूपण के बिना नहीं हो सकता। इसीलिए पहले शक्य का निरूपण किया गया। इसके बाद ही अब लक्ष्य का निरूपण किया जा रहा है। शक्तिवृत्ति का विषय 'शक्य' और लक्षणावृत्ति के विषय **'लक्ष्य'** कहा जाता है। जैसे 'गंगा में घोष है''—इस वाक्य में 'गंगा' पद की शक्ति गंगा नदी के जल प्रवाह में है, प्रवाह ही गंगा पद का शक्यार्थ है। और उस शक्यार्थ का सम्बन्ध तीर के साथ है। इस सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं। यह लक्षणा के दो भेद किए गये हैं। एक है केवललक्षणा और दूसरी है लक्षित लक्षणा ।

शक्य के साथ साक्षात् सम्बन्ध को केवललक्षणा कहा जाता है। जैसे 'गंगायां घोषः।' यहाँ पर 'गंगा' पद का **शक्य** जो गंगा नदी का **जलप्रवाह** है, उस शक्य का तीर से साक्षात्मसम्बन्ध है। अतः गंगापदवाच्य प्रवाह के साक्षात् सम्बन्ध तीर में गंगापद की केवललक्षणा हो जाती है ।

परन्तु, जहाँ वाच्यार्थ के साथ साक्षात्सम्बन्ध न हो, और परम्परा से सम्बन्ध जोड़ना पड़ रहा हो, और ऐसे सम्बन्ध से दूसरे अर्थ की प्रतीति हो, तो वहाँ पर लक्षितलक्षणा अथवा गौणीलक्षणा होती है। अर्थात् वाच्य से सीधा सम्बन्ध हो तो केवललक्षणा और परम्परा से सम्बन्ध हो तो लक्षितलक्षणा (गौणी लक्षणा) होती है। इसका उदाहरण है 'द्विरेफ' शब्द । द्विरेफ का वाच्यार्थ है 'दो रेफ'। (दो 'र'कार) और लक्ष्यार्थ है, 'दो रेफ वाला पद ।' (दो रेफ हैं जिसमें, वह पद—बहुव्रीहि समान) ऐसा दो रेफ-र कार वाला पद 'भ्रमर') है। फिर 'भ्रमर' पद के घटित परंपरा सम्बन्ध से भ्रमर में मधुकर (भौंरा) द्विरेफ पद की वृत्ति को लक्षितलक्षणा कहते हैं। यों तो दो रेफ वाले बहुत से पद शब्दकोशों में मिलते हैं, तथापि केवल भ्रमर में ही लक्षण मानने का कारण **परंपरा** है । यह लक्षण परम्परा पर ही आधारित है, रूढ़ि ही इसका कारण है। जैसे 'सबरस' में नमक की लक्षणा होती है ।

इसी लक्षितलक्षणा को गौणी लक्षणा भी कहा जाता है। गौणी लक्षणा गुण की वजह से होती है। लक्षितलक्षणा परम्परा पर आधार रखती है, जबकि गौणी लक्षणा गुण पर आधारित होती है। इतना फर्क होते हुए भी परिभाषाकार ने गौणी और लक्षितलक्षणा को एक ही मान लिया है अथवा तो लक्षितलक्षणा में गौणा को अन्तर्भावित कर दिया है ।

गुण पर आधार रखने वाली गौणी लक्षणा का उदाहरण है 'सिंहो माणवकः'— बालक सिंह है। यहाँ सिंहशब्दवाच्य केसरादिवाले पशु की शूरता-क्रूरता आदि गुण के सम्बन्ध से सिंह शब्द का बालक में प्रयोग किया है। जैसे **द्विरेफ** पद से लक्षित भ्रमर-पदरूप सम्बन्ध द्वारा, **द्विरेफ पद की वृत्ति** मधुकर में बताई गई है, वैसे ही सिंह पद से लक्षित माणवकरूप सम्बन्ध द्वारा, सिंह पद की वृत्ति माणवक में बताई गई है ।

ठीक है, पर परिभाषाकार का किया हुआ यह अन्तर्भाव हमें तोड़मरोड़कर किए गए अन्तर्भाव जैसा लगता है ।

प्रकारान्तरेण लक्षणा त्रिविधा। जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा चेति। तत्र शक्यमनन्तर्भाव्य यत्रार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र जहल्लक्षणा। यथा 'विषं भुङ्क्ष्वेत्यत्र स्वार्थं विहाय शत्रुगृहे भोजन-निवृत्तिर्लक्ष्यते। यत्र शक्यार्थमन्तर्भाव्यैवार्थान्तरप्रतीतिस्तत्रा-जहल्लक्षणा यथा 'शुक्लो घटः' इत्यत्र हि शुक्लशब्दः स्वार्थं शुक्लगुणमन्तर्भाव्यैव तद्वति द्रव्ये लक्षणया वर्तते।

अनुवाद—एक दूसरी रीति से लक्षणा तीन प्रकार की मानी गई है। (1) जहल्लक्षणा, (2) अजहल्लक्षणा और (3) जहदजहल्लक्षणा। उनमें से जहाँ पर शक्यार्थ का अन्तर्भाव न करके अर्थान्तर की प्रतीति होती हो उसे जहल्लक्षणा कहते हैं। जैसे 'ज़हर खा'—यहाँ पर शक्यार्थ-विषयभक्षण का परित्याग करके, 'शत्रु के घर में भोजन निवृत्ति'—अर्थ, ज़हर खा' इस वाक्य से लक्षित होता है ।

और जहाँ पर शक्यार्थ-वाच्यार्थ का अन्तर्भाव करके अर्थान्तर की प्रतीति होती हो, उसे अजहल्लक्षणा कहते हैं। जैसे—'श्वेत घट'। यहाँ शुक्ल पद के शक्यार्थ-वाच्यार्थ-शुक्लगुण का अन्तर्भाव करके ही शुक्लगुण वाले घट में लक्षणावृत्ति से शुक्ल शब्द का प्रयोग होता है ।

विमर्श—सम्बन्ध के कारण पहले लक्षणा के दो भाग किए गए थे। अब दूसरे ढंग से विभागीकरण करते हैं। यह विभागीकरण सर्वत्र प्रसिद्ध है। जहत्, अजहत् और जहदजहत्—ये तीन प्रकार, दूसरे ढंग से किए जाते हैं। 'जहत् ' का अर्थ होता है त्याग। शक्यार्थ—वाच्यार्थ का त्याग। अर्थात् जहाँ पर शक्यार्थ (वाच्यार्थ) का परित्याग किया जाए। लक्ष्यार्थ में उसका कुछ भी न लिया जाए, वहाँ और जहल्लक्षणा कहा जाता है। जैसे 'विषं भुंक्ष्व' इसका शक्यार्थ (वाच्यार्थ) तो होता है 'ज़हर खाओ ।' परन्तु ऐसा अर्थ करना तो 'इष्ट' नहीं है। अतः विषभोजनरूप शक्यार्थ (वाच्यार्थ) का सर्वथा परित्याग कर के, ''शत्रु के घर में भोजन न करो'—ऐसे अर्थ में (उस, 'विष भुंक्ष्व'—वाले वाक्य की) लक्षणा की जाती है। इसी को जहल्लक्षणा कहते हैं ।

हालाँकि 'गंगायां घोषः' यह भी जहल्लक्षणा का एक दूसरा उदाहरण दिया जाता है क्योंकि गंगापदवाच्य प्रवाह का अन्तर्भाव न करके तीररूप अर्थ की गंगापद से प्रतीति होती है। तथापि सर्वत्र प्रसिद्ध होने के कारण से ही शायद परिभाषाकार ने 'विषं भुक्ष्वं' का नया उदाहरण दिया हो, ऐसा लगता है ।

ज़रा गौर से देखा जाए तो 'गंगाया घोषः' वाले उदाहरण में वाच्य (शक्य) पर गंगा का सर्वथा परित्याग नहीं होता परन्तु अन्तर्भाव होता है। क्योंकि गंगापद से गंगातीरत्वेन तीर-अर्थ-बोध संभव है ।

यत्र हि विशिष्टवाचकः शब्दः एकदेशं विहाय एकदेशे वर्तते, तत्र जहदजहल्लक्षणा। यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इति। अत्र हि पदद्वयवाच्ययोर्विशिष्टयोरैक्यानुपपत्त्या, पदद्वयस्य विशेष्यमात्रपरत्वम्। यथा वा तत्त्वमस्यादौ तत्पदवाच्यस्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य त्वंपदवाच्येनान्तःकरणविशिष्टेनैक्यायोगादैक्यसिद्ध्यर्थं स्वरूपे लक्षणेति साम्प्रदायिकाः ।

अनुवाद—जहाँ पर विशिष्टवाचक शब्द, अपने वाच्य के एक देश का परित्याग करके एक़ देश का बोधन करे वहाँ जहदजहत् लक्षणा मानी गई है। इसी को

भागत्यागलक्षणा भी कहते हैं। जैसे—'सोऽयं देवदत्तः'—इत्यादि स्थल में, **'सः'** पदवाच्य, **उस** देशकाल विशिष्ट, और **'अयम्'** पदवाच्य **इस** देशकालविशिष्ट देवदत्त अर्थ होता है। इन दोनों की एकता संभव न होने के कारण दोनों को विशेष्य देवदत्त मात्र बोधक मानने से **ऐक्य** हो जाता है। इसी प्रकार तत्त्वमसि आदि महावाक्यों में **'तत्'** पद का वाच्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य और **त्वम्** पद का वाच्य अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य की एकता संभव न होने से इस एकता की सिद्धि के लिए स्वरूप में लक्षणा कर दी जाती है। ऐसा साम्प्रदायिकों का कहना है ।

विमर्श—शक्य की एकदेशवृत्ति को जहदजल्लक्षणा कहते हैं। अर्थात् जहाँ पर विशिष्ट वाचक शब्द अपने विशेषणांश एकदेश का परित्याग कर केवल विशेष्य अर्थ का प्रतिपादन करता हो तो वहाँ जहदजहल्लक्षणा होती है। जैसे 'सोऽयं देवदत्तः'—के लौकिक उदाहरण में देवदत्त नामक व्यक्ति को पहले देखा था और आज पुनः देख रहे हैं। इस समय अंगुलिनिर्देश करते हुए यह वाक्यप्रयोग किया जाता है कि **'सोऽयं** देवदत्तः'—''**वही यह** देवदत्त है ।'' इसमें **'सः' (वही)**—इस पद का अर्थ है '**उस** देशकाल से विशिष्ट देवदत्त! और 'अयम्' (यह)—इस पद का अर्थ है '**इस** देशकाल से विशिष्ट देवदत्त' इन दोनों पदों के वाच्यार्थ में दिखाई देने वाले विशेषण भाग—उस देशकाल और इस देशकाल का अभेद तो किसी भी प्रकार से संभव नहीं है अतः उक्त विरोधी दोनों अंशों का परित्याग करके जो अविरोधी अंश विशेष्य भाग दोनों पदों में शक्य अर्थ एक ही है। इसी में दोनों पदों की लक्षणा की जाती है। ठीक इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य में भी **तत्** पद का वाच्य अर्थ सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य है और **त्वम्** पद का वाच्य अर्थ अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य है। सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व दोनों विरोधी धर्म एक में नहीं रह सकते। फिर उन दोनों विशेषणों से विशिष्ट का ऐक्य कैसे संभव हो सकता है? इसलिए यहाँ भी लक्षणा की ज़रूरत पड़ती है।'यहाँ पर तत् और त्वम् की एकता के लिए जहत् या अजहत् दोनों में से एक लक्षणा भी काम में नहीं लाई जा सकती। क्योंकि 'जहत्' में शक्यार्थपरित्याग से विशेष्य—चैतन्यांश का भी परित्याग हो जायगा। और अज़हत् में शक्यार्थ का त्याग इष्ट न होने पर भी तदविशिष्ट अर्थ लेना अभीष्ट है। जहत् में अभेद की कोई वस्तु ही न रही और अजहत् में जब सर्वज्ञत्व—अल्पज्ञत्वादि विरोधी धर्मों का अभेद नहीं हो सकता, तब और विशेषणों को जोड़ने से क्या होगा ।

परिशेष में यही विस्तार होगा कि जहदजहल्लक्षणा से परस्पर विरोधी सर्वज्ञत्व-अल्पज्ञत्व आदि का परितयाग कर विशेष्य चैतन्य मात्र की एकता बतलाना महावाक्य को अभीष्ट है। सर्वज्ञत्व अल्पज्ञत्व कोई चैतन्य का धर्म नहीं है। वे तो उपाधि के धर्म हैं। इन दोनों औपाधिक धर्मों तथा उपाधियों को छोड़ देने पर विशेष्य भाग—चैतन्यमात्र के अभेद में कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार जहदजहल्लक्षणा के उदाहरण साम्प्रादायिकों के मत से दिए गए हैं ।

वयं तु ब्रूमः–सोऽयं देवदत्तः, तत्त्वमसीत्यादौ विशिष्टवाचक-पदानामेकदेशपरत्वेऽपि न लक्षणा, शक्त्युपस्थितयोर्विशिष्टयोर-भेदान्वयानुपपत्तौ विशेष्ययोः शक्त्युपस्थितयोरेवाभेदान्वयाविरोधात्। यथा 'घटोऽनित्यः' इत्यत्र घटपदवाच्यैकदेशघटत्वस्यायोग्यत्वेऽपि योग्यघटव्यक्त्या सहानित्यत्वान्वयः। यत्र पदार्थैकदेशस्य विशेषणतयोपस्थितिः, तत्रैव स्वात्रन्त्र्येणोपस्थितये लक्षणाभ्युपगमः। यथा 'घटो नित्यः' इत्यत्र घटपदाद् घटत्वस्य शक्त्या स्वातन्त्रयेणानुपस्थित्या तादृशोपस्थित्यर्थं घटपदस्य घटत्वे लक्षण।

अनुवाद—हम तो 'सोऽयं देवदत्तः' 'तत्त्वमसि' इत्यादि स्थल में विशिष्टवाचक पदों का एकदेशपरत्व मानते हुए भी लक्षणा नहीं मानते। ''यही वह देवदत्त'', ''वह (ब्रह्म) तू है'' —आदि वाक्यों में सः, अयम्, तत्, त्वम्—ये विशिष्टवाचक पद हैं। ये पद यद्यपि विशेष्य के एकदेश के ही बोधक हैं, तथापि उस बोध के लिए उन पदों की विशेष्यांश में लक्षणा करने की कोई आवश्यकता नही है। क्योंकि शक्तिवृत्ति से उपस्थित—ज्ञात—**विशिष्ट अर्थ का** अभेद न होने पर भी, शक्ति वृत्ति से उपपस्थित **विशेष्य भागों** के अभेदान्वय में कोई अनुपपत्ति नहीं है। जैसे 'घटः अनित्यः'—यहाँ पर घटपदवाच्य घटत्वविशिष्ट घट के एकदेश —घटत्व—के साथ अनित्यत्व का सम्बन्ध अयोग्य होने पर भी सम्बन्ध के योग्य घटव्यक्ति के साथ अनित्यत्व का अन्वय होना संभव ही है ।

जिस वाक्य में पदार्थ के एक देश—एक अंश की—विशेषरूप में उपस्थिति हो, केवल उसी स्थल पर केवल विशेषण की स्वतंत्र रूप से उपस्थिति होने के लिए लक्षणा का स्वीकार करना पड़ता है। उदाहरणार्थ घट नित्य है'—इस वाक्य में 'घट' पद से शक्तिवृत्ति के द्वारा केवल घटत्व की स्वतंत्ररूप से उपस्थिति—(ज्ञान) नहीं होगी। इसलिए ऐसी विशेषण रूप घटत्व की उपस्थिति होने के लिए घट पद की घटत्वरूप अर्थ में लक्षणा का स्वीकार करना पड़ता है ।

विमर्श—वेदान्तपरिभाषाकार ने 'सोऽयं देवदत्तः', 'तत्त्वमसि' आदि स्थलों में पूर्वाचार्यों की तरह लक्षणा नहीं मानी है। इसलिए वे उन्हें साम्प्रदायिक कहकर उनके प्रति अपनी नाराज़गी बताते हैं । अब वे इसके सम्बन्ध में अपना स्वतन्त्र मत कहते हैं। उनके मतानुसार पूर्वोक्त स्थलों में लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके मत से लक्षणा के बिना भी तत् और त्वम् (ईश्वर और जीव) का अभेदबोध हो सकता है। वे कहते हैं कि विशिष्टवाचक पद के द्वारा शक्तिवृत्ति से **विशेषण और विशेष्य–दोनों अर्थों की उपस्थिति (ज्ञान)** होती है। उनमें से सर्वज्ञत्व-अल्पज्ञत्व आदि विशिष्ट अर्थो का अभेद न हो, तो कोई बात नहीं, भले न हो। पर इन दोनों 'तत्' और 'त्वम् ' के **विशेष्यभाग** भी तो इसी शक्तिवृत्ति से ही उपस्थित—ज्ञात—हुए हैं न? तो

उनका अभेद मानने में तो कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार 'सोऽयं देवदत्तः'—मैं 'उस देशकाल' और 'इस' देशकाल से विशिष्ट देवदत्त का अभेद न भी हो रहा हो तो कोई बात नहीं—भले न हो, फिर भी उसी शक्तिवृत्ति से उपस्थित—ज्ञात जो देवदत्तपिण्ड है, उसका अभेद मानने में कोई विरोध नहीं है । जिस प्रकार 'घटःअनित्यः' यहाँ पर घट पद का वाच्य अर्थ, 'घटत्वविशिष्ट घट'—ऐसा है। यहाँ अनित्यत्व के साथ, घटपदवाच्य के एक देश—घटत्व—का अन्वय संभव नहीं है क्योंकि घटत्व तो (व्यावहारिक दृष्टि से) नित्य है, उसे अनित्य कहना तो बिल्कुल असंगत बात है। फिर भी घटव्यक्ति का अनित्यत्व के साथ अन्वयसंभव है ही। क्योंकि शक्तिवृत्ति के द्वारा स्वतंत्ररूप से घट-व्यक्ति की उपस्थिति—(ज्ञान) हो जाती है। इस तरह लक्षणा के बिना घटपद के वाच्यार्थ के साथ अनित्यत्व का अन्वय हो जाता है ।

यद्यपि वेदान्ती लोग घट पद की शक्ति घटव्यक्ति में नहीं, जाति में अर्थात् घटत्व में ही मानते हैं, तथापि नैयायिक तो घटव्यक्ति में भी शक्ति मानते हैं, इसलिए उनके मत के अनुसार ही उदाहरण दे रहे हैं। न्यायमत में पारमार्थिक दृष्टि से तथा वेदान्तमत में व्यावहारिक दृष्टि से घटत्व को नित्य माना गया है। अतः उसे अनित्य कहना तो सिद्धान्तविरुद्ध होगा। अतः घटत्व के साथ अनित्यत्व का अन्वय न होने पर भी घट व्यक्ति के साथ अनित्यत्व का अन्वय उचित ही है। ऐसा ही 'सोऽयं देवदत्तः' 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों में शक्तिवृत्ति से उपस्थित—ज्ञात—विशेष्य भाग के अभेदान्वय में कोई विरोध नहीं है ।

जब पदार्थ स्वतंत्र हो, तभी उसका दूसरे के साथ अन्वय हो सकता है। 'घटो नित्यः' यहाँ नित्यत्व के साथ घट का अन्वय चाहा तो गया है परन्तु घटत्व अर्थ की उपस्थिति (ज्ञान), घट पद से स्वतंत्र रूप से नहीं होती। किन्तु घट के विशेषण रूप से (अर्थात् परतन्त्र्य रूप से) होती है। इसलिए जब तक स्वतंत्र रूप से घटत्व की उपस्थिति (मात्र) नहीं होगी तब तक घटत्व का अन्वय नित्यत्व के साथ नहीं हो सकेगा। किन्तु घट के विशेषण रूप से ही संभव है। इसलिए विवश होकर घट पद की घटत्व अर्थ में लक्षणा करनी पड़ती है । क्योंकि लक्षणा के बिना घटत्व अर्थ की स्वतंत्ररूप से उपस्थिति (ज्ञान) होगी नहीं। फिर उसका अन्वय नित्यत्व के साथ कैसे हो सकेगा? जहाँ पर विशेष्यपरक पद संभव हो उपस्थित हो, वहाँ पर लक्षणा नहीं माननी चाहिए। ऐसा कहा गया है । जैसे 'घटोऽनित्यः' इस स्थल में घट पद का मुख्य घटव्यक्ति—विशेष्यभाग शक्तिवृत्ति से ही उत्पन्न हो जाता है। इसलिए वहाँ लक्षणा करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

एवमेव तत्त्वमस्यादि वाक्येऽपि न लक्षणा। शक्त्या स्वातन्त्र्येणोपस्थितयोस्तत्त्वंपदार्थयोरभेदान्वये बाधकाभावात्। अन्यथा गेहे घटो, घटे रूपं, घटमानयेत्यादौ घटत्वगेहत्वादेरभिमतान्वयबोधायोग्य-

तया तत्रापि घटादिपदानां विशेष्यमात्रपरत्वं लक्षणयैव स्यात्। तस्मात् 'तत्वमसि इत्यादिवाक्येषु' आचार्याणां लक्षणोक्तिरभ्युपगमवादेन बोध्या।

अनुवाद—इसी प्रकार, 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य में भी लक्षणा नहीं माननी चाहिए, क्योंकि शक्तिवृत्ति के द्वारा स्वतंत्र रूप से उपस्थित—ज्ञात—'तत्' और 'त्वम्' पदार्थों के अभेदान्वय में कोई अनुपपत्ति नहीं है। यदि विशेष्यपरक पदों में भी लक्षणा मानोगे तब तो गेहे घटः, घटे रूपम् घटमानव—(घर में घड़ा है, घड़े में रूप है, घड़ा ले आओ) इत्यादि स्थल में भी घटत्व, गेहत्व आदि में भी इच्छित अन्वयबोध में अयोग्य होने से वहाँ पर भी घटादि पद की विशेष्यमात्र में लक्षणा करनी होगी। इसलिए आचार्यों ने जो 'तत्त्वमसि' आदि पदों में लक्षणा मानी है, वह अभ्युपगमवाद के आधार पर ही लक्षणा है, ऐसा समझना चाहिए।

विमर्श—उपर्युक्त नियम को मानने पर विशिष्टवाचक पदों से केवलविशेष्य का ज्ञान होने के लिए लक्षणा की स्वीकृति करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह सिद्ध है कि केवल विशेषण की उपस्थिति के लिए ही लक्षणा माननी पड़ती है। इसी प्रकार तत्त्वमस्यादि महावाक्य में भी लक्षणा की आवश्कता नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य **'तत्'** शब्द का और अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य **'त्वम्'** शब्द का अर्थ है, इनमें चैतन्य **विशेष्य** है और सर्वज्ञत्व—अल्पज्ञत्वादि **विशेषण** है। विशेष्य भाग की उपस्थिति तो विशिष्ट में स्वतंत्र रूप से होती है। क्योंकि शब्द में विशेष्य ही मुख्य—प्रधान—है और विशेषण गौण होता है। इसलिए मुख्य-प्रधान-चैतन्य भाग की उपस्थिति, शक्तिवृत्ति होने के कारण तत् और त्वम् पदार्थों में अभेदान्वय होने से किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। यदि विशेष्यपरक पद में भी लक्षणा मागी जाएगी, तो 'घर में घट है—वहाँ भी लक्षणा करनी होगी क्योंकि वहाँ भी गेह (घर) का अर्थ, 'गेहत्वविशिष्ट गेह'—होता है, और यहाँ तो घट का आश्रय गेह (घर) है गेहत्व नहीं है। अतः आश्रयत्वेन घट के साथ गेह के अन्वय के लिए, गेह पद से गेह की उपस्थिति लक्षणा से करनी होगी। इसी प्रकार 'घटे रूपम्' यहाँ भी घट पद का अर्थ 'घटत्वविशिष्ट घट' होता है। रूप का आश्रय घट है, घटत्व नहीं है। घटत्व का त्याग करके व्यक्तिरूप अर्थ में घट पद की लक्षणा करनी पड़ेगी। ऐसे ही 'घटमानय'— यहाँ पर भी घट पद का अर्थ 'घटत्वविशिष्ट घट'—ऐसा होता है। आनयनिक्रिया के साथ घटपदवाच्च के एकदेश घटत्व का अन्वय असंगत होने के कारण घटव्यक्ति अर्थ की उपस्थिति के लिए घट पद की घटव्यक्ति के अर्थ में लक्षणा करनी होगी। इस तरह तो सभी जगह लक्षणा करने की नौबत आ जायगी। हमारा मन्तव्य तो यह है कि गेह पद से घर अर्थ की स्वतंत्र उपस्थिति संभव ही है। फिर लक्षणा की ज़रा भी आवश्यकता नहीं है। ठीक इसी प्रकार, महावाक्यों में भी 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थों के अभेदान्वय के लिए लक्षणा की आवश्यकता नहीं है।

ग्रन्थकार का यहाँ, प्रतीत यह है कि घटपद की शक्ति 'घटत्वविशिष्ट घट' के अर्थ में है। इस गृहीत पर ही उन्होंने अपने मौलिक मत का यहाँ प्रतिपादन किया है।

पूर्वसूरियों ने तत्त्वमस्यादि महावाक्यों में जो जहदजहल्लक्षणा को माना है वह तो अभ्युपगमवाद है, ऐसा समझना चाहिए। 'वादिपक्षपरीक्षणार्थमनिष्टपक्षस्वीकारोऽभ्युपगमवादः'—अर्थात् प्रतिपक्षी के विचार की कसौटी करने के लिए अपने नहीं माने हुए मन्तव्य का भी कामचलाऊ स्वीकार करने को अभ्युपगमवाद कहते हैं ।

जहदजहल्लक्षणोदाहरणं तु-काकेभ्यो दधि रक्ष्यतीमित्यादोव। तत्र शक्यकाक-परित्यागेनाशक्यदध्युपघातकत्वपुरस्कारेण काकेऽका-केऽपि काकशब्दस्य प्रवृत्तेः ।

अनुवाद—'कोओं से दही की रक्षा की जाए'—आदि वाक्य ही जहदजहल्लक्षणा का (सही) उदाहरण है। क्योंकि इस वाक्य में 'काक' शब्द के शक्य अर्थ—'काकत्वविशिष्ट काक'—का परित्याग किया गया है और अशक्य—गौण अर्थ—'दध्युपघातत्व' को आगे लाया गया है, (इस अर्थ को पुरस्कृत किया गया है) इस तरह काक शब्द की काक में तथा अकाक (काक से भिन्न—दही को दूषित करने वाले अन्य विडाल आदि प्राणी) के अर्थ में प्रवृत्ति हो जाती है, (अतः यह जहदजहल्लक्षण का उदाहरण है ।)

विमर्श—'यदि 'सोऽयं देवदत्तः' 'तत्त्वमसि' जैसे जहदजहल्लक्षणा के प्रसिद्ध उदाहरणों में भी आप जहदजहल्लक्षणा नहीं मानते, तब तो ऐसी लक्षणा की कोई हस्ती ही नहीं होगी क्योंकि इसका कोई उदाहरण ही मिलेगा नहीं ।'—इस आशंका के समाधान के रूप में परिभाषाकार कहते हैं कि जहदजहल्लक्षणा या भागत्याग लक्षणा तो है ही। 'काकेभ्यो दधि रहस्यताम्,' 'छत्रिणो गच्छन्ति' आदि बहुत से इसके उदाहरण भी मिल सकते हैं ।

घर के किसी गुरुजन ने एक बालक से कहा—'कौओं से दही की रक्षा की जाए ।' (काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्) तो इसका अर्थ तो यही होता है कि दही को दूषित करने वाले जितने भी प्राणी हैं, उन सब से दही को बचाना। अतः काकशब्द का जो शक्यार्थ है,—'काकत्वविशिष्ट काक'—यह जो अर्थ है, इसको छोड़कर जो अशक्य अर्थ—'दध्युपघातत्व'—ऐसा है, उसका पुरस्कार किया गया है। और इसके द्वारा काक तथा उससे भिन्न बिल्ली, कुत्ते आदि 'दध्युपघातक' प्राणियों में, 'काक' शब्द की लक्षणा से प्रवृत्ति होती है। लक्षणा के बिना ऐसा अर्थ नही निकलेगा ।

जहदजहल्लक्षणा के प्राचीनों के किए गए लक्षण में परिभाषाकार की अरुचि है उनका अपना लक्षण यह है—''शक्याशक्ययोः साधारण्येन प्रत्यायकत्वं जहदजहल्लक्षणात्वम्।'' (शक्य और अशक्य—दोनों अर्थों को साधारण रूप से प्रतीति कराने वाली लक्षणा को जहदजहल्लक्षणा कहा जाता है ।) इसलिए 'काक' शब्द, काकत्व

रूप से शक्यार्थ का त्याग करके 'दध्युपघाततत्त्व' रूप अशक्य-गौण-अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ दधिदूषक सभी प्राणियों में से एक उसके कौए भी प्रतिपादन कर देता है। इस प्रकार शक्यार्थ काक और अशक्यार्थ बिल्ली कुत्तों का प्रतिपादक होने से यहाँ पर परिभाषाकार का जहदजहल्लक्षणा का लक्षण पूरी तरह से मेल खाता है ।

लक्षणाबीजं तु तात्पर्यानुपपत्तिरेव न त्वन्वयानुपपत्तिः, काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्रान्वयानुपपत्तेरभावात्। 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तात्पर्यानुपपत्तेरपि सम्भवात् ।

अनुवाद—लक्षणा का बीज तात्पर्य की अनुपपत्ति ही है, अन्वय की अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यतम्' (कौओं से दही की रक्षा की जाए)—यहाँ पर अन्वय की अनुपपत्ति का अभाव है—मतलब कि इस वाक्य में आए हुए सभी शब्दों को परस्पर अन्वय हो ही सकता है (परन्तु) 'गंगायां घोषः' यहाँ पर (अन्वय की अनुपत्ति तो है ही, साथ ही साथ—) तात्पर्य की अनुपपत्ति का भी संभव है। (इसलिए तात्पर्य की अनुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज समझना चाहिए ।

विमर्श—साहित्यिक लोग लक्षणा के बीज रूप में 'मुख्यार्थान्वयबाध' को मानते हैं। पर वेदान्ती मानते हैं कि जहाँ पर तात्पर्य के अर्थ की सिद्धि न हो, वहीं लक्षणा का प्रयोजन होता है। वही लक्षणा का कारण—बीज है ।

वेदान्ती को साहित्यिकों के मत में दोष दिखाई देता है। क्योंकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्,' में मुख्यार्थ का अन्वय संभव ही है, तब साहित्यकों का मुख्यार्थ बाध कहाँ रहा? और तब फिर लक्षणा की भी क्या आवश्यकता रही? अतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षण का बीज मानना चाहिए। क्योंकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' में मुख्यार्थ का अन्वय तो है ही—बाध नहीं, पर तात्पर्यानुपपत्ति है दधि-दूषक बिल्ली-कुत्ते आदि सभी प्राणियों से दही की रक्षा का तात्पर्य अकेले काकपद को पाच्यार्थ से नहीं निकलता। इसीलिए लक्षणा का बीज तात्पर्यानुपपत्ति ही है ।

'गंगायां घोषः' यहाँ पर अन्वयानुपपत्ति तो है ही—मुख्यार्थ बाध तो है ही, तदुपरान्त तात्पर्यानुपपत्ति का भी संभव है। क्योंकि तात्पर्य की उपपत्ति के लिए लक्षणा आवश्यक है। और वह अन्वयानुपपत्ति भी दूषित है, क्योंकि कोई अगर घोष में मछली में लक्षणा कर दे, तो साहित्यकों की अन्वयानुपपत्ति भी नहीं रहेगी ।

लक्षणा च न पदमात्रवृत्तिः 'किन्तु वाक्यवृत्तिरपि । यथा 'गम्भीरायां नद्यां घोषः इत्यत्र गम्भीरायां नद्यामिति पदद्वयसमुदायस्य तीरे लक्षणा ।

अनुवाद—लक्षणा केवल 'पदमात्रवृत्ति' (शब्द में ही रहने वाली) नहीं है। वह वाक्य-वृत्ति (वाक्य में रहने वाली) भी है। जैसे 'गंभीरायां नद्यां घोषः'—यहाँ पर पदसमुदायरूप वाक्य की गंगातीर में लक्षणा होती है ।

विमर्श—नैयायिक लोग शक्ति को 'पदमात्रवृत्ति'—केवल एक शब्द में रहने

वाली—ही मानते हैं, इसी तरह लक्षणा भी उनके मतानुसार 'पदमात्रवृत्ति' ही है। पर यह बात नहीं भले ही शक्ति पदमात्रवृत्ति हो, पर लक्षणा पदमात्रवृत्ति नहीं, वह वाक्यवृत्ति ही है। यह ठीक है कि शक्ति और लक्षणा—दोनों अर्थबोधक वृत्तियाँ हैं, पर वृत्तियाँ सभी 'पदमात्रवृत्ति' नहीं होतीं। शक्तिवृत्ति पदमात्रवृत्ति होगी, पर लक्षणावृत्ति ऐसी नहीं ।

'गंभीरायां नद्यां घोषः'—यहाँ दो पद वाले पूरे वाक्य में लक्षणा मानते हैं। अगर लक्षणा एकपदमात्र वृत्ति होती तो यहाँ दो पदों में से किस पद की 'तीर' में लक्षणा करेंगे? दोनों में से किसी एक पद की लक्षणा का कोई कारण नहीं दीखता। अतः किसी विनिगमक के, प्रयोजन के, कारण के, अभाव में वाक्य में ही लक्षणा माननी चाहिए ।

ननु वाक्यार्थस्याशक्यतया कथं शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा? उच्यते-शक्त्या यत्पदसम्बन्धेन ज्ञाप्यते तत्सम्बन्धो लक्षणा, शक्तिज्ञाप्यश्च यथा पदार्थस्तया वाक्यार्थोऽपीति न काचिदनुपपत्तिः। एवमर्थवादवाक्यानां प्रशंसारूपाणां प्राशस्त्ये लक्षणा। सोऽरोदीदित्यादिनिन्दार्थवाक्यानां निन्दितत्वे लक्षणा। अर्थवादगतपदानां प्राशस्त्यादिलक्षणाभ्युपगमे एकेन पदेन लक्षणया तदुपस्थितिसम्भवे पदान्तरवैयर्थ्यं स्यात्। एवं च विध्यपेक्षितप्राशस्त्यरूपपदार्थप्रत्याय-कतया अर्थवादपदसमुदायस्य पदस्थानीयतया विधिवाक्येन एकवाक्यत्वं भवतीत्यर्थवादानां पदैकवाक्यता ।

अनुवाद—शंका की जाती है कि, जब वाक्यार्थ शक्य (शक्यार्थ) ही नहीं है (जब केवलपद ही शक्त होता है), तब आप ऐसे शक्य सम्बन्ध को लक्षणा कैसे कह सकते है? (क्योंकि लक्षणा केवलपदमात्रवृत्ति न होकर वाक्यवृत्ति भी है, ऐसा आपने कहा है ।)

इसके लिए कहते हैं—शक्ति वृत्ति से पदसम्बन्ध द्वारा जिसका जो अर्थ ज्ञापित होता है, उसके सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं। और शक्तिवृत्ति का ज्ञाप्य जिस तरह पदार्थ है, उसी तरह वाक्यार्थ भी तो है। ऐसा मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसलिए विधि के प्रशंसारूप अर्थवाद वाक्य से प्रशसा में लक्षणा की जाती है। और 'वह रोया' इत्यादि निन्दार्थक वाक्यों का निन्दा में लक्षणा की जाती है । अर्थवाद वाक्यों में पड़े हुए पदों की निन्दा अथवा प्रशंसा में लक्षणा मानने पर तो एक ही पद में लक्षणा करने पर निन्दा अथवा प्रशंसा की उपस्थिति हो जाती है, तब तो (वाक्य के) बाकी के पद व्यर्थ हो जाएँगे। इस प्रकार विधिवाक्यों में विवक्षित प्रशंसा रूप पदार्थ की प्रतीति कराने वाले होने से अर्थवाद वाक्यों में प्रवर्तमान पदसमुदाय के पदरूप होने से विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता बन ही जाती है। यही अर्थवादों की पदैकवाक्यता है ।

विमर्श—शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ को समझाते हुए पहले कहा गया है कि पदों की

अपने अर्थ में मुख्य वृत्ति का नाम शक्तिवृत्ति है। इससे तो यह निश्चित हो गया कि शक्तिवृत्ति मात्र पद में ही रहती है। और तब तो पदार्थ ही शक्यार्थ हुआ, वाक्य से शक्यार्थ का कोई नाता नहीं रह पाया। वाक्य तो शक्यार्थ है नहीं। और लक्षणा तो शक्यसम्बन्ध को कहा गया है, और वह लक्षणा वाक्यवृत्ति भी है, ऐसा भी तो आपने माना है। अब जब शक्यार्थ का वाक्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, तब ऐसे शक्यार्थ के साथ सम्बन्ध वाक्यगत लक्षणा कैसे रख सकती है?

तो ऐसी शंका करनी ठीक नहीं है। क्योंकि शक्तिवृत्ति द्वारा पदसम्बन्ध से जो वस्तु ज्ञापित होती है, उस सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं। शक्तिवृत्ति से साक्षात् ज्ञाप्य वस्तु तो पदार्थ ही है, परन्तु वाक्यगत उन उन पदार्थों को जानने के बाद वाक्यार्थ को भी जान लिया जाता है। इस प्रकार शक्तिवृत्ति से जैसे पदार्थ ज्ञाप्य होता है, ठीक उसी तरह वाक्यार्थ भी ज्ञाप्य होता है। इस प्रकार पदार्थ की तरह वाक्यार्थ भी जब शक्तिवृत्ति से ज्ञाप्य सिद्ध हुए, तब जैसे पद शक्य-अर्थ वाला हुआ वैसे ही वाक्य भी शक्य अर्थ वाला हो ही गया। और उसके सम्बन्ध को **'लक्षणा'** कहना, कोई अनुचित बात नहीं है ।

अब लक्षणा का निष्कृष्ट लक्षण यह हुआ कि "पद में पदनिष्ठ शक्ति द्वारा जो अर्थ जानने में आए, उस अर्थ के सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं ।" यह लक्षण पद-अर्थ तथा वाक्य-अर्थ—दोनों में घटित हो सकता है। तभी तो "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता"—आदि प्रशंसा करने वाले अर्थवाद वाक्यों की प्रशंसा में अर्थ में लक्षणा की जाती है। और "सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्"—इत्यादि निन्दापरक अर्थवाद वाक्यों की निन्दा में लक्षणा की जाती है। अर्थवाद के वाक्यों की लक्षणा करने की बजाय अर्थवाद वाक्य में आए **पदों की** लक्षणा करना इसलिए योग्य नहीं दीखता कि ऐसा करने में कोई प्रयोजन, कोई कारण, कोई विनिगमक नहीं मिलता। और कोई विनिगमक—निर्णायक न होने से किस पद की प्रशंसार्थक रूप से लक्षणा करनी चाहिए, यह निर्णय नहीं हो सकता। उक्त विनिगम का अभाव रहने पर भी दुराग्रह से किसी एक पद की प्रशंसादि में लक्षणा मानी भी जाए, तो लक्षणा द्वारा मात्र एक पद से ही प्रशंसा तथा (या) निन्दा अर्थ का बोध हो जाएगा। और उस लम्बे वाक्य के अनेक पद व्यर्थ हो जाएँगे। इसलिए सम्पूर्ण पदसमुदायरूप अर्थवादवाक्य को निन्दा और प्रशंसा अर्थ में लक्षणा मानी गई है ।

मीमांसक लोग मानते हैं कि "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् ।" अर्थात् "वेद, विधि अथवा निषेध अर्थ का ही बोध करते हैं जो विधि-निषेध का बोध न कराता हो, ऐसा वाक्य अनर्थक—अर्थहीन मांना जाता है ।" इस सिद्धान्त के हिसाब से तो अर्थवाद वाक्यों को प्रशंसादिबोधक मान लेने पर तो उनकी कोई सार्थकता ही नहीं रहेगी, वे सब निरर्थक हो जाएँगे ।

मीमांसकों की इस बात का उत्तर देते हुए परिभाषाकार मूल में, एवम् आदि से कहते हैं कि विधि एवं निषेध बोधन वाक्य ही सार्थक हैं, यह बात अनुचित है। क्योंकि विधिवाक्य को प्रशंसा और निषेधवाक्य को निन्दा की अपेक्षा रहती है। यह जरूरी है कि वेद जहाँ मनुष्य को जोड़ना चाहता है, उसकी प्रशंसा करते हैं, और जहाँ पर रोकना चाहते हैं, वहाँ उस अर्थ की निन्दा करते हैं। विधि प्रवर्तक और निषेध निवर्तक है, ऐसा प्रतिपादन करने के लिए और संलग्नता में त्वग लाने के लिए प्रशंसा की आवश्यकता है ही । विधिवाक्य के लिए ज़रूरी प्रशंसादि पदार्थ का बोधक पदसमुदाय अर्थवाद है। यह पदसमुदाय यों तो वाक्यरूप होता है फिर भी इसे पदरूप इसलिए मानना चाहिए कि इससे वाक्यार्थ का बोध नहीं होता, पर तात्पर्यरूप से पदार्थ का ही बोध होता है। इसलिए अर्थवाद का वाक्य, पदरूप से विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता को प्राप्त कर लेता है। इसी से इसे पदैकवाक्यता कहते हैं ।

क्व तर्हि वाक्यैकवाक्यता? यत्र प्रत्येकं भिन्नभिन्न-संसर्गप्रतिपादकयोर्वाक्ययोराकाङ्क्षावशेन महावाक्यार्थबोधकत्वम् । यथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'–इत्यादि-वाक्यानां 'समिधो यजति' इत्यादिवाक्यानां च परस्परापेक्षिताङ्गाङ्गिभावबोधक-तयैकवाक्यता। तदुक्तं भट्टपादैः–

''स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया ।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते ।।'' इति ।

एवं द्विविधोऽपि पदार्थो निरूपितः ।

अनुवाद—तब फिर वाक्यैकवाक्यता कहाँ पर है? (उत्तर) जहाँ पर भिन्न भिन्न संसर्ग—अर्थ के प्रतिपादक दो वाक्यों को परस्पर आकांक्षा के कारण से महावाक्य के अर्थ की बोधकता हो, वहाँ पर 'वाक्यैकवाक्यता'' मानी जाती है। जैसे, 'दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'—(स्वर्ग की इच्छा रखने वाला दर्श और पौर्णमास से यज्ञ करे) इत्यादि वाक्यों का 'समिधो यजति'—(समिध से यज्ञ करता है) इत्यादि वाक्यों के साथ परस्पर अपेक्षित अंग-अंगी भाव के बोधक वाक्यों की एक वाक्यता हो जाती है। इसीलिए भट्टपाद ने कहा है कि ''अपने अर्थ का बोध करा कर चरितार्थ हुए वाक्यों की, अंग-अंगी भाव की अपेक्षा से फिर से जुड़कर एकवाक्यता उत्पन्न होती है ।''

इस प्रकार शक्य और लक्ष्य भेद से दो प्रकार के पदार्थों का निरूपण किया गया ।

विमर्श—पदसमुदायरूप—वाक्यरूप—होते हुए भी अर्थवादवाक्य **पदरूप** ही है, ऐसा कहा गया। इसलिए उस स्थल पर विधि वाक्य के साथ पदैकवाक्यता होती है, वाक्यैकवाक्यता नहीं। यहाँ प्रश्न होता है कि, तो फिर 'वाक्यैकवाक्यता कहाँ पर मानी

जाएगी? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि अर्थवाद वाक्यों का स्वार्थ में (अपने अर्थ में) तात्पर्य नहीं होता, परन्तु प्रशंसादिरूप पदार्थमात्र के बोधन में ही तात्पर्य होता है। इस प्रकार अर्थवाद वाक्यों में स्वार्थबोधकता न होने के कारण उनमें वाक्यरूप से तो विधिवाक्यों के साथ कोई एकवाक्यता—वाक्यगत तालमेल— बैठने की तो कोई गुंजाइश नहीं है। ऐसा योग्यता न होने पर भी जो अन्य वाक्य अपने अर्थबोधन में ही तात्पर्य रखते हैं, ऐसे वाक्यों में पुनः आकांक्षा उत्पन्न होने पर, जहाँ एक महावाक्य के अर्थबोधन का सामर्थ्य होता है, वहाँ 'वाक्यैकवाक्यता' हुआ करती है। जैसे, "स्वर्ग की कामना करने वाला दर्श और पौर्णमास यज्ञ के द्वारा स्वर्ग भावना करे"—इत्यादि 'अंगीबोधक' वाक्य हैं। इस वाक्य में दर्श और पौर्णमास यज्ञ का अनुष्ठान **साधन** है, और स्वर्ग उसका फल है। इसलिए स्वर्गरूप साध्य-फल-के प्रति दर्श और पौर्णमास की साधनता प्रतीत होने से फल (स्वर्ग) और साधन दर्शपौर्णमास का अनुष्ठान) का आध्यसाधनाभावरूप संसर्ग के प्रतिपादक यह वाक्य हैं। वैसे ही 'समिधो यजति'— "समिध याग से इष्ट की भावना करे"—इस वाक्य में विध्यर्थ (लिङ्) से समिध याग में इष्टसाधनता प्रतीत होती है। इष्ट फल के प्रति समिध याग में भी साध्यसाधनभाव संसर्ग का प्रतिपादन यह वाक्य भी कर रहा है। उपयुर्क्त ये दोनों ही वाक्य अपने अपने संसर्गबोधन करने में समर्थ हैं। फिर भी 'दर्शपौर्णमासाभ्या स्वर्ग कामो यजेत'—इस वाक्य में फल का स्पष्ट श्रवण (स्वर्ग) हुआ है, इसलिए वह **अंगी** की कोटि में आता है, जब कि 'समिधो यजति' इस वाक्य में फल का स्पष्ट श्रवण न होने के कारण वह 'अंग' की कोटि में आता है। पहले वाक्य में स्पष्टफलश्रवणरूप अर्थबोधकता ही अंगित्व है, दूसरे में वह न होने से 'अंग' अर्थ की ही योग्यता है। क्योंकि "फलवत्सन्निधौ अफलं तदंगम् "—अर्थात् , फलदर्शक वाक्य के समीप यदि फलश्रवण न करने वाला वाक्य हो, तो वह 'फलश्रवण न करने वाला वाक्य', उस फलदर्शक का अंग बन जाता है और फलदर्शक वाक्य 'अंगी' बन जाता है। यहाँ दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' यह वाक्य **'अंगी'** हुआ, और 'समिधो यजति' यह वाक्य **'अंग'** बना है। अंगी में किस तरह' (कथंभाव) की आकांक्षा रहती है और अंग में उद्दीपन की आकांक्षा रहती है। इस परस्पर आकांक्षा के कारण दोनों वाक्य मिलकर जब एक विशिष्ट अर्थ का बोधन कराते हैं। इस समय दोनों वाक्य मिलकर एक वाक्य जैसे हो जाते हैं। इसी को 'वाक्यैकवाक्यता' कहा जाता है। इसी बात को कुमारिल भट्ट तो कहा है कि "जो वाक्य पहले अपने अर्थ का बोध कराकर चरितार्थ ही चुके हों, ऐसे वाक्यों में **अंग** और **अंगी** का भाव की आकांक्षा हो, तब जो फिर से मिलकर एकवाक्यता होती है, उसी को 'वाक्यैकवाक्यता' कहते हैं। जैसे कि ऊपर दो वाक्य लेकर उदाहरण दिया गया है ।

इस प्रकार शक्यार्थ (वाच्यार्थ) और लक्ष्यार्थ—इन दो भेदों से पदार्थ का निरूपण यहाँ पर सम्पन्न होता है ।

तदुपस्थितिश्चासत्तिः। सा च शाब्दबोधे हेतुः, तत्रैवान्वय-व्यतिरेकदर्शनात्। एवं महावाक्यार्थबोधेऽवान्तरवाक्यार्थ-बोधो हेतुः। तथैवान्वयाद्यवधारणात्।

अनुवाद—पद से उत्पन्न पदार्थ की उपस्थिति—स्मृति—को 'आसत्ति' कहा जाता है। वह भी शाब्दबोध में कारण है। क्योंकि शाब्दबोध के साथ उसका अन्वय और व्यतिरेक उसी प्रकार का देखा गया है। इसी प्रकार महावाक्य के अर्थबोध में, अवान्तर वाक्यों का अर्थबोध कारण माना गया है। क्योंकि वहाँ भी ऐसा ही अन्वय और व्यतिरेक देखा गया है।

विमर्श—पद से दो अर्थों का ज्ञान होता है (1) शक्यार्थ (वाच्यार्थ) और (2) लक्ष्यार्थ। उन दोनों अर्थों की उपस्थिति—स्मृति, पद से होती तो है, परन्तु विलम्ब से उच्चार्यमाण पद से शाब्दबोध हो नहीं सकता। इसलिए, "अव्यवधानेन पदजन्य पदार्थ की उपस्थिति (स्मृति) को ही 'आसत्ति' कहा जाता है। और यह 'आसत्ति' भी योग्यता और आकांक्षा की तरह ही शाब्दबोध में कारण माना गया है। अव्यवहित रूप से पदार्थ की स्मृति (उपस्थिति) होने पर शाब्दबोध होता है, और विलम्ब से पदार्थ की स्मृति (उपस्थिति) होने पर शाब्दबोध नहीं होता—ऐसा अन्वय और व्यतिरेक से देखा जाता है। "लेखिन्या पत्रं लिख" इस वाक्य में आए हुए तीन पदों का श्रवण अगर तीन दिनों में (एक एक दिन में एक एक पद का श्रवण) अगर हो, तो वहाँ पदजन्यपदार्थोपस्थिति होने पर भी शाब्दबोध होना संभव नहीं। एक पदश्रवण के बाद अव्यवधानेन ही जब दूसरा पदश्रवण होता है, तभी शाब्दबोध होता है। इसलिए परस्पर अन्वययोग्य पदार्थों की अविलम्ब से ही पदजन्य उपस्थिति होने पर ही शाब्दबोध होता है, अन्यथा नहीं। शाब्दबोध में आसत्ति को कारण मानने में अन्वय और व्यतिरेक—दोनों प्रमाण हैं। शाब्दबोध में जैसे आकांक्षा और योग्यता को कारण माना है उसी प्रकार आसत्ति भी एक कारण है। और उसी प्रकार उन तीनों के कारण समूह से अवान्तर वाक्य का अर्थज्ञान भी महावाक्य के अर्थज्ञान में कारण माना गया है। क्योंकि जिसे पहले अवान्तर वाक्य का ज्ञान हुआ हो उसी को महावाक्य का अर्थबोध होता है। अवान्तर वाक्य के अर्थ बिना जाने महावाक्य का अर्थबोध नहीं होता—यह अन्वय और व्यतिरेक देखा गया है। इस तरह अवान्तर वाक्यार्थबोध को महावाक्यार्थबोध का कारण मानना समीचीन सिद्ध हुआ।

क्रमप्राप्तं तात्पर्यं निरूप्यते। तत्र तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं न तात्पर्यम्। अर्थज्ञानशून्येन पुरुषेणोच्चरिताद् वेदार्थप्रत्ययाभावप्रसङ्गात्। अयमध्यापकोऽव्युत्पन्न इति विशेषदर्शनेन तत्र तात्पर्यभ्रमस्याप्यभावात्। न चेश्वरीवतात्पर्यज्ञानात् तत्र शाब्दबोधः इति वाच्यम्। ईश्वरानङ्गीकर्तुरपि तद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिदर्शनात्।

अनुवाद—अब क्रम से प्राप्त तात्पर्य का निरूपण किया जा रहा है। जिस वस्तु की प्रतीति की इच्छा से, जिस शब्द का उच्चारण किया जाए उस शब्द का उसी अर्थ में बोधन होना तात्पर्य है'—इस प्रकार का तात्पर्य का लक्षण (नैयायिकों का) योग्य नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर अर्थज्ञान से शून्य पुरुष के द्वारा उच्चरित किए गए वेद वाक्य से अर्थ का बोध नहीं हो सकेगा। और 'यह अध्यापक अव्युत्पन्न है'—(इस प्रकार किसी अध्यापक में व्युत्पत्ति का अभावरूप विशेष देख लेने के कारण वहाँ पर तात्पर्यभ्रम ही तो नहीं कह सकते। यदि कहा जाए कि अर्थज्ञानशून्य पुरुष के द्वारा उच्चार्यमाण वेदवाक्य से ईश्वरीय तात्पर्यज्ञान द्वारा शाब्दबोध हो जायगा, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि ईश्वर को नहीं मानने वाले को भी वाक्यार्थ बोध होता है, ऐसा देखा गया है ।

विमर्श—आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य—ये चार शाब्दबोध के कारण हैं, यह हम देख चुके हैं। अगले तीनों के निरूपण के बाद अब तात्पर्य का निरूपण किया जा रहा है। यहाँ पर तात्पर्य का लक्षण क्या है ? एवं तात्पर्य को शाब्दबोध में हेतु मानने का प्रमाण क्या है?—इस तरह लक्षण तथा प्रमाण द्वारा तात्पर्य की प्रथम सिद्धि अपेक्षित है। इसलिए पहले लक्षण की चर्चा की जाती है—

नैयायिक लोग वक्ता की इच्छा को तात्पर्य कहते हैं। (वक्तुरिच्छा तात्पर्यम्) विवक्षित वस्तु की प्रतीति की इच्छा से किया गया उच्चारण ही उनके मत में तात्पर्य है। किन्तु यह योग्य नहीं है, क्योंकि किसी मौनी बाबा के द्वारा लिखे गए संकेत से भी तो तात्पर्य ज्ञान मिल सकता है। वहाँ शब्द का उच्चारण किए बिना ही तात्पर्यज्ञान तो है ही। पर तत्प्रतीति की इच्छा से 'उच्चारित' तात्पर्य तो है नहीं (लक्षण में अव्याप्ति हुई) ।

और अर्थज्ञानहीन पुरुष भी ''भद्रं कर्णेभिः'' इत्यादि वेदवाक्यों का उच्चारण तोते की तरह करता है, तब उसके श्रवण से संस्कृतज्ञों को शाब्दबोध होता ही है। वहाँ तदर्थप्रतीति की इच्छा से तो उसमें उच्चारण नहीं किया। अतः वहाँ भी नैयायिकों के तात्पर्य के लक्षण की अव्याप्ति हुई ।

अगर कहा जाए कि वह वेदशास्त्र पाठक अर्थज्ञानशून्य अवश्य है ही, पर सुनने वालों को ऐसा **भ्रम** होता है कि वह आदमी विवक्षित अर्थ की प्रतीति की इच्छा से ही वेदमंत्रों का उच्चारण कर रहा है। इसलिए अर्थज्ञानशून्य व्यक्ति द्वारा उच्चारण किए गए वेदमंत्रों द्वारा भ्रमवशात् शाब्दबोध हो जाएगा ।

यह कहना ठीक नहीं है। मान लीजिए कि कोई एक अध्यापक पदपदार्थ का यथातथ ज्ञान नहीं रखता और उसकी शास्त्रीय व्युत्पत्ति ठीकठाक नहीं है। उसके अध्यापनकाल में व्युत्पन्न छात्र तथा तटस्थ व्यक्ति उस अध्यापक की अव्युत्पन्नता को समझते भी हैं, और साथ ही साथ उसके द्वारा कहे गए श्लोकों का पूर्णतः यथायोग्य ज्ञान व्युत्पन्न छात्रों और तटस्थ व्यक्तियों को होता ही है और साथ ही साथ उस

अध्यापक की अच्युत्पन्नता का भी दर्शन हो रहा है। वहाँ भ्रम की तो कोई बात ही नहीं रही ।

और भी अगर कहा जाए कि शाब्दबोध तो सभी जगह तात्पर्यज्ञान से ही होता है, और वह तात्पर्य तदर्थ इच्छा से उच्चार्थमाणत्व के रूप में ही है। जहाँ पर वक्ता में तात्पर्यभान नहीं होता, वहाँ पर भी ईश्वरीय तात्पर्य है ही। फिर वह चाहे अर्थज्ञानशून्य व्यक्ति द्वारा उच्चरिल हो या अव्युत्पन्न अध्यापक द्वारा उच्चरित हो। सर्वत्र ही ईश्वरीय तात्पर्यज्ञान से शाब्दबोध हो जायगा। ईश्वर में साक्षात् प्रेरकत्व न होते हुए भी केवल सामान्य प्रेरकता से ही 'उच्चारणकर्तृत्व' संभवित है ही ।

तो नैयायिकों का यह अभिप्राय भी समुचित नहीं है, क्योंकि नास्तिक सांख्यदर्शन और आस्तिक मीमांसादर्शन ईश्वर को मानते ही नहीं। तथापि उन्हें लौकिक और वैदिक वाक्यों के श्रवण से वाक्य ज्ञान होता है, यह सर्वविदित है। वहाँ पर अर्थज्ञानशून्य पुरुष के द्वारा उच्चारित किए गए वेदवाक्य में वक्ता का कोई तात्पर्य तो होता नहीं, और कोई ईश्वरीय तात्पर्य भी नहीं होता। फिर भी व्युत्पन्न श्रोता को शाब्दबोध तो होता ही है। इसलिए तात्पर्य का नैयायिकों का लक्षण अनुपपन्न ही है ।

उच्यते । तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम् । 'गेहे घटः'–इति वाक्यं गेहे घट-संसर्ग-योग्यम्, न तु पट-संसर्ग-प्रतीति-जनन-योग्यमिति तद्वाक्यं घटसंसर्गपरम्, न तु पटसंसर्गपरमित्युच्यते ।

अनुवाद—नैयायिकों के तात्पर्य लक्षण का खण्डन करके अब अपना मत) कहा जाता है—विवक्षित अर्थ की योग्यता, अर्थात् प्रतीति को उत्पन्न करने की योग्यता को ही तात्पर्य कहा जाता है। 'घर में घड़ा है'—यह वाक्य घर और घड़े के आधार-आधेय भावरूप सम्बन्ध को बताने की योग्यता रखता है, घर और वस्त्र (पट) के सम्बन्ध को बताने की योग्यता तो नहीं रखता। इसलिए 'गेहे घटः'—'घर में घड़ा है'—यह वाक्य घटसंसर्गपरक है, पट संसर्ग परक नहीं है ।

विमर्श—हमारा मत यह है कि पदार्थों की प्रतीति (संसर्ग-स्मृति-अनुभव) के जनन की योग्यता ही तात्पर्य है। जैसे—"गेहे घटः"—'घर में घड़ा है'—यहाँ गेहे घटः'—यहाँ गेह (घर) आधार है और घट आधेय है। इन दोनों का 'आधार-आधेय-भाव का सम्बन्ध है। और सुनते ही इस प्रकार के सम्बन्ध का बोध कराने की योग्यता उस वाक्य में है। फिर सुनाने वाला कोई भी हो, अर्थज्ञ हो या अर्थशून्य हो, इसकी कोई परवाह नहीं, बस उस वाक्य में 'प्रतीतिजननयोग्यता' है, इतना काफ़ी है। इसी प्रकार भले अर्थज्ञानशून्य व्यक्ति भी वेदमन्त्र बोलता हो, तथापि उस मंत्र में पदार्थों के संसर्ग की प्रतीति को उत्पन्न करने की योग्यता तो रहेगी ही। योग्यतारूप तात्पर्य वहाँ मौज़ूद होने से श्रोता को शाब्दबोध हो जाता है। अव्युत्पन्न अध्यापक के द्वारा उच्चारित वाक्य में भी विवक्षित पदार्थ के संसर्ग की प्रतीति उत्पन्न करने की योग्यता तो रहेगी

ही। इसलिए व्युत्पन्न छात्र एवं तटस्थ व्यक्ति को शाब्द बोध जो जाता है। इसी योग्यता के कारण ही ईश्वर को न मानने वाले को भी शाब्दबोध हो जाता है। क्योंकि वह पदार्थसंसर्ग प्रतीति जननयोग्यता' वक्ता अधीन नहीं है, वह तो वाक्याधीन है। जैसे, 'गेहे घटः' यह वाक्य 'गेह-घट' के सम्बन्धबोधन में समर्थ है, 'गेह-पट' सम्बन्ध के ज्ञान में नहीं। अर्थात् जो वाक्य जिस पदार्थ के संसर्ग की प्रतीति को उत्पन्न करने में समर्थ होता है, पर वाक्य उसी प्रतीति के लिए उपयुक्त होता है। इसलिए यह वाक्य, 'घटसंसर्गपरक' ही माना जायगा, पदसंसर्गपरक नहीं ।

ननु 'सैन्धवमानव' इत्यादि वाक्यं यदा लवणानयनप्रतीतीच्छया प्रयुक्तं तदाऽश्वसंसर्गप्रतीतिजनने स्वरूपयोग्यतासत्त्वाल्लवण-परत्वज्ञानदशायामप्यश्वादिसंसर्गज्ञानापत्तिरिति चेत् न। तदितर-प्रतीतिच्छयाऽनुच्चरितत्वस्यापि तात्पर्यं प्रति विशेषणत्वात्। तथा च यद्वाक्यं यत्प्रतीतिजननस्वरूपयोग्यत्वे सति यदन्यप्रतीतिच्छया नोच्चरितं तद्वाक्यं तत्संसर्गपरमित्युच्यते ।

अनुवाद—यहाँ पर शंका की जाती है कि 'सैन्धवमानव' (सैन्धव ले आओ) । इत्यादि वाक्य, जब, 'नमक लाओ'—ऐसे अर्थ की प्रतीति की इच्छा से प्रयुक्त किए जाते हैं, तब भी उस वाक्य में (आए हुए सैन्धव-घोड़ा इसपद में) घोड़े अर्थ में संसर्ग प्रतीति जनन की योग्यता तो है ही। अतः यह वाक्य 'लवणसंसर्ग बोधक' है ऐसे ज्ञान के साथ ही यह वाक्य 'अश्वसंसर्गबोधक' है, ऐसा ज्ञान भी होने लगेगा ।

तो ऐसी शंका का उत्तर यह है कि ''विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति की इच्छा से जिसका उच्चारण न किया गया हो'—ऐसा विशेषण भी उसे प्रतीतिजननयोग्यता'' रूप तात्पर्य के लक्षण में जोड़े देना चाहिए। अर्थात् जो वाक्य, जिस अर्थ की प्रतीति की स्वरूप योग्यता रखता हो, और (साथ ही साथ) जो अपेक्षित अर्थ से भिन्न अर्थबोध की इच्छा से उच्चारित न किया गया हो तो वह वाक्य उस अर्थ का संसर्गपरक माना जायगा ।

विमर्श—'पदार्थ-संसर्ग-प्रतीति-जनन-योग्यता'—यह वेदान्तमत में तात्पर्य का लक्षण हुआ। परन्तु ऐसा लक्षण स्वीकार करने पर तो अनेकार्थ पदों में घटित अनेक अर्थो में उसका मेल नहीं बैठता। जैसे 'सैन्धव' पद को दो अर्थ हैं एक है लवण और दूसरा है घोड़ा। एक ही पद की शक्ति दोनों की बोधक है और यद्यपि भोजन करते हुए आदमी ने 'सौन्धव' लाने के लिए कहा तो—वह तो लवण—नमक के लाने की प्रतीति की इच्छा से कहा है, पर 'सैन्धव' पद की शक्ति लवण और घोड़े के दोनों के अर्थों के बोधन में अपनी स्वरूपयोग्यता तो रखती ही है । वहाँ वेदान्तमतानुसार 'तत्प्रतीतिजनन योग्यता' रूप तात्पर्य विद्यमान है ही । अतः लवणपदक वाक्य के उच्चारण के साथ लवण का अर्थबोध तो स्वाभाविक रूप से होगा, पर साथ ही साथ श्रोता को घोड़े का

बोध भी अवश्य होगा, जो विवक्षित नहीं था। इसलिए वेदान्तियों का तात्पर्य लक्षण अनेकार्थ-पद-घटित-वाक्यों में अतिव्याप्ति-दोष से दूषित है, ऐसा पूर्वपक्षी का आक्षेप है। सभंग श्लेष अलंकार में भी कहीं कहीं पदच्छेद की करामात से वाक्य में दोनों अर्थों की प्रतीतिजननयोग्यता दिखाई देती है, और ऐसे स्थलों पर भी अतिव्याप्ति दिखाई पड़ती है ।

इस अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए, ''अपेक्षित अर्थ से भिन्न अर्थज्ञान की इच्छा से अनुच्चार्यमाण'' ऐसा विशेषण, ''जो वाक्य जिस अर्थ की प्रतीति की स्वरूप-योग्यता रखता है''—इस तात्पर्य लक्षण के साथ जोड़ देना चाहिए। ऐसा करने से अतिव्याप्ति टूट जायेगी। अपेक्षित विवक्षा में रहित किसी अर्थ का बोध न कराने वाला, केवल विवक्षित अर्थ के बोधन में योग्यता रखने वाला ही तात्पर्य होता है ।

शुकादिवाक्येऽव्युत्पन्नोच्चरितवेदवाक्यादौ च तत्प्रतीतीच्छाया एवाभावेन तदन्यप्रतीतीच्छयोच्चरितत्वाभावेन लक्षणसत्त्वान्नाव्याप्तिः। न चोभयप्रतीतीच्छयोच्चारितेऽव्याप्तिः तदन्यमात्रप्रतीतीच्छयानुचरितत्वस्य विवक्षितत्वात् ।

अनुवाद—तोते आदि के वाक्य में और अव्युत्पन्न पुरुष द्वारा बोले गए वेदों का वाक्य आदि में विवक्षित अर्थ के बोध की इच्छा का ही जब अभाव है, तब उससे भिन्न प्रतीति की इच्छा से उच्चरितत्व का तो यों ही अभाव है ही। इसलिए शुक आदि के वाक्यों और अव्युत्पन्न पुरुष आदि के वेदमंत्रोच्चारण में तात्पर्य लक्षण की पूर्णतः उपपत्ति होने से अव्याप्ति टिक नहीं सकती। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि जहाँ पर दोनों ही अर्थों के बोध की इच्छा से उच्चारण किया जाता है, वहाँ पर अव्याप्ति आएगी। क्योंकि विवक्षित अर्थ से भिन्न, किसी भी अर्थ के बोध के लिए वाक्य उच्चारित नहीं किया जाना चाहिए ।

विमर्श—अब वेदान्तियों का तात्पर्य का लक्षण इस प्रकार हुआ—''तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वे सति तदन्यप्रतीतीच्छया अनुच्चरितत्वम् तात्पर्यम् ।'' तोते का 'सीताराम' आदि वाक्य तथा अव्युत्पन्न अध्यापक के द्वारा उच्चारित वेदमंत्रों में—दोनों में पद-पदार्थ ज्ञान की शून्यता है । इसलिए इन दोनों को तो न विवक्षित अर्थप्रतीति की कोई इच्छा है, या न तो भिन्न अर्थबोधन की भी कोई इच्छा है। फिर भी उनके द्वारा उच्चरित वाक्यों में तो अर्थप्रतीतिजनकता की योग्यता तो अवश्य है ही। अतः अव्याप्तिः का कोई प्रश्न ही नहीं है। भावार्थ यह है कि तोते और अव्युत्पन्न पुरुष ने किसी को अर्थबोध कराने की इच्छा से वाक्यों का उच्चारण नहीं किया है, क्योंकि उन वाक्यों का ज्ञान उन्हें स्वयं ही नहीं है। इसलिए लक्षण के विशेषण भाग में तो कोई अनुपपत्ति नहीं रही। और लक्षण के विशेष्य भाग में (तत्प्रतीतिजनन योग्यता में) शब्द का अर्थ सामर्थ्य होने से तात्पर्य का वेदान्तोक्त लक्षण अव्याप्तिशून्य और **निर्दुष्ट ही है। पर जहाँ दोनों**

अर्थों के बोधन की इच्छा से वाक्य का उच्चारण किया गया है, (अर्थात् 'सैन्धवमानय'— ऐसा कहने वाले का तात्पर्य लवण और अश्व—दोनों के अमयन में है, तो वहाँ पर विवक्षित अर्थ से भिन्न प्रतीतीच्छा से अनुच्चरितत्व नहीं रहा, वेदान्ती के लक्षण का विशेषण भाग नहीं रहा इसलिए अतिव्याप्ति आ गई,यह शंका भी योग्य नहीं है। क्योंकि अगर दोनों अर्थ विवक्षित हैं, तब विवक्षित दोनों अर्थों से भिन्न अर्थ की प्रतीति की इच्छा से तो उच्चारण नहीं किया गया न! विवक्षित एक अर्थ के बदले दो विवक्षित अर्थ हुए। इतना ही न! इसलिए विवक्षित दो अर्थों से भिन्न अर्थबोधन की इच्छा से उच्चारण न होने के कारण, स्वभाव सिद्ध, पदार्थ-संसर्ग-बोध-जनन की **योग्यता** रूप तात्पर्य उक्त स्थल में भी है। इसलिए अव्याप्ति नहीं है। तात्पर्य का परिष्कृत लक्षण फिर से एक बार दुहरा लें कि—''तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वे सति तदन्यप्रतीतीच्छयानुच्चारितत्वम् तात्पर्यस्य लक्षणम्''—(पदों में पदार्थसंसर्गबोधजनन योग्यता है और जिस अर्थ का बोध करना उन्हें अभीष्ट है उससे भिन्न सभी अर्थों का प्रतीति की इच्छा से नहीं किया गया हो, वही तात्पर्य का सम्पूर्ण लक्षण है।

उक्तप्रतीतिमात्रजननयोग्यतायाश्चावच्छेदिका शक्तिः, अस्माकं तु मते सर्वत्र कारणतायाः शक्तेरेवावच्छेदकत्वान्न कोऽपि दोषः।

एवं तात्पर्यस्य तत्प्रतीतिजनकत्वरूपस्य शाब्दज्ञान जनकत्वे सिद्धे चतुर्थवर्णके तात्पर्यस्य शाब्द ज्ञान-हेतुत्व-निराकरण-वाक्यं तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वरूप-तात्पर्यनिराकरणपरम् अन्यथा तात्पर्य-निश्चय-फलक-वेदान्तविचार-वैयर्थ्य-स्यात्।

अनुवाद—उपर्युक्त 'सभी प्रतीतियों की जनन योग्यता की अवच्छेदिका-निश्चायिका अपनी परिधि में रखने वाली तो (शाब्दबोधजनकतारूप) शक्ति ही है। क्योंकि हमारे मत में सभी जगह कारणता की अवच्छेदिका के रूप में शक्ति को ही माना गया है। इसलिए कोई दोष नहीं है।

इस प्रकार, तत्प्रतीतिजनकत्वरूप तात्पर्य का, शाब्दबोध का जनकत्व सिद्ध हो जाने पर विवरण ग्रन्थ के चतुर्थवर्णक में, ''तात्पर्य शाब्दबोध का कारण नहीं है,'' (ऐसा जो कहा गया है, और) इस तरह तात्पर्य में शाब्दज्ञानजनकत्व का निषेधक वाक्य तो केवल, 'तत्प्रतीतीच्छया उच्चरितत्व रूप' वाले (नैयायिकों के माने हुए) तात्पर्य का ही निराकरण कर रहा है। ऐसा अगर न हो, तब तो जिसका तात्पर्य निर्णय ही फल है, ऐसा वेदान्त विचार ही व्यर्थ हो जायगा।

विमर्श—अब प्रश्न है कि वेदान्त के लिए तात्पर्यलक्षण का निश्चायक-अवच्छेदक कौन है? अर्थात् यह कैसे निर्णय किया जाए कि तत्-प्रतीति-जनन-योग्यता अमुक शब्द में है, और अमुक शब्द में नहीं है? हम देख चुके हैं कि वह निश्चय **(अवच्छेद)**, तत्प्रतीतीच्छया उच्चरितत्व में तो नहीं हो सकता, **क्योंकि शुकादि और अप्युत्पन्न व्यक्ति**

द्वारा उच्चरित वाक्य, 'तत्प्रतीतीच्छया **उच्चरितत्व** का अभाव ही है। इसलिए सिद्धान्तानुसार उस योग्यताका अवच्छेदक निश्चायक—निर्णायक—के रूप में शक्ति को माना जाता है। याने अपने अर्थबोधन में (विवक्षित अर्थ-प्रतीतिजनन में) योग्यता की अवच्छेदिका वह शक्ति ही है। यह सर्व सम्मत वेदान्त सिद्धान्त है ।

शब्दबोधक कार्य में आकांक्षा और आसत्ति आदि की तरह योग्यता भी एक सहकारी कारण है। इसीलिए तो चक्कर काटकर वह योग्यता फिर से घूमा-फिरा कर तात्पर्य के लक्षण में वेदान्ती घसीट लाए हैं—यह कहना योग्य नहीं है क्योंकि यहाँ इसीलिए तो योग्यता के स्वरूप में 'विवक्षित-अर्थ-मात्र-जनन योग्यता ऐसा विशेष दिया गया है ।

और ऐसी योग्यता के निर्णायक रूप में शक्ति को मानने में कोई गौरवदोष नहीं है। क्योंकि शक्ति तो सिर्फ पदार्थ है। असिद्ध वस्तु की कल्पना में गौरवदोष होता है। हमारे मत में शक्ति ही सर्वत्र कारणता का अवच्छेदक—निर्णायक—है। जैसे वह्नि में दाहजनकता अवच्छेदक है वैसे ही तात्पर्य में शाब्दबोधजनकता की एक शक्ति ही है ।

यहाँ पर किसी ने शंका उठाई है कि यदि तात्पर्य ज्ञान को शाब्दबोध का कारण मानोगे तो विवरणकार ने शाब्दबोध के प्रति तात्पर्य ज्ञान की कारणता का खण्डन क्यों किया? आपके मत से विवरणकार विरोध में पड़ जाते हैं, उनके अनुसार तो तात्पर्य शाब्दबोध का कारण नहीं है। देखिए—ब्रह्मसूत्र-चतुःसूत्री-शांकरभाष्य पर आचार्य पद्मपाद की पंचपादिका नाम की टीका है। वहाँ 'तत्तु समन्वयात्' इस सूत्र के शांकरभाष्य की टीका में चतुर्थ वर्णक में श्रीप्रकाशात्मयति ने तात्पर्य को शाब्दज्ञान के प्रति कारण मानने का इन्कार किया है ।

तो यह शंका उठाना योग्य नहीं है, क्योंकि यहाँ जो तात्पर्य को शाब्दबोध का कारण अस्वीकृत किया है वह तो केवल, **'तत्प्रतीतीच्छया उच्चरितत्व'** वाले नैयायिकाभिमत तात्पर्य की कारणता का ही खण्डन है, वेदान्ताभिमत 'तत्प्रतीतिजननयोग्यत्व' वाले तात्पर्य का खण्डन नहीं किया है। अगर हमारे मत के—वेदान्तमत के—तात्पर्य का खण्डन किया है, ऐसा माना जाए, तब तो समग्र वेदान्तविचार ही व्यर्थ हो जायगा। वेदान्तविचार तो वेदान्त के तात्पर्य निर्णय के लिए ही तो किया जाता है। अतः विवरणाचार्य का तात्पर्यखण्डन नैयायिकों के तात्पर्य का ही खण्डन है, हमारा नहीं, ऐसा मानना चाहिए ।

केचित्तु–''शाब्दज्ञानत्वावच्छेदेन न तात्पर्यज्ञानं हेतु''रित्येवंपरं चतुर्थवर्णकवाक्यम् । तात्पर्य-संशय-विपर्ययोत्तरशाब्दज्ञानविशेषे च तात्पर्य ज्ञानं हेतुरेव ।'' इदं वाक्यमेतत्परमुतान्यपरिमिति संशये तद्विपर्यये च तदुत्तर-वाक्यार्थविशेषनिश्चयस्य तात्पर्यनिश्चयं विनाऽनुपपत्तेरित्यहुः ।

अनुवाद—कुछ चिन्तकों ने चतुर्थवर्णक के इस विवरणवाक्य का अर्थ यह किया

है कि सभी शाब्दज्ञान के प्रति तो यह तात्पर्य ज्ञान कारण नहीं है, परन्तु तात्पर्य में संशय और विपर्यय होने के बाद होने वाले विशेष शाब्दबोध में ही तात्पर्यज्ञान कारण है। यह वाक्य इस अर्थ का प्रतिपादन है, या इससे भिन्न किसी दूसरे अर्थ का प्रतिपादन है, ऐसा संशय या विपर्यय होने के बाद उस वाक्यार्थ का निर्णय तात्पर्य के निश्चय के बिना हो नहीं सकता। ऐसे संशय-विपर्यय के बाद में शाब्दज्ञान का निर्णय तात्पर्य से ही हो सकता है।

विमर्श—यदि कहा जाए कि विवरणाचार्य ने तो तात्पर्य मात्र की शाब्दबोध में कारणता का खण्डन किया है, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि शाब्दबोध कई प्रकार से होता है। यह बात अभेदरत्नकार जैसे लोग पूर्वोक्त अरुचि के समाधान में कहते हैं। वे कहते हैं कि कहीं पर शाब्दबोध के पहले संशय होता है और कहीं पर विपर्यय भी होता है। कहीं एक होता है, तो कहीं दूसरा । तो कहीं दोनों का अभाव भी होता है । उनमें से जहाँ संशय-विपर्यय हों वहाँ तो तात्पर्य के निश्चय के बिना शाब्दज्ञान हो ही नहीं सकता, यह तो पक्की बात है। पर जहाँ संशय विपर्यय का अभाव, हो वहाँ तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध का कारण नहीं मान सकते। इसलिए विवरणाचार्य का मन्तव्य यही मालूम होता है कि केवल शाब्दज्ञान के प्रति तात्पर्यज्ञान कारण नहीं है, परन्तु संशयोत्तर शाब्दज्ञान या विपर्ययोत्तर शाब्दज्ञान में ही तात्पर्य ज्ञान कारण है सभी जगह नहीं । परिभाषाकार इस अभेदरत्नकार के मत से सहमत नहीं दीखते। उनके मतानुसार सभी शाब्दज्ञान के प्रति तात्पर्यज्ञान को कारण मानने में ही लाघव है। केवल विशेषज्ञान में ही ऐसा मानने में गौरव है ।

तच्च तात्पर्यं वेदे मीमांसादि परिशोधित न्यायादेवावधार्यते, लोके च प्रकरणादिना । तत्र लौकिक-वाक्यानां मानान्तरावगतार्थानुवादकत्वम् । वेदे तु वाक्यार्थस्यापूर्वतया नानुवादकत्वम् ।

अनुवाद—वह तात्पर्यनिर्णय वेदों के वाक्यों में पूर्वमीमांसा द्वारा परिशोधित न्यायों (नियमों) से निश्चित किया जाता है। किन्तु लौकिक वाक्यों में प्रकरण-प्रसंग आदि से (तात्पर्य का निर्णय होता है) वहाँ—उन लौकिक-वैदिक वाक्यों में से लौकिक वाक्य तो अन्यान्य—दूसरे प्रमाणों से जाने हुए अर्थ का ही अनुवाद करते हैं। किन्तु वैदिक वाक्यों का अर्थ दूसरे प्रमाणों से अज्ञात होने के कारण अनुवादरूप नहीं होता ।

विमर्श—यह ठीक है कि सभी शाब्दबोधों का कारण तात्पर्य ज्ञान है। पर तात्पर्यनिश्चय का मानदण्ड क्या है? तात्पर्यनिश्चय कैसे किया जाए? इसकी स्पष्टता करते हुए कहते हैं कि वेदवाक्यों का तात्पर्य निश्चय तो पूर्वमीमांसा के द्वारा परिष्कृत न्यायों से किया जाता है। वेदार्थनिश्चय के लिए एक विचारप्रणाली वैदिकों ने निश्चित कर रखी है। इसलिए उस मीमांसा के द्वारा निश्चित से परिशोधित न्याय से ही वेदवाक्यों का निश्चय किया जा सकता है। ये न्याय आचार्य परम्परा से आजतक चले आ रहे हैं। पर

लौकिक वाक्यों के तात्पर्यनिर्णय के लिए तो केवल प्रकरण या नज़दीक में पड़ा हुआ पद ही पर्याप्त है, वहाँ उन न्यायों की ज़रूरत नहीं। भोजनकाल में 'सैन्धव लाओ,' — वाक्य का तात्पर्य नमक (लवण) लाने में ही है। क्योंकि भोजन प्रसंग में लवण की ही आवश्यकता होती है, अश्व की नहीं। लौकिक तथा वैदिक वाक्य में एक अन्य विलक्षणता भी है। लौकिक वाक्य मनुष्य के बनाए होते हैं, अतः, और पुरुष को जो ज्ञान दूसरे प्रत्यक्षादि प्रमाणों से मिला होता है, उसी को वह भाषा के द्वारा (वाक्यों के द्वारा) दूसरों से कहता है। इसीलिए तो उसे लौकिक वाक्य कहा जाता है। वह लौकिक वाक्य किसी अपूर्व अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता, वह तो केवल पूर्वानुभूत को ही बताता है इसलिए वह वाक्य '**अनुवादक**' है। पर वेदवाक्य का प्रतिपाद्य तो धर्म और ब्रह्म है। वेद को छोड़कर किसी अन्य प्रमाणों से वह जाना नहीं जा सकता, इसलिए वह 'अपूर्व' है अलौकिक वेद में कुछ लोकप्रसिद्ध अर्थप्रतिपादक वाक्य देखकर किसी को वेदों में अनुवादकता का भ्रम हो सकता है, तथापि मीमांसा परिशोधित न्याय तो वेद वाक्यों को अलौकिक ही निश्चित किया गया है, इसलिए वही प्रमाण है ।

तत्र लोके वेदे च कार्यपराणामिव सिद्धार्थानामपि प्रामाण्यम् 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादिषु सिद्धार्थानाऽपि पदानां सामर्थ्यावधारणात् । अत एव वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि प्रामाण्यम् । यथा चैतत्तथा विषयपरिच्छेदे वक्ष्यते ।

अनुवाद—वहाँ—अर्थात् लोक और वेद में—कार्यबोधक (विधिबोधक) वाक्यों के (शब्दों के) समान ही सिद्धार्थक वाक्यों का भी प्रामाण्य है। क्योंकि ''तुम्हें पुत्र हुआ है''—इत्यादि वाक्यों में सिद्ध अर्थ का ही प्रतिपादन किया है, फिर भी वहाँ पदों में हम सामर्थ्य—शक्ति—का निश्चय कहते ही हैं। अतः एव वेदान्तवाक्यों का ब्रह्म में प्रामाण्य है। इस बात का विस्तार से विचार विषयपरिच्छेद में किया जाएगा ।

विमर्श—लौकिक वाक्यों में अनुवादकता है—पूर्वानुभूत का अनुवाद है। जबकि वैदिक वाक्यों में अपूर्वता है। इस अंश में दोनों में भेद होने पर भी किसी किसी बात में साम्य भी है। प्राभाकर मीमांसकों का मानना है कि ''आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य-मतदर्थानाम् '—अर्थात् ''वह क्रिया-विधि-का ही प्रतिपादक है। क्रियापदकता से भिन्न वेदवाक्य अनर्थक—निरर्थक—हैं, अर्थात् उनके अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है ।'' उनके मतानुसार 'सिद्धार्थबोधक वाक्य' अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं रखते, वे तो केवल अर्थवाद मात्र ही हैं, इनसे विधिवाक्यों की प्रशंसा और निषिद्ध वाक्यों की निन्दा का तात्पर्य ही फलित होता है। उनके मतानुसार ब्रह्म—आत्मा के प्रतिपादक उपनिषद् वाक्यों (सिद्धार्थक वाक्यों) का तात्पर्य भी परपरया उपासना (क्रिया) में ही है ।

वेदान्ती ऐसा नहीं मानते । वे कहते है कि लौकिक-वैदिक वाक्यों में (दोनों में) क्रियापरक वाक्यों की तरह ही सिद्धार्थपरक वाक्यों में भी एक ही समान तात्पर्य निश्चय

अनुभवसिद्ध है। दोनों में प्रामाण्य समान ही है। दोनों में समान शक्तिग्रह होता ही है। 'तुम्हें पुत्र हुआ है'—ऐसा सिद्धार्थपरक वाक्य किसी को कहने पर सुनने वाला प्रसन्न हो जाता है। इसी प्रकार किसी ऐसे सिद्धार्थक वाक्य से सुनने वाला दुःखी भी तो हो सकता है। तो सिद्धार्थबोधक वाक्यों से भी शाब्दबोध (शक्तिग्रह) होता ही है। अर्थात् विधिपरक और सिद्धार्थबोधक वाक्यों से भी शाब्दबोध (शक्तिग्रह) होता ही है। अर्थात् विधिपरक और सिद्धार्थपरक दोनों प्रकार के वेद तथा लोक के वाक्यों में समान रूप से शक्तिग्रह होता है । भेद मात्र अपूर्वता का और अनुवादकता का ही है। वेदवाक्य अपूर्वताप्रतिपादक है, जबकि लौकिक वाक्य अनुवादपरक होते हैं ।

वेदान्तवाक्यों की सिद्धार्थपरकता और विधिरहित ब्रह्मबोधकत्व किस तरह होता है, और उनका ब्रह्मरूप अर्थ में ही कैसे समन्वय हो सकता है, यह सब ग्रन्थकार विषयपरिच्छेद में विस्तार से बताएँगे ।

तत्र वेदानां नित्यसर्वज्ञपरमेश्वरप्रणीतत्वेन प्रामाण्यमिति नैयायिकाः। वेदानां नित्यत्वेन निरस्त-समस्त-पुंदूषणतया प्रामाण्य-मित्यध्वरमीमांसकाः। अस्माकं तु मते वेदो न नित्यः, उत्पत्तिमत्त्वात्। उत्पत्तिमत्त्वं तु "यस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः" (बृ. 2.4.10) इत्यादि श्रुतेः। नापि वेदानां त्रिक्षणावस्थायित्वम्। य एव वेदो देवदत्तेनाधीतः, स एव वेदो मयाऽधीत इत्यादिप्रत्यभिज्ञा-विरोधात्। अत एव गकारादिवर्णानामपि न क्षणिकत्वम् 'सोऽयं गकारः' इति प्रत्यभिज्ञाविरोधात्।

अनुवाद—उसमें नैयायिकों का यह कहना है कि, नित्य, सर्वज्ञ परमेश्वर के द्वारा प्रणीत होने से वेद में प्रामाण्य है। मीमांसकों का कहना यह है कि वेद नित्य हैं, और पुरुषदोषों से रहित हैं, इसलिए वेदों का प्रामाण्य है। परन्तु हमारे (वेदान्ती के) मत में तो वेद नित्य नहीं हैं। क्योंकि उनकी उत्पत्ति सुनी जाती है। "इस परमात्मा का निःश्वासरूप ही यह ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अर्थववेद है ।"—(बृ. 2.4.10) इत्यादि श्रुति है। और इसी प्रकार नैयायिकों के समान वेद को, **"तीन क्षण तक स्थायी'** भी हम नहीं मानते। क्योंकि 'जिस वेद को देवदत्त ने पढ़ा उसी वेद को मैंने भी पढ़ा'—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा से उसका विरोध हो जाता है। इसीलिए गकारादि वर्णों में भी (नैयायिकाभिमत) क्षणिकत्व नहीं है। क्योंकि, 'वही यह गकार है'—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा के साथ इसका विरोध पड़ता है ।

विमर्श—वेदों के प्रमाण्य के बारे में अनेक मत हैं। नैयायिक लोग कहते हैं— "वेद इस लिए प्रमाणभूत हैं कि उसे किसी जीव ने नहीं बनाया। किसी आदमी का बनाया होता तो कदाचित् उसमें अप्रमाण्य की शंका उठाई जा सकती थी। क्योंकि मनुष्यों में तो अल्पज्ञत्वादि दोष हो सकते हैं । ईश्वर का ज्ञान तो नित्य है, और वह

सर्वगामी है। ऐसे ईश्वरप्रणीत वेद होने से वह प्रमाणिक ग्रन्थ है।'' इस पर मीमांसक लोग ऐसा कहते हैं कि ''यह न्यायमत योग्य नहीं क्योंकि हमारे ऋषि भी तो सर्वज्ञ थे, तो उनकी कृतियों को भी वेद मानना पड़ेगा इसलिए वेद किसी के भी द्वारा प्रणीत नहीं हैं, और वे नित्य हैं, इसलिए प्रमाण हैं। नित्य होने से वेदों की उत्पत्ति ही नहीं हुई इसीलिए वे प्रमाणभूत है क्योंकि नित्य होने पर वेद में किसी प्रकार का मानवसहज दोष नहीं आएगा ।''

वेदान्ती उन दोनों के मतों को नहीं मानते। उनका अपना मत है कि वेद नित्य हैं ही नहीं श्रुति का हवाला देते हुए वेदान्ती कहते हैं कि बृहदारण्यक (2.4.10) अनुसार, 'अस्य महतो भूतस्य.........इत्यादि वाक्यों से कहा गया है कि ऋग्वेद आदि वेद तो ईश्वर का निःश्वास ही है ।

नैयायिक लोग वेद को तीन क्षणों के लिए स्थायी मानते हैं, वह भी योग्य नहीं है, क्योंकि इसका प्रत्यभिज्ञाप्रमाण के साथ विरोध होता है। 'जिस वेद को देवदत्त ने पढ़ा उसी वेद को मैंने पढ़ा'—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा का वहाँ विरोध पड़ेगा। (तत्तेदंताज्ञानावगाहित्वं प्रत्यभिज्ञा—'वह' और 'यह' ज्ञान की परस्परावगाहिता को प्रत्यभिज्ञा. कहा जाता है।) वेदों की तरह ही वर्णों का भी त्रिक्षणावस्थायित्व नहीं है क्योंकि वहाँ भी 'वही गकार'—ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है ।

तथा च वर्ण-पद-वाक्यसमुदायस्य वेदस्य वियदादिवत् सृष्टिकालीनोत्पत्तिमत्त्वं प्रलयकालीनध्वसंसप्रतियोगित्वं च । न तु मध्ये वर्णानामुत्पत्तिविनाशौ, अनन्तगकारकल्पने गौरवात् । अनुच्चारणदशायां वर्णानामनभिव्यक्तिस्तदुच्चारणरूपव्यञ्जकाभावान्न विरुध्यते । अन्धकारस्थले घटानुपलम्भात् । 'उत्पन्नो गकारः' इत्यादिप्रत्ययः सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञाविरोधादप्रमाणम् । वर्णाभिव्यक्ति-जनकध्वनिगतोत्पत्ति-निरूपित-परस्परासम्बन्धेन प्रमाणं वा । तस्मान्न वेदानां क्षणिकत्वम् ।

अनुवाद—इस तरह वर्णों, पदों और वाक्यों का समुदाय रूप वेद, आकाश आदि की भाँति ही सृष्टिकालीन उत्पत्तिवाला है, और प्रलयकालीन ध्वंसवाला भी है। बीच में कहीं वर्णादि की उत्पत्ति या विनाश नहीं होते। क्योंकि बीच में उत्पत्ति और विनाश मानने से अनन्त गकारों की कल्पना में कल्पनागौरव दोष होगा अनुच्चारण दशा में वर्णों की अनभिव्यक्ति का कारण तो उच्चारणरूप अभिव्यंजक का ही अभाव है (वर्णों का नहीं । उत्पन्नो गकारः'—'गकार उत्पन्न हुआ'—आदि प्रतीति तो अप्रामाणिक है। क्योंकि 'सोऽव गकारः'—'यह वही गकार है'—इत्यादि प्रत्यभिज्ञा के साथ विरोध पड़ता है ।

अथवा तो ऐसा कह सकते हैं कि वर्णों की अभिव्यक्ति का जनक जो ध्वनि है, उसमें उत्पत्ति है, और उसी उत्पति का परंपरा से विषय (वर्ण) के साथ सम्बन्ध होने से—अभिव्यंजक की उत्पत्ति अभिव्यंग्य में परंपरासे लग जाने से) 'उत्पन्नो गकारः'—'गकार उत्पन्न हुआ'—यह प्रतीति भी प्रामाणिक समझी जाती है। इसलिए वेदों में क्षणिकत्व नहीं है ।

विमर्श—वेदों को वेदान्ती उत्पत्ति वाला मानते हैं, पर, 'उत्पत्ति वाला कार्य विनाशशील होता है'—यह बात वेदों के नित्यत्व की बाधक नहीं है। क्योंकि वेद स्वरूप से क्षणिक नहीं हैं, और उसके वर्ण, पर और वाक्य भी क्षणिक नहीं हैं। हमारा मत है कि वेदों की उत्पत्ति सृष्टि के आरंभकाल में ही आकाशादि की तरह होता है, और जहाँ तक सृष्टि चलेगी वहाँ तक वेद भी स्थायी ही हैं। प्रलयकाल में सृष्टि के सभी पदार्थों की तरह वेद भी ईश्वर में विलीन हो जाते हैं। नैयायिकों की तरह इस बीच में वर्णों के उत्पत्तिविनाश को हम नहीं मानते। ऐसा मानने में तो कल्पनागौरव होगा। इसका अर्थ है निखिल वेदराशि सृष्टि की तरह नित्य है। इस प्रकार वेद स्थायी—नित्य होने पर अनुच्चारणदशा में उसका श्रवण नहीं होता है, इसका कारण, वेदों का अभाव नहीं, परन्तु वर्णों-पदों-वाक्यों के अभिव्यंजक (ध्वनि) का अभाव ही है। जिस तरह विद्यमान होता हुआ भी घड़ा अन्धकार में नहीं दिखाई देता, इसमें घड़े का अभाव कारण नहीं है, प्रकाश का अभाव ही कारण है, उसी तरह यहाँ भी अभिव्यंजक का अभाव ही कारण है, अभिव्यंग्य का नहीं ।

हमें 'गकार उत्पन्न हुआ'—ऐसा प्रतीति होती है, वह तो वर्णों की उत्पत्ति और विनाश सृष्टि के मध्यकाल में—बीच में ही वर्णों के उत्पत्ति और विनाश बताती है, ऐसी शंका योग्य नहीं, क्योंकि "वही यह गकार है"—ऐसी अनुभवसिद्ध प्रत्यभिज्ञा से उसका विरोध पड़ता है। वह प्रत्यभिज्ञा तो वर्णों की स्थायित्वप्रतिपादिका है और गकारादि की उत्पत्ति और नाश तो एक प्रकार का भ्रम या आरोप ही है। जैसे ध्वनि—उच्चारण—में रहे हुए उत्पत्ति-विनाश का भ्रम वर्णों के स्थायित्व पर होता है। क्योंकि ध्वनि का विषय वर्णादि हैं और उन वर्णों के साथ ध्वनि का व्यंग्य-व्यंजक भाव का सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध-परम्परा से 'गकार उत्पन्न हुआ'—यह ज्ञान भी प्रामाणिक जैसा बन जाता है। इस प्रकार गकारादि की उत्पत्ति की प्रतीति को या तो भ्रम मानें अथवा परंपरा सम्बन्ध से प्रामाणिकत्व मानें—दोनों समान हैं। अतः वेदों में क्षणिकत्व नहीं है ।

ननु क्षणिकत्वाभावेऽपि वियदादिप्रपञ्चवदुत्पत्तिमत्त्वेन परमेश्वर-कर्तृकतया पौरुषेयत्वाद पौरुषेयत्वं च वेदानामिति तव सिद्धान्तो भज्येतेति चेत्, न। न हि तावत्पुरुषेणोच्चार्यमाणमत्वं पौरुषेयत्वम्। गुरुमतेऽपि अध्यापकपरम्परया पौरुषेयत्वापत्तेः। नापि पुरुषाधीनोत्पत्तिकत्वं पौरुषेयत्वम्। नैयायिकाभिमतपौरुषेयत्वानुमानेऽस्मदादिना सिद्धसाधन-त्वापत्तेः। किन्तु सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वम् ।

अनुवाद—**शंका**—वेदों में क्षणिकत्व नहीं है, फिर भी आकाश आदि सृष्टि की तरह उत्पत्ति वाला होने से, और उसमें परमेश्वर का कर्तृत्व आ जाने से पौरुषेयत्व तो आ ही गया। इससे, 'वेद अपौरुषेय है'—ऐसा आपका सिद्धान्त नष्ट हो जायगा।

समाधान यह है कि पुरुष के द्वारा उच्चरित होना ही '**पौरुषेयत्व**' नहीं है। ऐसा ही मानेंगे तब तो प्रभाकर—मीमांसक—मत में भी अध्यापक की परम्परा से वेद में पौरुषेयत्व आ जायगा। और इसी तरह 'जिसकी उत्पत्ति पुरुष के अधीन हो', ऐसा भी पौरुषेयत्व का लक्षण नहीं है। क्योंकि नैयायिकों के किए हुए इस प्रकार के अनुमान में हमें 'सिद्धसाधन' नाम का दोष दिखाई पड़ता है। परन्तु, (हमारे मत में तो जो सजातीय उच्चारण की अपेक्षा न करके उच्चरित किया गया हो, वही पौरुषेयत्व है।''

विमर्श—शंका यह उठाई जाती है कि, 'ठीक है, नैयायिकों के मत का वेदों में क्षणिकत्व तो नहीं है, पर आकाशादि सृष्टि की तरह वेदों की उत्पत्ति तो होती है। और वह उत्पादक तो ईश्वर-पुरुष ही है। इस प्रकार वेदों को परमेश्वरकर्तृक मानने पर तो वह 'पौरुषेय' हो जाएगा और आपका जो वेदों को अपौरुषेय मानने का सिद्धान्त है, वह यों ही खण्डित हो जायगा, आपके हाथों से ही उसका घात होगा।

इस प्रकार की मीमांसकों की शंका का उत्तर देते हुए वेदान्ती कहते हैं कि, पौरुषेयत्व किसी पुरुष के द्वारा उच्चार्यमाणत्व को नहीं कहा जाता। यदि पुरुष द्वारा उच्चार्यमाणत्व को ही पौरुषेयत्व करेंगे, तब तो आपके—प्रभाकर—गुरुमत (पूर्वमीमांसक) के सिद्धान्त में भी तो अध्यापक परंपरा में पौरुषेयत्व का दोष आ जाएगा। पुरुषोच्चरितत्व रूप पौरुषेयत्व तो वहाँ भी आ गया और साथ ही मौनी के लिपिबद्ध लौकिक लोक में उच्चार्यमाणत्व न होने पर भी अपौरुषेयत्व आ जायगा। ऐसा भी नहीं कह सकते कि 'जिसकी उत्पत्ति पुरुष के अधीन है, वह पौरुषेय है।' क्योंकि यह तो नैयायिकों का एक अनुमान ही है, और उस अनुमान में 'सिद्धसाधन' नामक तर्कदोष दिखाई पड़ता है। तब प्रश्न होता है कि वेदान्तियों का 'पौरुषेयत्व' कैसा है? उत्तर यह है कि, ''जिसके उच्चारण में सजातीय उच्चारण की अपेक्षा न हो, उसे पौरुषेयत्व कहते हैं।'' इस लक्षण से यह सिद्ध होता है कि वेद उत्पत्ति वाला होता हुआ भी नित्य है।

आधुनिक ग्रंथों की रचना में सजातीय उच्चारण की—समान ही आनुपूर्वी—उच्चारण की अपेक्षा नहीं होती, इसलिए वे पौरुषेय हैं, महाभारत और पुराणों में ऐसी सजातीय—आनुपूर्वी—उच्चारण की कोई अपेक्षा न रहने से ये सभी ग्रन्थ 'पौरुषेय' हैं, लेकिन वेदों में सजातीयता की—आनुपूर्वी की—क्रम की अपेक्षा रहती है, इसलिए वे 'अपौरुषेय' है। अर्थात् सजातीय उच्चारण की अपेक्षा होना **अपौरुषेयत्व** है और सजातीय उच्चारण की अपेक्षा न होना पौरुषेयत्व है।

तथा च सर्गाद्यकाले परमेश्वरः पूर्व-पूर्व-सिद्ध-वेदानुपूर्वी समानानुपूर्वीकं वेदं विरचित्वान्। न तु तद्विजातीयमिति न

सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चार्यमाणविषयत्वं पौरुषेयत्वं वेदानाम्। भारतादीनां तु सजातीयोच्चारणमनपेक्ष्यैवोच्चारणमिति तेषां पौरुषेयत्वम्। एवं पौरुषेयापौरुषेयभेदेनागमो द्विधा निरूपितः।

इति आगमपरिच्छेदः

अनुवाद—इसी प्रकार पौरुषेयत्व का अर्थ कर देने से सृष्टि के आरम्भकाल में परमेश्वर ने पूर्वकाल में (सृष्टि के आंरभ के पूर्वकाल में) सिद्ध वेदों के समान आनुपूर्वी—क्रमसहित बनाया। उनसे विजातीय—विपरीत—क्रमवाले वेदों को नहीं। इसलिए सजातीय—समान—क्रमवाले उच्चारण की अपेक्षा किए बिना उच्चारण करने वाला पौरुषेयत्व तो वेदों में नहीं है। इसके विपरीत भारत आदि लौकिक ग्रंथों का उच्चारण तो सजातीय—क्रमसहित—उच्चारण की अपेक्षा किए बिना ही (सजातीयोच्चारण की परवाह किए बिना ही) हुआ है। इसलिए उनमें 'पौरुषेयत्व' है। इस तरह पौरुषेय और अपौरुषेय के भेद से आगम को दो प्रकार बतला दिए हैं।

विमर्श—सजातीय—आनुपूर्वा—यथाक्रम उच्चारण की अपेक्षा—परवाह किए बिना ही जो उच्चारण का विषय बनता हो वही पौरुषेयत्व है। इसीलिए सृष्टि को प्रारंभकाल में, परमेश्वर ने जो वेद बनाया, वह उससे पूर्व के सृष्टिकाल में (प्रलय और प्रारंभ तो सृष्टि के यथाकाल हुआ ही करते हैं, शास्त्रों में इसका कालमान बताया गया है।) जो वर्ण-पद-वाक्य का क्रम था, उसी आनुपूर्वी से ही प्रलयकाल के बाद नए सृष्टि सर्जन काल में सजातीय उच्चारण की अपेक्षा रखते हुए बनाया है। महाभारत आदि ग्रन्थों में ऐसे सजातीय उच्चारण की अपेक्षा उच्चारण में रखी नहीं गई। वेदों में वह आनुपूर्वी-क्रम अनिवार्य रूप से अपेक्षित ही है। यहाँ 'अग्निमिळे' आदि मंत्रों का 'ईळे अग्निम्' ऐसा क्रमभंग मान्य नहीं है। ऐसा करने से वेद की हत्या ही नहीं प्रत्यवाय भी लगेगा और अदृष्ट की उत्पत्ति भी नहीं होगी। इसलिए वेद के पद-क्रमादि की प्रलयपर्यन्त स्थायित्व होने से वेद नित्य ही हैं, ऐसा सिद्ध होता है।

इस प्रकार वेदान्तपरिभाषा के अन्तर्गत आगमपरिच्छेद की केशवलालशास्त्री
द्वारा रचित सानुवाद विमर्श नामक हिन्दी व्याख्या यहाँ पूर्ण हुई।

***

आगमपरिच्छेदः 4

अथागमो निरूप्यते। यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते, तद्वाक्यं प्रमाणम्। वाक्यजन्यज्ञाने च आकांक्षा-योग्यताऽऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञानञ्चेति चत्वारि कारणानि।

अनुवाद—अब आगम प्रमाण का निरूपण किया जा रहा है। जिस वाक्य के, तात्पर्य का विषयरूप संसर्ग, अन्य प्रमाणों के द्वारा बाधित न हो, तो ऐसा वाक्य प्रमाण माना जाता है। वाक्यजन्य ज्ञान में आकांक्षा, योग्यता आसत्ति (सन्निधि) और तात्पर्य—ये चार कारण माने जाते हैं।

विमर्श—अर्थापत्ति और अनुपलब्धि की अपेक्षा आगम प्रमाण—शब्द प्रमाण बहुवादि-सम्मत होने से पहले आगम—शब्द प्रमाण का निरूपण करते हैं।

हर एक वाक्य का अपना तात्पर्य होता है। पदार्थों के संसर्ग-सम्बन्ध का बोध कराना तात्पर्य का काम है और वह संसर्गबोध यदि किसी अन्य प्रमाण से बाधित न होता हो, तो वह वाक्य प्रमाण माना जाता है। यों तो सभी प्रमाणों का तात्पर्य, 'विषयीभूत संसर्ग बोध' तो होता ही है, पर यहाँ प्रमाणान्तर में होने वाली अतिव्याप्ति को हटाने के लिए **'वाक्यस्य'** शब्द दिया गया है।

और लक्षण में 'मानान्तरेण न बाध्यते'—'अन्य प्रमाणों से बाधित न हो'—ऐसा विशेषण देने का प्रयोजन यह है कि, अगर कोई कहे कि 'वह पानी में जल गया'—तो 'पानी से जलना'—रूप **'तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग'** तो प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। अतः वह विशेषण भी सार्थक है। अर्थवाद वाले सभी वाक्यों में तात्पर्यविषय की ही महिमा है। अर्थवाद वाक्यों को प्रमाणरूप मानने के लिए **'तात्पर्यविषयीभूतसंसर्ग'** का ही सहारा लेना पड़ता है। **तात्पर्य का विषय** होने वाला संसर्ग, **शब्दार्थ के विषय होने वाले** संसर्ग में आश्रय लेता है, यह अभिप्राय है।

'मूल में 'आकांक्षा-योग्यता-आसत्तयः' इस प्रकार तीनों को समासिकता से बाँधकर 'तात्पर्य' 'च'—इस प्रकार तात्पर्य को पृथक्-पृथक् करके बताने का प्रयोजन 'तात्पर्य' का बहुवादियों द्वारा अस्वीकार है। वेदान्ती इसे मानते हैं।

यहाँ ख़्याल रखने की बात यह है कि कानों से शब्द सुनना ही कोई शाब्दबोध या शाब्दी प्रमा नहीं हैं, वह तो शब्द का प्रत्यक्ष ही है। इस शब्दप्रत्यक्ष के प्रति शब्द करण नहीं हैं, करण तो श्रोत्र ही है। वहाँ श्रोत्र प्रत्यक्ष प्रमाण है, वाक्य प्रमाण नहीं है। इस शब्द प्रत्यक्ष से शाब्दी प्रमा को—आगम प्रमाण को अलग करने के लिए ही, ''प्रामाणान्तराबाधित तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग बोध'' को शाब्दी प्रमा—आगम प्रमाण कहा गया है। अर्थात् 'गामानय' इस वाक्यश्रवण के बाद,—श्रवणप्रत्यक्ष के बाद—''गाय को लाओ''—ऐसा जो **अर्थज्ञान** होता है, वही शाब्दी प्रमा है। इस शाब्दी प्रमा

अथार्थापत्तिपरिच्छेदः 5

इदानीमर्थापत्तिर्निरूप्यते। तत्रोपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनमर्थापत्तिः। तत्रोपपाद्यज्ञानं करणम्। उपपादक ज्ञानं फलम। येन विना यदनुपपन्नं तत्तत्रोपपाद्यम्, यस्याभावे यस्यानुपपत्तिस्तत्तत्रोपपादकम्। यथा रात्रिभोजनेन विना दिवाऽभुञ्जानस्य पीनत्वमनुपपन्नमिति तादृशपीनत्वमुपपाद्यम्। यथा वा रात्रिभोजनाभावे तादृशपीनत्वस्यानुपपत्तिरिति रात्रिभोजनमुपपादकम्।

अनुवाद—अब अर्थापत्ति प्रमाण का निरूपण किया जा रहा है। अर्थापत्ति में उपपाद्य (कार्य) के ज्ञान से कारण की उपपादक की कल्पना (ज्ञान) की जाती है। इस ज्ञान को अर्थापत्ति प्रमा कहते हैं। इसमें उपपाद्य का ज्ञान (कार्य का ज्ञान) करण (प्रमाण) है, और उपपाद का ज्ञान (कारण का ज्ञान) फल है। जिसके बिना जो **वस्तु** अनुपपन्न (असिद्ध) ही, वह यहाँ पर उपपाद्य कहा गया है, और जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति (असिद्धि) हो, वह यहाँ **उपपादक** कहा गया है। जिस तरह दिन में नहीं खाने वाले (मनुष्य) की स्थूलता रात्रिभोजन के सिवा उपपन्न (सिद्ध) नहीं हो सकती। इसलिए दिन में नहीं खाने वाले व्यक्ति का पीनत्व यहाँ उपपाद्य—साध्य—है। और रात्रिभोजन के अभाव में, दिन में भूखे रहे आदमी की स्थूलता सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए रात्रिभोजन स्थूलता का उपपादक (कारण) है।

विमर्श—अर्थापत्ति नामक यह पाँचवाँ प्रमाण, नैयायिक नहीं मानते किन्तु मीमांसक मानते हैं। नैयायिक लोग इस प्रमाण का अन्तर्भाव शेषवत् अनुमान में या व्यतिरेकी अनुमान में ही कर लेते हैं। इसका विचार बाद में किया जायेगा। इसका थोड़ा सा इशारा हम अनुमानप्रमाण में कर आए हैं। जिस प्रकार 'प्रत्यक्ष' का अर्थ '**प्रत्यक्षप्रमा**' और '**प्रत्यक्षप्रमाण**' दोनों होता है इसी तरह 'अर्थापत्ति' शब्द का अर्थ भी 'अर्थापत्तिप्रमा' और 'अर्थापत्ति प्रमाण' दोनों होता है। अन्य प्रमाणों में प्रमा और प्रमाण के नाम अलग अलग होते हैं, जैसे अनुमिति-अनुमान, उपमिति-उपमान शाब्दज्ञान-आगम, इत्यादि।

पहले 'अर्थापत्ति प्रमा' का रूप देखें। पीनत्व-स्थूलत्व कार्य है, और रात्रिभोजन उसका कारण है। क्योंकि दिन में न खाने वाले व्यक्ति के शरीर में रात्रिभोजन के बिना पीनत्व संभव नहीं है। इसलिए दिन में भूखा रहने वाले किसी व्यक्ति की स्थूलता को देखकर कोई विचारशील आदमी सोचता है कि, 'अरे! दिनभर तो यह खाता नहीं, फिर भी इतना स्थूल क्यों है?' इसीलिए रात को वह खूब खाता होगा।' ऐसी कल्पना करता है, वह कल्पना ही 'अर्थापत्ति प्रमा' है।

यों तो रात्रिभोजन स्थूलता का कारण है, और स्थूलता रात्रि-भोजन का कार्य है, तथापि यहाँ प्रमाण-प्रमेय दशा में विपरीत समझना चाहिए। यहाँ रात्रिभोजन (मूलतः कारण होते हुए भी) फल-साध्य है और पीनत्व (स्थूलत्व) (मूलतः कार्य होंने पर भी

यहाँ) कारण-करण प्रमाण है। (प्रमा और प्रमाण दोनों को अर्थापत्ति ही कहते हैं)। क्योंकि रात्रिभोजन का प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो रहा है। उसकी तो अर्थापत्ति प्रमाण से कल्पना करनी पड़ती है। जो स्थूलत्व है वह तो प्रत्यक्ष ही दीख पड़ रहा है, उसकी तो कोई कल्पना नहीं करनी पड़ती। इसलिए रात्रिभोजन से उत्पन्न हुआ पीनत्व का-स्थूलता का ज्ञान यहाँ करण—(हेतु) हुआ और रात्रिभोजन का ज्ञान फल (साध्य) हुआ। इसी को मूल में 'उपपाद्य वस्तु के ज्ञान से उपपादक की कल्पना (कार्य के ज्ञान से कारण की कल्पना) को 'अर्थापत्तिप्रमा' कहा है। अर्थात् जिसके बिना जिस चीज़ की सिद्धि न हो, उसे उपपाद्य कहते हैं उदाहरणार्थ दिन में भूखे रहने वाले व्यक्ति के स्थूलत्व की सिद्धि रात्रि भोजन की कल्पना (निश्चय) के सिवा नहीं हो सकती। इसलिए दिन में न खानेवाले व्यक्ति का स्थूलत्व उपपाद्य हुआ। इसी उपपाद्य के ज्ञान को **अर्थापत्ति प्रमाण** कहते हैं। और जिसके अभाव में (रात्रिभोजन की कल्पना के अभाव में) जिसकी (दिन में न खाने-वाले व्यक्ति के स्थूलत्व की) सिद्धि न हो, उसे उपपादक कहते हैं, उस उपपादक के ज्ञान को ही अर्थापत्ति प्रमा कहते हैं। (उपपाद्य का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण है और उपपादक कल्पना=अर्थापत्ति प्रमा है)।

रात्रिभोजनकल्पनारूपायां प्रमितावर्थस्यापत्तिः कल्पनेति षष्ठी समासेन अर्थापत्ति शब्दो वर्तते । कल्पनाकरणपीनत्वज्ञाने त्वर्थस्यापत्तिः यस्मादिति बहुव्रीहिसमासेन वर्तते इति फलकरणयोरुभयोस्तत्प्रयोगः ।

अनुवाद—रात्रिभोजन की कल्पनारूप **प्रमा** में 'अर्थापति' शब्द, षष्ठी तत्पुरुष समास के रूप में 'अर्थ की प्राप्ति' इस तरह प्रयुक्त होता है, जबकि उस कल्पना का करण जो स्थूलत्व है, उसके (करण के) ज्ञान में वह 'अर्थापति' शब्द, 'अर्थस्य प्राप्तिः यस्मात्'—अर्थात्; "उस अर्थ (प्रसा) की प्राप्ति जिस (करण) से हो"—इस प्रकार बहुव्रीहि समास में प्रयुक्त होता है। इस तरह फल (प्रमा) और करण (प्रमाकरण)—दोनों रूपों में उसका प्रयोग होता है ।

विमर्श—'अर्थापत्ति' शब्द का प्रयोग, (प्रत्यक्ष की तरह) प्रमा और प्रमाण दोनों के लिए होता है। फिर भी दोनों के अर्थ में भिन्नता है। जब 'प्रमा' के अर्थ में अर्थापत्ति शब्द का प्रयोग होता है, तब वहाँ षष्ठी तत्पुरुष समास का अर्थ लेना चाहिए जैसे अर्थ की (प्रमा की) आपत्तिः (प्राप्ति) और जब उस प्रमा के करण का अर्थ लेना होता है, तब उसी शब्द का अर्थ बहुव्रीहि समास के अनुसार लेना चाहिए। जैसे 'प्रमा की आपत्ति (प्राप्ति) जिससे (जिस करण से) हो, वह करण"। अर्थात् रात्रिभोजनरूप कल्पना—प्रमा की प्राप्ति (षष्ठी तत्पुरुष) और "वह अर्थ प्राप्ति जिससे हो (स्थूलत्व) वह"—। इस प्रकार दोनों प्रकार से प्रमा और प्रमाण के रूप में—'अर्थापति' शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

सा चार्थापत्तिर्द्विविधा-दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्चेति । तत्र

दृष्टार्थापत्तिर्यथा 'इदं रजतमिति पुरोवर्तिनि प्रतिपन्नस्य रजतस्य, 'नेदं रजतमिति तत्रैव निषिध्यमानत्वं सत्यत्वेऽनुपपन्नमिति रजतस्य सद्भिन्नत्वं सत्यत्वात्यन्ताभाववत्त्वं वा मिथ्यात्वं कल्पयतीति ।

श्रुतार्थापत्तिर्यथा-यत्र श्रूयमाणवाक्यस्य स्वार्थानुपपत्तिमुखे-नार्थान्तर-कल्पनम् । यथा 'तरति शोकमात्मवित्-इत्यत्र श्रुतस्य शोकशब्दवाच्यबन्धजातस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वस्यान्यथाऽनुपपत्त्या बन्धस्य मिथ्यात्वं कल्प्यते ।

यथा वा, 'जीवी देवदत्तो गृहे ने' ति वाक्यश्रवणानन्तरं जीविनो गृहासत्त्वं बहिः सत्त्वं कल्पयति ।

अनुवाद—इस प्रमारूप अर्थापत्ति के दो प्रकार हैं। एक दृष्टार्थापत्ति और दो श्रुतार्थापत्ति। उनमें दृष्टार्थापत्तिप्रमा इस प्रकार होती है—'इहं रजतम्'—'यह रजत है'—इस स्थल में सामने ही दिखाई देने वाले रजत में, जब पीछे से 'नेदं रजतम्' 'यह रजत नहीं हैं'—ऐसा निषेध किया जाता है, तब उसी पुरोवार्ता रजत में ही ज्ञात होता हुआ रजतनिषेध, उस रजत के सत्य होनेपर सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए उस रजत में सत्यत्व के अन्यन्ताभाव की (सद्भिन्नत्व की, मिथ्यात्व की) वह कल्पना कराता है।

और श्रुतार्थापत्ति इस प्रकार होती है—जहाँ पर सुने जाने वाले शब्द या वाक्य की अपने अर्थ में अनुपपत्ति होने पर किसी दूसरे अर्थ की कल्पना करनी पडती हो, (वहाँ श्रुतार्थापत्ति प्रमा होती है) जैसे—'आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है'—इस श्रुतिवाक्य में सुने गए 'शोक' शब्द का वाच्यार्थ 'सकल बन्ध' है और वह बन्ध ज्ञान के द्वारा निवर्तनयोग्य है, ऐसा कहा है। पर उस बन्ध को 'मिथ्या' मानने के बिना अनुपपन्न है (असिद्ध है) इसलिए बन्ध के मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है ।

अथवा 'जीवित देवदत्त घर में नहीं है'—इस वाक्य के श्रवण के बाद, जीवित देवदत्त का घर में नहीं होना, उसके बाहर होने की कल्पना कराता है ।

विमर्श—अर्थापत्तिप्रमा के दो प्रकार ऊपर मूल में बताए हैं। दृष्टार्थापत्तिप्रमा का उदाहरण देखें। सामने शुक्ति पड़ी है, उसमें पहले 'यह रजत है'—ऐसा ज्ञान हुआ। (रजत का निषेधज्ञान हुआ) वह रजतनिषेध, रजत के मिथ्या होने के बिना अनुपपन्न है । (रजत में सद्भिन्नत्व के बिना असिद्ध है) तात्पर्य यह है कि रजत में सत्यत्व का अत्यन्ताभाव है । रजत की इस मिथ्यात्व कल्पना ही दृष्टार्थापत्ति है। यही निषिध्यमानत्व का ज्ञान दृष्टार्थापत्ति है ।

'श्रुतार्थापत्ति' श्रुत में—श्रुतिवाक्यों में—अर्थापत्ति का नाम है। इसका उदाहरण छान्दोग्योपनिषत् में सनत्कुमार से देवर्षि नारद के वाक्य में है। नारद ने कहा है—"तरति शोकमात्मवित्"—"आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है ।" यहाँ शोक शब्द

का वाच्यार्थ, सम्पूर्ण बन्धन है, उसको पार करने का उपाय आत्मज्ञान है। अगर बन्धन सत्य हो, तब तो आत्मज्ञान से भी कभी उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए बन्धन-शोक में मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है। इसी को श्रुतार्थापत्तिप्रमा कहा जाता है ।

श्रुतार्थापत्तिश्च द्विविधा । अभिधानानुपपत्तिरभिहितानुपपत्तिश्च । तत्र यत्र वाक्यैकदेश-श्रवणेऽन्वयाभिधानानुपपत्त्याऽन्वयाभिधानोपयोगि पदान्तरं कल्प्यते तत्राभिधानानुपपत्तिः । यथा 'द्वार' मित्यत्र 'पिधेहि' इत्यध्याहारः । यथा वा 'विश्वजिता यजेत'-इत्यत्र 'स्वर्गकाम' इति पदाध्याहारः ।

अनुवाद—श्रुतार्थापत्ति के भी दो प्रकार हैं। एक अभिधानानुपत्ति और दूसरी अभिहितान्वयानुपपत्ति। उनमें, जहाँ पर वाक्य के किसी एक भाग को सुनने पर जब अन्वय के अभिधान की उपपत्ति नहीं होती, तब उस अन्वय के अभिधान (कथन) के लिए उपयोगी किसी अन्य पद की जब कल्पना की जाती है, तो वहाँ पर अभिधानानुपत्ति होती है। जैसे हम 'द्वार' (ऐसा एक) शब्द सुनकर (उसके अन्वय की उपपत्ति लगाने के लिए) 'पिधेहि' (बन्द करो) इस पद का अध्याहार करते हैं अथवा तो 'विश्वजिता यजेत'—'विश्वजित याग करें' इस एक भाग को सुनकर (उसकी सफलता बताने के लिए) 'स्वर्गकामः' (स्वर्ग की कामना वाला) इस पद का अध्याहार करते हैं, बस, यही अभिधानानुपपत्ति है ।

विमर्श—क्रियावाचक पद को कारक की और कारक को क्रियावाचक पद की आकांक्षा रहती है दोनों में से एक के अभाव में दूसरा विवक्षित अर्थ नहीं बता सकता। इसलिए पूरे वाक्य के किसी एक भाग को जब आदमी सुनता है, तो अन्वय के अभिधान (कथन) के लिए उसे दूसरे भाग की कल्पना करनी पड़ती है। किसी ने 'द्वारं पिधेहि' (किबाड़ बन्द करो) इस पूरे वाक्य के बदले केवल 'द्वारम्' (किबाड़ को) इतना ही—एक भाग ही कहा, तो सुनने वाले को अन्वय के अभिधान (कथन) की उपपत्ति उस एक भाग के श्रवण से तो नहीं होती। उस अनुपपत्ति को हटाने के लिए उसे 'पिधेहि' बन्द करो' इस पद की कल्पना करनी पड़ती है। अन्यथा अन्वय-अभिधान की अनुपपत्ति होगी ।

इसी तरह वेद में 'विश्वजिता यजेत' ऐसा वाक्य आया है। उसका अर्थ है। 'विश्वजित याग करो। पर क्यों? हेतु क्या है?—यह नहीं सुना गया है। इस हेतु की आकांक्षा होने पर 'स्वर्गकामः' यह पद जोड़कर स्वर्ग की कल्पना करनी पड़ती है। 'स्वर्गकामः' पद का अध्याहार करके अनुपपत्ति का—आकांक्षा का शमन करना पड़ता है ।

ननु 'द्वार'मित्यादावन्वयावधानात्पूर्वमिदमन्वयाभिधानं पिधानोप-स्थापकं पदं विनाऽनुपपन्नमिति कथं ज्ञानमिति चेत् न । अभिधान-पदेन करणव्युत्पत्त्या तात्पर्यस्य विवक्षितत्वात् । तथा च

द्वारकर्मकपिधानक्रिया-संसर्गपरत्वं पिधानोपस्थापकपदं विनाऽनुपपन्न-मिति ज्ञानं तत्रापि सम्भाव्यते ।

अनुवाद—यहाँ शका होती है कि 'द्वारम् पिधेहि' इस वाक्य के एक भाग 'द्वारम्' का श्रवण करने पर इसका (पिधानक्रिया के साथ) अन्वय का अभिधान (कथन) होने से पहले ही आपको यह ज्ञान कैसे हो गया कि 'पिधानोपस्थापक पद—पिधेहि' के बिना वह अभिधान अनुपपन्न है? तो यह शंका योग्य नहीं है। यहाँ अभिधान का अर्थ (कथन नहीं पर) तात्पर्य होता है। (अभिधीयते अनेन—इस तात्पर्य के द्वारा जो कहा जाय) इस प्रकार की करण व्युत्पत्ति के द्वारा) और वह तात्पर्य पिधानोपस्थापक—पिधेहि पद के बिना असिद्ध—अनुपपन्न—है, ऐसा ज्ञान यहाँ सम्भव हो जाता है ।

विमर्श—'द्वारम् पिधेहि' यह पूर्ण वाक्य है। इसका अर्थ होता है 'द्वारकर्मक पिधान'। इसमें 'द्वार' कर्म है, और पिधेहि क्रिया है। किसी ने इस वाक्य के 'द्वारम्' इस एक भाग मात्र का उच्चारण किया। और इसमें सुने गए कर्मत्व का अन्वय 'पिधेहि' क्रिया से हो, इसका तो कोई यहाँ प्रमाण नहीं है, क्योंकि इस बात को बताने वाले किसी शब्द का उच्चारण तो यहाँ नहीं किया गया है। तो इस अन्वय के अभिधान (कथन-उच्चारण) से पहले आपने यह कैसे मान लिया है कि पिधानोपस्थापक 'पिधेहि' इस क्रियावाचक पद का अध्याहार किए बिना 'द्वारम्' पद में जो कर्मत्व के अन्वय का (द्वितीया विभक्ति का) अभिधान-कथन किया गया है, वह असिद्ध है? अनुपपन्न है? यह यहाँ पूर्वपक्ष की शंका है ।

शंका का तात्पर्य यह है कि 'द्वारम् ' पद के श्रवण से 'द्वार' में कर्मत्व का अन्वयाभिधान—अन्वयकथन—तो हो ही रहा है। पिधानोपस्थापक—'पिधेहि' क्रियावाचक पद के बिना भी वह है ही। तब आप किस कारण या प्रमाण से यह कह रहे हैं कि पिधानोपस्थापक—'पिधेहि' क्रियावाचक शब्द—के बिना वह असिद्ध है? अनुपपन्न है?

इस शंका का समाधान यह है कि यहाँ 'अभिधान' शब्द का अर्थ 'कथनमात्र' नहीं है, किन्तु उसका अर्थ **'तात्पर्य'** है। अन्वयाभिधान का अर्थ होता है अन्वय का तात्पर्य 'अभिधायते अनेन (तात्पर्ये) इस करण' व्युत्पत्ति से अभिधान का अर्थ 'तात्पर्य' निकल आता है । तो यहाँ अन्वयाभिधान का अर्थ अन्वय का तात्पर्य होता है। इसलिए 'द्वार' पद को सुनने पर 'द्वार' पद का तात्पर्य 'द्वार है कर्म जिसका'—द्वाररूप कर्मवाली पिधानक्रिया के संसर्ग को अपना विषय कर रहा है कि 'द्वारकर्मक पिधानक्रिया के संसर्ग का बोध हो' और इस अर्थ का ज्ञान 'द्वार' पद के श्रवणमात्र से हो जाता है ।

पर, 'द्वार' शब्द का उच्चारण उस विधान क्रिया के संसर्ग को ही अपना विषय क्यों बनाता है? दूसरी क्रिया को क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि देश, काल, प्रकरण आदि तात्पर्य के निश्चायक होते हैं, यह तो हम पहले की कह चुके हैं ।

अभिहितानुपपत्तिस्तु यत्र वाक्यावगतोऽर्थोऽनुपपन्नत्वेन ज्ञातः सन्नर्थान्तरं कल्पयति, तत्र द्रष्टव्या। यथा 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यत्र स्वर्गसाधनत्वस्य क्षणिक-ज्योतिष्टोमयाग-गततयाऽवगतस्यानुपपत्त्या मध्यवर्त्यपूर्वं कल्प्यते ।

अनुवाद—जहाँ पर वाक्य से जाना गया अर्थ अनुपपन्न मालूम होता हो, और इसलिए जाना हुआ भी ऐसा अर्थ, जब दूसरे ही किसी अर्थ की कल्पना कराता हो, वहाँ अभिहितानुपपत्ति देखने में आती है । जैसे—''स्वर्ग की कामना करने वाला व्यक्ति ज्योतिष्टोम यज्ञ करे''—यहाँ पर क्षणिक ज्योतिष्टोम याग में स्वर्गसाधनत्व जाना जाता है। इस प्रकार क्षणिक याग से भी जानी गई स्वर्ग साधनता अनुपपन्न होने से वह मध्यवर्ती अपूर्व की कल्पना कराती है ।

विमर्श—अभिधानानुपत्ति के बाद अब अभिहितानुपपत्ति का स्वरूप बताया जाता है । वाक्यश्रवण से अर्थज्ञान तो हुआ, पर उस अर्थज्ञान के अनुपपन्न होने से वह अर्थज्ञान किसी दूसरे ही अर्थ की कल्पना कराता हो, तो वहाँ पर अभिहितानुपपत्ति होती है। जैसे 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत'—यहाँ पर स्वर्गरूप फल के प्रति याग साधन है ऐसा अर्थ है। परन्तु याग तो कोई स्थायी चीज़ नहीं है। वह तो एक क्रियाविशेष है, जो तीन क्षण में नष्ट हो जाता है। तो इस वाक्य में क्षणिक याग स्वर्ग का साधन रूप से **अभिहित** किया गया है, पर वह तो अनुपपन्न मालूम हो रहा है क्योंकि स्वर्गरूप फल तो वर्षों के बाद मिलता है, और याग तो आज ही नष्ट हो गया। नष्ट यज्ञ से भला कालान्तरभावी स्वर्ग कैसे मिलेगा? यह तो असंभव है। इस अनुपपत्ति को दूर करने के लिए याग और स्वर्ग के मध्यवर्ता सातव्य के लिए 'अपूर्व' या 'अदृष्ट' की कल्पना करनी पड़ती है ।

न चैवमर्थापत्तिरनुमानेऽन्तर्भवितुर्महति । अन्वयव्याप्त्यज्ञानेनान्वयिन्यनन्तर्भावात्। व्यतिरेकिणश्चानुमानत्वं प्रागेव निरस्तम्। अत एवार्थापत्तिस्थलेऽनुमिनोमीति नानुव्यवसायः। किंन्तु अनेनेदं कल्पयामीति ।

अनुवाद—इस अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं हो सकता, क्योंकि (साध्य-साधन साहचर्य रूप) अन्वय व्याप्ति के अज्ञान से अन्वयी अनुमान में तो उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता । और व्यतिरेकी (साध्याभाव में साधनाभाव) के अनुमान के विषय में तो हमने पहले ही खण्डन कर दिया है। इसीलिए अर्थापत्ति में 'मैं अनुमान करता हूँ'—ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता, किन्तु 'इससे यह कल्पना करता हूँ'—ऐसा अनुव्यवसाय होता है ।

विमर्श—अर्थापत्ति का किसी अनुमान में अन्तर्भाव करना संभव नहीं है। अन्वयी अनुमान में अन्तर्भाव इसलिए नहीं हो सकता कि वहाँ साधन और साध्य का साहचर्य

होता है, दिन में भूखे रहने वाले का और रात्रिभोजन का साहचर्य नहीं है, कोई व्याप्तिज्ञान संभव नहीं। और व्यतिरेकी को तो हम अनुमान मानते ही नहीं। यह तो हमने अनुमानपरिच्छेद में बता ही दिया है। वहाँ तर्कदोष भी बता दिया है। अनुमान और अर्थापत्ति के अनुव्यवसायों में भी अन्तर है। अनुमान का अनुव्यवसाय होता है, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ (I infer) जबकि अर्थापत्ति का अनुव्यवसाय होता है, 'मैं कल्पना करता हूँ (I imagine)।

व्यतिरेकी अनुमान में साध्याभाव से साधनाभाव की व्याप्ति होती है। और यहाँ हमें अनुमान तो साधन से साध्य का करना है। तो व्यतिरेकव्याप्ति की तो यहाँ तनिक भी आवश्यकता नहीं दीखती। अतः ऐसे स्थल में अर्थापत्ति को अलग प्रमाण मानना चाहिए ।

नन्वर्थापत्तिस्थले 'इदमनेन विनाऽनुपपन्नमिति' ज्ञानं करणमित्युक्तम्, तत्र किमिदं तेन विनाऽनुपपन्नत्वम्? तदभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वमिति ब्रूमः। एवमर्थापत्तेर्मानान्तरत्वसिद्धौ व्यतिरेकि नानुमानान्तरम्, 'पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते' इत्यादौ गन्धवत्त्वमितरभेदं विनाऽनुपपन्नमित्यादिज्ञानस्य करणत्वात् । अत एवानुव्यवसायः पृथिव्यामितरभेदं कल्पयामीति ।

इति वेदान्तपरिभाषायाम् अर्थापत्तिपरिच्छेदः ।

अनुवाद—शंका होती है कि अर्थापत्तिस्थल में, ''इसके बिना यह अनुपपन्न है'—इस प्रकार के ज्ञान को आपने करण (साधन) कहा है। यहाँ पर आपको यह स्पष्टरूप में बताना पड़ेगा कि, वह अनुपपन्नत्व क्या है ।' (इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहता है कि) हम वेदान्ती कहते हैं कि साध्याभाव का व्यपकीभूत जो अभाव है, उसके प्रतियोगित्व ही **अनुपपन्नत्व** है ।

इस प्रकार अर्थापत्ति एक स्वतन्त्र प्रमाण है, ऐसा सिद्ध हो जाने पर व्यतिरेकी अनुमान कोई भिन्न प्रमाण नहीं है। 'पृथिवी इतरभेद वाली है'—इत्यादि स्थल में पृथिवी में गन्धवत्त्व इतरभेद के सिवा अनुपपन्न है । इसी ज्ञान को इतरभेद की कल्पना का करण मानते हैं। इसीलिए पृथिवी में इतरभेद की मैं **कल्पना** करता हूँ ऐसा अनुव्यवसाय होता है ।

विमर्श—शंका यह है कि आप वेदान्ती यह कहते हैं कि ''इसके बिना यह अनुपपन्न (असिद्ध) है''—इस ज्ञान को अर्थापत्ति में **करण** कहा जाता है। यह तो ठीक ही है कि किसी वाक्य के प्रसिद्ध अर्थ की अनुपपत्ति हुए बिना उसके भिन्न अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए अर्थापत्तिज्ञान को—अनुपपन्नता को आप करण बताते हैं। परन्तु उस अनुपपत्ति का स्वरूप क्या है ? यह शंका-प्रश्न वैयायिकों का है ।

इस शंका प्रश्न के उत्तर में परिभाषाकार का यह उत्तर है कि, 'अपने अभाव का व्यापक जो अभाव है, उसका प्रतियोगित्व ही यह अनुपपत्ति (अनुपपन्नत्व) है ।' इस

बात को समझें—जहाँ भोजन का अभाव रहता है, वहाँ पीनत्व का—स्थूलत्व का अभाव भी रहता है। क्योंकि भोजन न हो और स्थूलत्व हो, यह तो संभव है नहीं। इसलिए यहाँ पीनत्वाभाव, भोजनाभाव का **व्यापक** है, और भोजनाभाव पीनत्वाभाव का व्याप्य है। तो ऐसे व्यापक अभाव का प्रतियोगित्व यहाँ पीनत्व में ही हुआ (पीनत्व व्यापक अभाव का प्रतियोगी हुआ। इसलिए जहाँ रात्रिभोजनाभाव है, वहाँ दिन में भूखे रहने वाले पुरुष में पीनत्व का भी अभाव होता है । दिन में भूखे रहने वाले व्यक्ति का पीनत्वाभाव, रात्रिभोजनाभाव का व्यापक है। ऐसे व्यापक अभाव का प्रतियोगित्व पीनत्व में होना ही **अनुपपन्नत्व** है ओर यही उपपाद्यज्ञान है। भावार्थ यह है कि देवदत्त में पीनत्वाभाव नहीं है, अर्थात् देवदत्त पीनत्वाभाव का प्रतियोगी है। वह स्थूल है, इसलिए उसमें रात्रिभोजन का अभाव होना संभव नहीं है। अतः पीनत्व रात्रिभोजन का उपपाद्य है। निष्कर्ष यह है कि **रात्रिभोजनाभाव का व्यापक जो पीनत्वाभाव है, उसका प्रतियोगी पीनत्व है।** इसी ज्ञान को अनुपपत्तिज्ञान कहते हैं, इसी के बल पर रात्रि भोजन की कल्पना होती है। इसलिए प्रश्न शंका करना अनुचित है।

अनुमान और अर्थापत्ति के अनुव्यवसाय में भेद पड़ जाता है, ऐसा हमने पहले देखा है। अनुमान में 'अहमनुमिनोमि' और अर्थापत्ति में 'अहं कल्पयामि'—ऐसा अनुव्यवसाय होता है। इसलिए अर्थापत्ति का एक अलग प्रमाण के रूप में स्वीकार करने पर अनुमान केवल अन्वयरूप ही मानने योग्य रह जाता है, व्यतिरेकी रूप नहीं। जब अर्थापत्ति का एक स्वरूप प्रमाणरूप में स्वीकार किया गया, तब अनुमान के उस व्यतिरेकी रूप को मानने का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता, क्योंकि अन्वयी लिंग से ही अनुमिति हो सकती है। नैयायिकों के व्यतिरेकी अनुमान से होने वाली अनुमिति वास्तव में अर्थापत्ति ही है। एवं उसका कारण भी अर्थापत्ति ही है। नैयायिकों के व्यतिरेकी अनुमान का यह उदाहरण है—'पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते, गन्धवत्त्वात् जलवत् ।' यहाँ पृथिवी का गन्धवत्त्व उपपादक है, 'इतरभिन्नत्व' के बिना गन्धवत्त्व 'अनुपपन्न' है। यह अनुपपत्तिज्ञान ही यहाँ करण है। क्योंकि **'इतरभेद-अभाव'** का व्यापक गन्धाभाव हुआ, उसका प्रतियोगी गंध है। इसलिए इतरभेद-ज्ञान अर्थापत्ति ही है ।

इस प्रकार वेदान्तपरिभाषान्तर्गत अर्थापत्ति परिच्छेद की केशवलाल शास्त्री द्वारा रचित सानुवाद विमर्श नाम की व्याख्या यहाँ समाप्त होती है ।

***

अथानुपलब्धिपरिच्छेदः 6

इदानीं षष्ठं प्रमाणं निरूप्यते। ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवा-साधारणकारणमनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्। अनुमानादिजन्यातीन्द्रिया-भावानुभवहेतावानुमानादावतिव्याप्तिवारणाय अजन्यान्तं पदम्। अदृष्टादादौ साधारणकारणेऽतिव्याप्तिवारणाय असाधारणेति पदम्। अभावस्मृत्यसाधारणहेतु-संस्कारेऽतिव्याप्तिवारणाय अनुभवेति **विशेषणम्।**

अनुवाद—अब छठे प्रमाण का निरूपण किया जा रहा है। जो ज्ञानरूप करण से उत्पन्न न होता हो, ऐसे अभाव का अनुभव (अभाव के प्रत्यक्ष) का असाधारण कारण हो, वही अनुपलब्धि रूप छठा प्रमाण है। अनुमान प्रमाण से उत्पन्न जो अतीन्द्रिय अभाव की अनुमितिरूप अनुभव होता है, उसका कारण तो अनुमान आदि होता है। उसमें उक्त लक्षण चला न जाए—अतिव्याप्ति न हो जाए इसलिए यहाँ अनुपलब्धि के लक्षण में 'अजन्यान्त पर'—ज्ञानकरणाजन्य—पद आवश्यक है। इसी प्रकार चक्षु आदि साधारण कारणों में लक्षण लागू न हो जाए—अतिव्याप्ति न हो जाए इसलिए 'असाधारण कारण' यह पद आवश्यक है। और भी अभावस्मृति का असाधारण कारण जो संस्कार है, इसमें भी अतिव्याप्ति न हो जाए—लक्षण लागू न हो जाए, इसलिए 'अनुभव' पद भी आवश्यक है ।

विमर्श—अनुभव का असाधारण कारण, **'करण'** कहलाता है वह करण व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञान आदि ज्ञानरूप होता है है। इन कारणों या प्रमाणों से अनुमिति, अर्थापत्ति आदि प्रमाएँ उत्पन्न होती हैं। अनुपलब्धि प्रमाण यह है जिसकी प्रमा प्रमाणों के व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञान शाब्दबोध, उपपाद्यज्ञान आदि किसी भी असाधारण कारण या प्रमाण से उत्पन्न नहीं होगा। अनुलब्धि का अनुभव अभावरूप है। तो अनुपलब्धि प्रमाण के लिए यहाँ मुख्य दो बातें हैं। एक तो वह कि ज्ञानकरणरूप अन्य पाँच प्रमाणों से अनुपलब्धिप्रमा उत्पन्न नहीं होती और दूसरी बात वह प्रमा अभावरूप है। ऐसी अभावरूप प्रमा के असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहा जाता है ।

यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि 'घट' आदि के अभाव का अनुभव किसी ज्ञानरूप करण से उत्पन्न नहीं होता, फिर भी चक्षु आदि प्रमाणों से उत्पन्न होता है, और चक्षु आदि उसके असाधारण कारण हुए। यह तो नियम ही है कि जिस इन्द्रिय से जो वस्तु जानी जाती है, उसका अभाव और उसका असाधारण धर्म भी उसी इन्द्रिय से जाने जाते हैं, ऐसा होने पर अनुपलब्धिप्रमाण की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि वस्तु के भाव और अभाव के अनुभव में अनुभवत्व की समानता होने पर भी भेद है ही। अन्यथा सभी प्रमाणों में अनुभवत्व तो है ही, भेद न मानने पर

सभी प्रमाण एक हो जायेंगे, विभिन्न प्रमाणों को मानने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। और भी एक बात है भाव-अभाव—दोनों की अमुक एकेन्द्रियग्रहण क्षमता का जो ऊपर नियम दिया गया है वह अधूरा है। इन्द्रियाँ वस्तु के भाव को ग्रहण करती हैं, अभाव को नहीं, अभाव के अधिकरण को ही वे केवल ग्रहण कर सकती हैं, अधिकरण में रहे हुए अभाव को नहीं । इसलिए अभाव को ग्रहण करने के लिए अनुपलब्धि प्रमाण की आवश्यकता है। अधिकरण और उस अधिकरण में रहे हुए अभाव की भिन्नता को तो नैयायिक भी मानते हैं ।

उपलब्धि के अभाव को अनुपलब्धि कहा जाता है। इसका लक्षण ऊपर मूल में बताया है। लक्षण का प्रत्येक पद सार्थक है। अनुपलब्धि के ऊपर—मूल में दिए गए लक्षण में चार पद—चार भाग—दिये गये हैं : (1) ज्ञान-करण-अजन्य, (2) अभाव, (3) अनुभव और (4) असाधारण कारण—ये चार भाग हैं। इनमें यदि पहला ज्ञानकरणरूप **'ज्ञान-करण-अजन्य'** न दिया जाए और अभाव-अनुभव-असाधारणकारण' इतना ही दिया जाए तो जहाँ पर ज्ञानकरणरूप अनुमान प्रमाण से धर्मादि अतीन्द्रिय वस्तु का अभाव जाना जाता है, ऐसे अनुमान में लक्षण चला जायगा—लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। क्योंकि वहाँ ज्ञान-करण-अजन्यत्व न होते हुए अभाव का अनुभव और असाधारण कारण तो है ही। इस अतिव्याप्ति के निराकारणार्थ 'ज्ञान-करण-अजन्य' ऐसा पद दिया गया है ।

लक्षण में दूसरा पद है **'अभाव'**। अगर वह पद न दिया जाय और बाकी के तीन पद (भाग) ही दिये जायें तो चक्षु आदि प्रमाण (अनुभवसाधन) में अतिव्याप्ति हो जाएगी । क्योंकि चक्षु आदि, **भावपदार्थ** के **अनुभव** का **असाधारण कारण** है। और साथ ही साथ 'ज्ञान-करण-अजन्य' भी है । क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण में अन्य प्रमाणों की तरह कोई ज्ञान रूप करण नहीं है। इसलिए वह 'ज्ञान-करण-अजन्य' है अर्थात् किसी ज्ञानरूप करण से वह प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं होता। प्रत्यक्ष का लक्षण ही ऐसा है कि 'ज्ञानाकरणं प्रत्यक्षम्'। घट आदि का अनुभव किसी ज्ञान रूप करण से अजन्य है, वह भाव का अनुभव रूप भी है, (अभाव का नहीं), और चक्षु आदि उसका असाधारण कारण भी हैं। तो इस अतिव्याप्ति के निवारण के लिए यहाँ **'अभाव'** विशेषण दिया गया, जिससे ज्ञान-करण-अजन्य, अभाव, अनुभव और असाधारण कारण—ये चारों चक्षु आदि में न होने से (एक अभाव की कमी होने से) वहाँ अतिव्याप्ति नहीं होगी ।

लक्षण की तीसरी बात है **असाधारण कारण**। सभी कार्यों के प्रति देश, काल, ईश्वरेच्छा, अदृष्ट आदि साधारण कारण होते ही हैं, उनके बिना तो भाव-अभाव आदि कोई कार्य संभव नहीं। पर कार्य के लिए एक निश्चित अनिवार्य कारण भी होता है, उसे **'असाधारण'** कारण कहा जाता है। इसी असाधारण कारण को **'करण'** कहा जाता है। अनुपलब्धि प्रमाण के उक्त लक्षण में यदि 'असाधारण कारण' विशेषण न दिया, जाए और बाकी के तीन विशेषण ही दिये जाएँ तो, अर्थात् केवल 'ज्ञान-करण-अजन्य,

अभाव के अनुभव का कारण अनुपलब्धि है'' इतना ही कहा जाय, तब तो सभी कार्यों के प्रति कारण होने से सभी अनुभवों के साधारण कारण अदृष्टादि में अतिव्याप्ति आ जायगी। इसलिए 'असाधारणकारण' विशेषण सार्थक है ।

अब रहा चौथा भाग, **'अनुभव'** । वह पद न दिया जाय तो अभाव की स्मृति के संस्कार में अतिव्याप्ति हो जायेगी। स्मृति का असाधारण कारण संस्कार है। स्मृति किसी वस्तु के भाव (अस्तित्व) की भी होती है, और अभाव की भी तो होती है। वह अभावस्मृति किसी ज्ञानरूप करण से उत्पन्न नहीं हुई (वह ज्ञान-करण-अजन्य है) वह तो संस्कार से ही उत्पन्न हुई है। ऐसे संस्कार में अतिव्याप्ति न हो जाए इसलिए लक्षण में 'अनुभव' विशेषण दिया गया है ।

इस प्रकार अनुपलब्धि के लक्षण में दिए गये चारों भाग सार्थक ही हैं। उनमें से एक की भी कमी अतिव्याप्तिदोष उत्पन्न करेगी ।

न चातीन्द्रियाभावानुमितिस्थलेऽप्यनुपलब्ध्यैवाभावो गृह्यतां धर्माधर्माद्यनुपलब्धिसत्त्वेऽपि तदभावा- विशेषाभावादिति वाच्यम् । निश्चयेन योग्यानुपलब्धेरेवाभावग्राहकत्वात् ।

अनुवाद—''(प्रत्यक्ष के योग्य किसी वस्तु का अभाव हो अथवा अतीन्द्रिय वस्तु का अभाव हो—अभाव तो एक समान है) दोनों अभावों में तो कोई भेद नहीं है तो अतीन्द्रिय वस्तु के अभाव का आप अनुमान करते हैं, इस स्थल में (इसके बदले में) अनुपलब्धि प्रमाण से ही अभाव का आपको ग्रहण करना चाहिए''—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए ।

क्योंकि धर्माधर्म की उपलब्धि न होने पर भी धर्मादि का निश्चय न होने से योग्य अनुपलब्धि ही अभाव का ग्राहक माना गया है ।

विमर्श—नैयायिकों की शंका है कि अभाव चाहे घटादि का हो, या धर्माधर्मादि का हो, अभाव तो अभाव ही है, इसमें कोई भेद नहीं है। फिर भी आपके मत में घटादि के अभाव का ज्ञान अनुपलब्धिप्रमाण से होता है, और धर्मादि के अभाव का ज्ञान अनुमान से होता है ऐसा क्यों? जब आपने अनुपलब्धिप्रमाण को अलग प्रमाण मान ही लिया है, तब तो जैसे घटाभाव अनुपलब्धि से जाना जाता है, वैसे ही धर्मादि के अभाव को भी अनुपलब्धि से ही जान लीजिए न! धर्मादि के अभाव में फिर अनुमान को क्यों मानते हो भला?

इस शंका का उत्तर देते हुए वेदान्ती कहते हैं कि धर्मादि की उपलब्धि प्रत्यक्ष से नहीं होती है, इसलिए उसके अभाव का निश्चय अनुपलब्धिप्रमाण से किया नहीं जा सकता। क्योंकि वेदान्तसिद्धान्त में अभाव के ग्राहक के रूप में योग्यानुपलब्धि को ही माना गया है । यह 'योग्यानुपलब्धि' क्या है, इसका स्पष्टीकरण परिभाषाकार ने आगे किया है। सामान्यरूप से यहाँ इतना समझ लेंगे कि यदि घट भूतल पर होता, तो भूतल

का तरह वह **प्रत्यक्ष** दिखाई पड़ता, पर **प्रत्यक्ष** नहीं दिखाई देता इसलिए अनुपलब्धिप्रमाण से उसका अभाव निश्चित होता है। इस योग्य अनुपलब्धि से होने वाले घटाभाव के निश्चय की स्पष्टता आगे के ग्रन्थ में की जायगी ।

ननु केयं योग्यानुपलब्धिः? किं योग्यस्य प्रतियोगिनोऽनुपलब्धि-रुत योग्याधिकरणे प्रतियोग्यनुपलब्धिः? नाद्यः, स्तम्भे पिशाचादि-भेदस्याप्रत्यक्षत्वापत्तेः। नान्त्यः, आत्मनि धर्माधर्माद्यभावस्यापि प्रत्यक्षतापत्तेः, इति चेत्–

अनुवाद—(यहाँ पर एक बड़ी शंका उठाई गई है, इस परिच्छेद में वही पूर्वपक्ष बताया गया है कि—) (आपने जो पूर्व परिच्छेद में 'योग्यानुपलब्धि' शब्द का प्रयोग किया है) यह 'योग्यानुपलब्धि' क्या है? (अर्थात् उसका स्वरूप क्या है? क्या (1) प्रत्यक्ष के योग्य प्रतियोगी की अनुपलब्धि—ज्ञान का अभाव—(इसे योग्यानुपलब्धि कहते हो? अथवा तो योग्य (प्रत्यक्षयोग्य) अधिकरण में प्रतियोगी की अनुपलब्धि को योग्यानुपलब्धि कहते हो?

(इन दो विकल्पों में से) प्रथम विकल्प योग्य नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर तो किसी खम्भे में पिशाचादि के भेद की अप्रत्यक्षत्वापत्ति होगी। (अर्थात् 'खम्भे में यह पिशाच नहीं है'—इस प्रकार का प्रत्यक्ष नहीं होगा ।

इसी तरह दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है। (अधिकरण योग्य होना चाहिए वह भी योग्य नहीं है ।) क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा में धर्माधर्मादि के अभाव का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा। (इसलिए दोनों विकल्प अनुचित होने से योग्यानुपलब्धि का निरूपण नहीं किया जा सकता) अगर ऐसा कहा जाय तो—

विमर्श—'योग्यानुपलिब्ध ही अभाव का ग्राहक है'—इतना मात्र कह देने से पूर्वपक्षी को परितोष नहीं होता वह 'योग्यानुपलब्धि' के पूरे स्वरूप को जानना चाहता है। इसलिए वह स्वयं विकल्प उठाकर सिद्धान्ती से स्पष्टता माँगता है। वह पूछता है कि, वह वेदान्ती की योग्यानुपलब्धि, क्या 'योग्यस्य अनुपलब्धि'—अर्थात् षष्ठी तत्पुरुष वाली, प्रत्यक्ष योग्य पदार्थ की अनुपलब्धि है, या कि 'योग्ये (अधिकरणे पदार्थस्य) अनुपलब्धिः'—इस सप्तमी तत्पुरुष वाली—प्रत्यक्षयोग्य अधिकरण में पदार्थ की अनुपलब्धि है? 'योग्य' शब्द का अर्थ' प्रत्यक्षयोग्य' है, इतना तो हम समझते हैं ।

इन संभवित दो विकल्पों में प्रथम विकल्प की अनुचितता बताते हुए पूर्वपक्षी कहता है कि अगर सिद्धान्ती षष्ठीतत्पुरुष वाली अनुपलब्धि माने तो वह योग्य नहीं है क्योंकि खम्भे में सब को यह तो प्रत्यक्ष ही होता है कि 'वह खभ्भा पिशाच नहीं है ।' अब जब पिशाच प्रत्यक्षयोग्य नहीं है, तब पिशाच से खम्भे के भेद का प्रत्यक्ष कैसे हो सकेगा? पिशाच तो प्रत्यक्ष नहीं है, उसे किसी ने आज तक देखा नहीं है फिर भी खम्भे से पिशाच के भेद का प्रत्यक्षत्व तो सब को होता ही है। अगर प्रत्यक्षयोग्य की ही

अनुपलब्धि मानें तो प्रत्यक्ष के अयोग्य पिशाच से खम्भे के भेद का प्रत्यक्ष कैसे होगा? जिस पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं तो सकता, उसके दूसरे से भेद का भी तो प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए न?

दूसरा विकल्प—सप्तमी तत्पुरुष वाला—योग्य अधिकरण में अनुपलब्धिरूप—भी पूर्वपक्षी योग्य नहीं मानता। क्योंकि उसके अनुसार आत्मा प्रत्यक्ष है, और आत्मारूप अधिकरण में रहने वाले धर्माधर्म के अभाव का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए। अर्थात् प्रत्यक्षयोग्य आत्मरूप अधिकरण में रहे हुए धर्माद्यभाव का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए, परन्तु नहीं होता। इसलिए दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं। ऐसा अगर पूर्व पक्षी कहे, तो उत्तर दिया जाता है कि—

न, योग्या चासावनुपलब्धिश्चेति कर्मधारयाश्रयणात्। अनुपलब्धेर्योग्यता च तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वम्। यस्याभावो गृह्यते, तस्य यः प्रतियोगी, तस्य सत्त्वेनाधिकरणे तर्कितेन प्रसञ्जनयोग्यमापादनयोग्यं यत्प्रतियोग्युपलब्धिस्वरूपं यस्यानुपलम्भस्य तदनुपलब्धेर्योग्यत्वमित्यर्थः।

अनुवाद—(वेदान्ती कहते हैं कि—) यह आक्षेप योग्य नहीं है। क्योंकि हमने 'योग्य चासावुपलब्धिरूप—'योग्य जो उपलब्धि है'—ऐसे कर्मधारय समास का आश्रय लिया है। हमारे मत में अनुपलब्धि की योग्यता इस प्रकार है—'यदि यहाँ होता'—इस रीति से तर्कित ऐसा जो अभाव प्रतियोगी का सत्त्व (अस्तित्व) है, उस सत्त्व के योग से अनुपलब्धि का प्रतियोगी प्राप्त (प्रसंजित) होता है। अर्थात् 'तो वह उपलब्ध हुआ होता'—ऐसे प्राप्त (प्रसेजित) होता है। जिसका अभाव ग्रहण किया जाता है, उसका जो प्रतियोगी है, उसके अधिकरण में कल्पित सत्त्व से कल्पनायोग्य—आपादनयोग्य—प्रतियोगी का जो उपलधिस्वरूप है, वही अनुपलब्धि में योग्यता है।

तथा हि स्फीतालोकवति भूतले यदि घटः स्यात्तदा घटोपलम्भः स्यादित्यापादनसम्भवात्तादृशभूतले घटाभावोऽनुपलब्धिगम्यः। अन्धकारे तु तादृशापादानासभावान्नानुपलब्धिगम्यता। अत एव स्तम्भे पिशाचसत्त्वे स्तम्भवत्प्रत्यक्षतापत्त्या तदभावोऽनुपलब्धिगम्यः। आत्मनि धर्मादिसत्त्वेऽप्यस्यातीन्द्रियतया निरुक्तोपलम्भापादनाऽसम्भवान्न धर्माद्यनुपलब्धिगम्यत्वम्।

अनुवाद—जैसे "स्पष्ट प्रकाश वाले भूतल में यदि घड़ा होता, तो घड़े का उपालंभ (उपलब्धि) ज्ञान होता" ऐसा आपादन—कथन संभव ही है, इसलिए ऐसे भूतल में घटाभाव को अनुपलब्धि प्रमाण से जानने योग्य हम मानते हैं। परन्तु अन्धकार में तो ऐसा आपादन-कथन-संभव ही नहीं है, इसलिए इस अन्धेरे में घटाभाव को हम

अनुपलब्धि प्रमाण से जानने योग्य नहीं मानते। स्तम्भ में पिशाच होता तो स्तम्भ के समान उसका भी प्रत्यक्ष होता ऐसा आपादन—कथन—तो संभव है, इसलिए स्तंभ में पिशाच का भेद या अभाव अनुपलब्धि प्रमाण से जाना जा सकता है। परन्तु, आत्मा में धर्माधर्मादि के रहते हुए भी, 'यदि धर्मादि होते तो उनकी उपलब्धि (ज्ञान) होती'—ऐसा कथन संभव नहीं है, क्योंकि वह (आत्मा) अतीन्द्रिय है, इसी से धर्मादि के अभाव को आत्मा में अनुपलब्धि प्रमाण से नहीं जाना जा सकता ।

विमर्श—योग्यानुपलब्धि के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी के द्वारा विकल्प सहित उठाए गए ऊहापोह का स्पष्टीकरण वेदान्ती अब विस्तार से उदाहरण सहित कर रहे हैं। वेदान्ती कहते हैं कि पूर्वपक्षी के बताए हुए 'अनुपलब्धि' शब्द के दोनों समास उन्हें अस्वीकृत ही है। हम तो 'योग्या चासावनुपलब्धिश्च—'योग्य जो अनुपलब्धि' ऐसा कर्मधारय समास ही मानते हैं । हमारे लिए षष्ठी या सप्तमी तत्पुरुष मान्य नहीं है। योग्य और अनुपलब्धि दोनों विशेषण-विशेष्य ही हमारे मत में हैं ।

परन्तु वह योग्यता आपकी अनुपलब्धि में कौन सी बला है? इसका उत्तर देते हुए वेदान्ती कहते हैं कि ''तर्कित-प्रतियोगित्व-प्रसञ्जित-प्रतियोगित्व ही वह योग्यता है''। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जिस अधिकरण में प्रतियोगी की सत्ता तर्कित—कल्पित—हो, ऐसे प्रतियोगी की सत्ता से जिसका प्रतियोगित्व प्रसञ्जित—आरोपित—हो, उसी को ''तर्कित-प्रतियोगि-सत्त्व-प्रसञ्जित-प्रतियोगित्व'' कहा गया है। वही तो योग्यानुपलब्धि है। वही अनुपलब्धि की योग्यता है। तर्क का स्वरूप है—''यदि वह होता तो उसका ज्ञान होता ।'' (ज्ञान नहीं होता इसलिए नहीं है ।)

तात्पर्य यह है कि जिस अनुपलब्धि के विषय में, ''अमुक पदार्थ यहाँ होता, तो दिखाई पड़ता पर दीखता नहीं हैं''—ऐसा कहा जा सके, वही **'योग्यानुपलब्धि'** है। वही अभावप्रमा में छठा प्रमाण है। उदाहरण के लिए स्पष्ट प्रकाश वाले भूतल पर, ''यहाँ घड़ा होता तो दिखाई पड़ता, पर नहीं दिखाई देता, इसलिए नहीं है''—ऐसा जो घटाभाव का ज्ञान है, वही अनुपलब्धि है ।

यों तो अन्धकार में रहे हुए घड़े का भी ज्ञान नहीं होता, पर वह अनुपलब्धि प्रमाण से नहीं होता। क्योंकि वहाँ प्रकाशस्थित घटाभाव के लिए जो तर्क (कल्पना) का आपादन किया है, ऐसा आपादन (तर्क) नहीं कर सकते। इसलिए अन्धकार में अनुपलब्धि के होते हुए भी वह **'योग्य'** नहीं है। इसलिए वहाँ अनुपलब्धिप्रमाण नहीं है। वहाँ तो अनुमान से काम लिया जाता है ।

इसी तरह 'स्तम्भ में पिशाच के अत्यन्ताभाव का, या 'स्तम्भ पिशाच नहीं है'—इसमें अन्योन्याभाव का ज्ञान भी अनुपलब्धि प्रमाण से ही होता है। क्योंकि इस उदाहरण में भी ऐसा आपादन (तर्क) कर सकते हैं, कि ''यदि पिशाच होता तो दिखाई देता, पर नहीं दिखाई देता इसलिए नहीं है।'' यहाँ भी पिशाच के अन्त्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव का प्रत्यक्ष अनुपलब्धिप्रमाण से ही होता है ।

परन्तु आत्मा में धर्मादि का अभाव अनुपलब्धि से नहीं जाना जा सकता। क्योंकि धर्मादि अतीन्द्रिय हैं। इसलिए "धर्मादि होते तो दिखाई देते'—ऐसा आपादन-तर्क किया नहीं जा सकता। धर्मादि की प्रत्यक्ष होने की योग्यता नहीं है। इसलिए वहाँ भी अनुमान है, अनुपलब्धि नहीं है ।

ननूक्तरीत्याऽधिकरणेन्द्रियसन्निकर्षस्थले अभावस्यानुपलब्धिगम्यत्व-मनुमतं, तत्र क्लृप्तेन्द्रियमेवाभावाकारवृत्तावपि करणम्, इन्द्रियान्वय-व्यतिरेकानुविधानादिति चेत्। न। तत्प्रतियोग्यनुपलब्धेरपि अभावग्रहे हेतुत्वेन क्लृप्तत्वेन करणत्वमात्रस्य कल्पनात्। इन्द्रियस्य चाभावेन समं सन्निकर्षाभावेनाभावग्रहाहेतुत्वात्। इन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरधिकरण-ज्ञानाद्युपक्षीणत्वेनान्यथासिद्धेः ।

अनुवाद—(यहाँ नैयायिकों की) शंका है कि पूर्व में बताए अनुसार, जहाँ अधिकरण और इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है, वहाँ जो अभाव दिखाई पड़ता है, उसको आपने अनुपलब्धि प्रमाण से गम्य—जानने योग्य—माना है। (इसलिए) आपने वहाँ इन्द्रियों को तो मान ही लिया तो वहाँ अभाव के कारण के रूप में उन्हीं क्लृप्त—निश्चित इन्द्रियों को ही करण के रूप में मान लीजिए। (अभावकल्पना को मानने की ज़रूरत नहीं) क्योंकि इन्द्रियों के अन्वय और व्यतिरेक का अनुविधान—अनुरोध रहता है। (इन्द्रियसत्त्वे अभावप्रत्यक्ष ज्ञानम्, तदसत्त्वे तदभावः ।)

तो यह ठीक नहीं। क्योंकि अभावप्रतियोगी की अनुपलब्धि को भी तो अभावज्ञान में कारण माना गया है और उस अनुपलब्धि में (अभावप्रत्यक्ष में) प्रतियोगी की उपलब्धि तो कल्पित ही है, और इन्द्रियों का सन्निकर्ष तो अभाव के साथ नहीं होता। (इसलिए वहाँ इन्द्रियों के कारणत्व के अभाव में—) निश्चित रूप से केवल करण की (असाधारण कारण की) ही कल्पना की जाती है। (कारणत्व की नहीं) इस प्रकार इन्द्रियों का अभाव के साथ संनिकर्ष न होने के कारण अभावज्ञान के प्रति इन्द्रियों को कारण नहीं मान सकते। क्योंकि इन्द्रियों का अन्वयव्यतिरेक तो अभावाधिकरण के ज्ञान में ही उपक्षीण हो जाता है। इसलिए अभावानुभव के लिए इन्द्रियाँ अन्यथासिद्ध हैं ।

विमर्श—नैयायिक कहते है कि—जहाँ आप अभाव को अनुपलब्धि प्रमाण से गम्य कहते हैं, वहाँ सभी स्थलों में आप अधिकरण के साथ इन्द्रियों के सन्निकर्ष को भी मानते ही हैं। इस प्रकार सर्वत्र इन्द्रियों की मान्यता तो सब को स्वीकृत है। अर्थात् अभावानुभव के प्रति इन्द्रयों की कारणता हम-आप दोनों के लिए क्लृप्त-निश्चित रूप से दिखाई देती है । जब इस तरह अभावानुभव के प्रति स्पष्ट-क्लृप्त रूप से इन्द्रियों की कारणता निश्चित ही है तब भला आप अनुपलब्धि में कारणता की कल्पना—तर्क क्यों कर रहे हैं? (तर्कितप्रतियोगी.......आदि क्यों कह रहे हैं? सिद्ध वस्तु को छोड़कर

कल्पना क्यों कर रहे हैं? अर्थात् अभाव के प्रत्यक्ष में क्लृप्त इन्द्रियों के बदले कल्पनाप्रधान अनुपलब्धिप्रमाण को क्यों मानते हैं?

इस शंका का उत्तर देते हुए वेदान्ती कहते हैं कि, इन्द्रियों में अभावप्रमाका कारणत्व ही असिद्ध है तब 'करणत्व' (असाधारण कारणत्व) की तो बात ही दूर है। जैसे—आप भले ही इन्द्रियों का अभाव के साथ, 'संयुक्तविशेषत' सन्निकर्ष मानें, किन्तु वास्तव में इन्द्रियों का सम्बन्ध केवल अधिकरण के साथ ही रहता है, अधिकरण में रहे हुए वस्तु के अभाव के साथ नहीं। आपके बताए सन्निकर्ष मानने में तो पृथ्वीपरमाणुओं में जलत्वाभाव का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा। अतः अभाव के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष हो ही नहीं सकता। इस तरह अभावप्रत्यक्ष में इन्द्रियों की कारणता न होने से अनुपलब्धि नामक छठे प्रमाण को मानने की आवश्यकता है ।

इन्द्रियों का अन्वयव्यतिरेक तो अधिकरण ज्ञान तक ही सीमित है। "इन्द्रियाँ होने से अधिकरणज्ञान हो सकता है, और नहीं होने हो सकता ।"—यह अन्वयव्यतिरेक अधिकरण के ज्ञान तक ही मर्यादित हैं। वहीं वह अनुभव उपक्षीण हो जाता है। अधिकरणगत अभाव के प्रत्यक्ष के लिए तो अनुपलब्धि नामक अन्य प्रमाण मानना ही चाहिए। अभावप्रत्यक्ष के विषय में वह अन्वयव्यतिरेक अन्यथासिद्ध ही है, अर्थात् कार्य निष्पत्ति में उसका वास्तविक उपयोग नहीं है ।

ननु 'भूतले घटो ने'त्याद्यभावानुभवस्थले भूतलांशे प्रत्यक्षत्वमनुभवसिद्धमिति तत्र वृत्तिनिर्गमनस्यावश्यकत्वेन भूतलावच्छिन्नचैतन्यवत् तन्निष्ठघटाभावावच्छिन्नचैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नतया घटाभावस्य प्रत्यक्षतैव सिद्धान्तेऽपि । इति चेत् ।

सत्यम् । अभावप्रतीतेः प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्यानुपलब्धेर्मानान्तरत्वात् । न हि फलीभूतज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे तत्करणस्य प्रत्यक्षप्रमाणतानियतत्वमस्ति । 'दशमस्त्वमसी'त्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षप्रमाणभिन्नप्रमाणत्वाभ्युपगमात् ।

अनुवाद—(नैयायिक) शंका करते हैं कि 'भूतल पर घट नहीं है—इत्यादि स्थल में भूतलांश में प्रत्यक्ष तो आप-हम सभी मानते हैं (वह तो सभी के अनुभव में सिद्ध है) इसलिए यहाँ पर तो अन्तःकरण की वृत्ति का बाहर निकलना आवश्यक ही है। तब तो भूतल से अवच्छिन्न चैतान्य का जैसे प्रमाता को साथ अभेद होने के कारण प्रत्यक्ष हो जाता है, ठीक इसी प्रकार भूतल में रहे हुए घटाभाव से अवच्छिन्न चैतन्य की भी प्रमाता के साथ अभिन्नता होने से वेदान्त के सिद्धान्त में भी तो घटाभाव की प्रत्यक्षता माननी पड़ेगी। (उसको प्रत्यक्ष प्रमाणगम्य ही मानना पड़ेगा) ।

(वेदान्ती उत्तर देते हैं कि—) ठीक है, ऐसे स्थल पर अभावज्ञान को प्रत्यक्ष मानने पर भी उस प्रत्यक्ष का करण तो अनुपलब्धि ही है, और वह प्रत्यक्षप्रमाण से अलग प्रमाण ही है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि ज्ञान यदि प्रत्यक्ष हो तो उसका करण भी प्रत्यक्षप्रमाण को ही होना चाहिए। देखिए 'दशमस्त्स्वमसि' इत्यादि वाक्य से जन्य दशम पुरुष का ज्ञान तो प्रत्यक्ष है, फिर भी उसका करण तो शब्दप्रमाण ही है, प्रत्यक्षप्रमाण से वह भिन्न ही है। (उसी प्रकार अभावज्ञान के प्रत्यक्ष होते हुए भी उसका करण-प्रमाण अनुपलब्धि हो सकता है) ।

विमर्श—'भूतले घटः न'—इस अनुभव में 'घटाभाव' और 'अभावाधिकरण' (भूतल)—दोनों दिखाई देते हैं। इन दोनों में अभावाधिकरण—भूतल—के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष होने से अधिकरणांश की प्रत्यक्षता के बारे में तो कोई विवाद नहीं। क्योंकि वेदान्त-मत में भी भूतलावच्छिन्न चैतन्य और चक्षुरादि द्वारा निकली हुई तदाकार अन्तःकरणवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य का प्रमातृचैतन्य के साथ अभेद हो गया है। वेदान्ती मानते ही हैं कि विषयावच्छिन्न चैतन्य और प्रमातृचैतन्य का अभेद होने पर विषय का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार यहाँ भूतल का प्रत्यक्ष जैसे वेदान्ती मानते हैं, वैसे ही भूतल में रहे हुए घटाभाव से अवच्छिन्न चैतन्य और प्रमातृचैतन्य का अभेद हो जाने से घटाभावांश में भी वेदान्ती को प्रत्यक्षप्रमाण से ही काम लेना चाहिए, वहाँ अनुपलब्धि प्रमाण को मानने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा नैयायिकों का पूर्वपक्ष है।

सिद्धान्ती का उत्तर यह है—हम भी भूतल में घटाभावांश को प्रत्यक्ष ही मानते हैं, परन्तु उस घटाभाव के प्रत्यक्ष का करण, प्रत्यक्षप्रमाण हमारे मत में नहीं है। क्योंकि भूतल के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होते हुए भी घटाभाव के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं होता। अतः उस अभावज्ञान के लिए अनुपलब्धिप्रमाण को मानना आवश्यक है ।

ऐसा तो कोई नियम नहीं है कि प्रत्यक्षज्ञान, प्रत्यक्षप्रमाण से ही उत्पन्न हो सकता है। 'दशमस्त्वमसि' जैसे वाक्य से 'तू दसवाँ है'—ऐसा प्रत्यक्षज्ञान ही तो होता है, पर उसका करण तो प्रत्यक्षप्रमाण नहीं है। उसका करण तो उससे भिन्न शब्दप्रमाण है। इसलिए अभावानुभव का असाधारण कारण होने से—उस अभावानुभव का करण, अनुपलब्धिप्रमाण मानना चाहिए ।

फलवैजात्यं विना कथं प्रमाणभेदः इति चेत्। न। वृत्तिवैजात्यमात्रेण प्रमाणवैजात्योपपत्तेः। तथा च घटाद्यभावाकार-वृत्तिर्नेन्द्रियजन्या, इन्द्रियस्य विषयेणाऽसन्निकर्षात्। किन्तु घटानुपलब्धिरूपमानान्तरजन्या। इति भवत्यनुपलब्धेर्मानान्तरत्वम्।

अनुवाद—(भूतल की तरह अभावज्ञान में भी प्रत्यक्षज्ञानरूप) फल की भिन्नता के बिना ही आपने दोनों के प्रमाणों में भेद कैसे मान लिया? ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वृत्ति के वैजात्य (विलक्षणता—भिन्नता) मात्र से प्रमाणों की भिन्नता सिद्ध हो

जाती है। घटादि के अभाव की वृत्ति यहाँ इन्द्रिय (सन्निकर्ष) से उत्पन्न नहीं हुई, क्योंकि यहाँ इन्द्रिय का अभावरूप विषय के साथ सन्निकर्ष नहीं होता। परन्तु घट की अनुपलब्धि रूप अलग प्रमाण से ही उत्पन्न होती है। इसलिए अनुपलब्धि प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाण है, ऐसा सिद्ध होता है ।

विमर्श—घट का और घटाभाव का प्रत्यक्ष रूप फल अगर अलग प्रकार का होता, तब तो दोनों के करण को—प्रमाण को—अलग मान लेते। पर दोनों के प्रत्यक्ष में जब कोई भिन्नता ही नहीं है, तब इनके करणों में—प्रमाणों में भेद क्यों मानते हो? यह शंका है। उत्तर यह है कि 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्य से ज्ञान में प्रत्यक्ष होते हुए भी प्रमाण तो शाब्द ही है और वह प्रत्यक्षप्रमाण से भिन्न है। प्रमाणों में विलक्षणता का नियामक फल विलक्षणता नहीं है, परन्तु वृत्तिविलक्षणता है। बाकी का सब स्पष्ट ही है ।

नन्वनुपलब्धिरूपमानान्तरपक्षेऽप्यभावप्रतीतेः प्रत्यक्षत्वे घटवति घटाभावभ्रमस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्तौ तत्राप्यनिर्वचनीय-घटाभावोऽभ्युपगम्येत। न चेष्टापत्तिः। तस्य मायोपादानकत्वेऽभावत्वानुपपत्तेः, मायोपादनकत्वाभावे मायायाः सकलकार्योपादानत्वानुपपत्तिरिति चेत्, न।

अनुवाद—यहाँ पर वादी शंका उठाता है कि अनुपलब्धि को अलग प्रमाण मानने वाले (आपके) पक्ष में भी अभावप्रतीति को प्रत्यक्ष माना है तब तो (जिस पुरुष को) 'घटवत् भूतलम्' में भी 'घटाभाव का भ्रम हुआ है। (ऐसे आदमी को) भ्रम का भी प्रत्यक्ष होगा। तब आपको ऐसे अभाव भ्रमस्थल में भी 'वहाँ अनिर्वचनीय घटाभाव है'—ऐसा मानना चाहिए। और यह तो आपको अभीष्ट नहीं है। क्योंकि यदि ऐसे घटाभाव का उपादानकारण माया है, ऐसा मानने पर तो घटाभाव की सिद्धि नहीं होगी, (क्योंकि माया को तो आप **'भावरूप'** मानते हैं । और अगर घटाभाव का उपादानकारण माया नहीं मानोगे तो माया के समस्त कार्यों के प्रति उपादानकारणत्व (का आपका सिद्धान्त) अनुचित हो जाएगा ।

विमर्श—यहाँ वादी ने शंका प्रस्तुत की है। शंका का तात्पर्य यह है कि ठीक है, अनुपलब्धि को अलग प्रमाण मान लेने पर भी कुछ दोष तो ज्यों के त्यों रह ही जाते हैं। जैसे —आपके (वेदान्ती के) मत में भी अनुपलब्धि से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष ही है । तब मान लीजिए कि किसी व्यक्ति को भूतल पर घट के रहते हुए भी वह घट नहीं दिखाई देता। उसे वहाँ पर घटाभाव का जो भ्रमात्मक ज्ञान होता है, उसे भी तो प्रत्यक्ष ज्ञान ही मानना पड़ेगा । क्योंकि वह घटाभावज्ञान भी प्रत्यक्ष एवं अनुपलब्धिगम्य ही है। आप मानते हैं कि ऐसे समय में भ्रम का विषयभूत पदार्थ अनिर्वचनीय उत्पन्न होता है । तो यहाँ उस व्यक्ति के इस भ्रम का विषयभूत घटाभाव भी तो अनिर्वचनीव

उत्पन्न हुआ है, ऐसा मानना होगा। ऐसा होने पर कदाचित् आप (वेदान्ती) ऐसे भ्रमात्मक घटाभावज्ञान को अनर्वचनीय मानें तो हम (वादी) पूछेंगे। कि उस अनिर्वचनीय घटाभाव का उपादानकारण माया है या नहीं ? यदि है, तो भावरूप माया से अभावरूप (घट-अभावरूप) कार्य की उत्पत्ति कैसे होगी? भावरूप पदार्थ, अभावरूप कार्य का उपादान कारण तो नहीं हो सकता। और अगर नहीं है, ऐसा कहें तो, 'माया समस्तकार्यों का उपादानकारण है'—ऐसा आपका सिद्धान्त बाधित हो जाएगा ।

अब इस शंका का समाधान परिभाषाकार कर रहे हैं कि अगर ऐसी शंका की जाए, तो वह योग्य नहीं है, क्योंकि —

घटवति घटाभावभ्रमो न तत्कालोत्पन्नघटाभावविषयकः। किन्तु, भूतलरूपादौ विद्यमानो लौकिकघटाभावो भूतले आरोप्यत इत्यन्यथाख्यातिरेव। आरोप्यसन्निकर्षस्थले सर्वत्रान्यथाख्यातेरेव व्यवस्थापनात्।

अनुवाद—(पूर्व परिच्छेदगत शंका अनुचित है क्योंकि—) 'घटवत् भूतल' के ऊपर जो घटाभाव का भ्रम होता है, वह उसी काल में उत्पन्न अनिर्वचनीय घटाभाव को विषय नहीं करता—(अर्थात् वह उसी काल में उत्पन्न होने वाला अनिर्वचनीय घटाभाव नहीं हैं)। किन्तु, भूतल के रूप में जो व्यावहारिक घटाभाव (पहले से) विद्यमान है, उसी का भूतल में आरोप होता है। इसलिए ऐसे स्थल पर सर्वत्र अन्यथाख्याति को मानकर ही व्यवस्था करनी होगी ।

विमर्श—पूर्वोक्त शंका का इस द्वितीय परिच्छेद में वेदान्ती द्वारा परिहार किया जाता है। 'घटवत् भूतल' में घटाभाव को प्रत्यक्ष मानने में तो हमारा कोई विरोध नहीं है। पर घटाभाव के भ्रम में जो घटाभाव दीखता है उसको हम उसी काल में उत्पन्न अनिर्वचनीय नहीं मानते, किन्तु भूतल के रूप आदि में पहले से ही विद्यमान व्यावहारिक घटाभाव का आरोपण भूतल में करके ही घटाभाव को भ्रम का विषय मानते हैं। ऐसे स्थल पर हम अन्यथाख्याति का स्वीकार करते हैं। अन्यत्र स्थित वस्तु का अन्यत्र आरोपण ही अन्यथाख्याति है। यहाँ पर भूतल के रूप में (भूतल में नहीं)। जो पहले से घटाभाव है, उसका आरोपण भूतल में किया जाता है। (अर्थात् भूतल रूप में रहे हुए घटाभाव का भूतल में आरोपण होता है)। इसलिए कोई दोष नहीं ।

अस्तु वा प्रतियोगिमति तदभावभ्रमस्थले तदभावस्यनिर्वचनीयत्वम्, तत्राऽपि तदुपादानं मायैव। न ह्युपादानोपादेययोरत्यन्तसाजात्यम्, तन्तुपटयोरपि तन्तुत्वपटत्वादिना वैजात्यात्। यत्किञ्चित्साजात्यस्य मायाया अनिवर्चनीयत्वस्य घटाभावस्य च मिथ्यात्वधर्मस्य विद्यमानत्वात्। अन्यथा व्यावहारिकघटाद्यभावं प्रति कथं मायोपादानत्वमिति कुतो नाशङ्केथाः?

अनुवाद—अथवा तो प्रतियोगी (घट) वाले (स्थान में), उसका (घट का) अभावभ्रम अनिर्वचनीय ही है (ऐसा भी मान लीजिए) ऐसा मानने पर भी उस अभावभ्रम का उपादान कारण तो माया ही रहेगा। ऐसा कोई नियम नहीं है कि उपादान और उपादेय के (कारण और कार्य के) बीच में अत्यन्त साजात्य (सादृश्य) होना ही चाहिए (कि जिससे आप ऊपर की शंका कर सकें ।) तन्तु और पट में भी तन्तुत्व और पटत्व रूप से वैजत्य-वैलक्षण्य दोनों में दीखता ही है, जो कुछ थोड़ा-बहुत वहाँ '(कार्य कारण में) साजात्य (सादृश्य) दीखता है, वह माया के अनिर्वचनीयत्व और घटाभाव के मिथ्यात्व में है ही। ऐसा अगर न हो, तब तो व्यावहारिक घटाभाव के प्रति माया का उपादानकारणत्व कैसे हो सकता है, ऐसी शंका आप क्यों नहीं करते? (आपको ऐसी शंका करनी चाहिए थी) ।

विमर्श—घटरूप प्रतियोगी वाले भूतल में जब घटाभाव का भ्रम होता है, तो ऐसे स्थल में उस घटाभावभ्रम को अनिर्वचनीय मानने में हमारा कोई विरोध नहीं है—ऐसा दूसरा समाधान वेदान्ती दे रहे हैं। और उस भ्रमात्मक घटाभाव का उपादानकारण माया ही है। कार्य और कारण में अत्यन्त सादृश्य हो, ऐसा नियम नहीं है कि जिससे भावरूप माया से घट-अभाव रूप भ्रम न हो सके। तन्तु और पट में कार्यकारणभाव होते हुए भी तन्तुत्व और परत्व जैसा वैलक्षण्य देखा जाता है। हाँ, दोनों में थोड़ा-बहुत साजात्य (साम्य) होता है, और वह तो माया और उसके कार्य अनिर्वचनीय घटाभाव में मिथ्यात्व रूप से विद्यमान ही है। 'यदि घट के भ्रमात्मक अभाव का कारण भावरूप माया नहीं होती, तो व्यावहारिक घटाभाव के प्रति भी माया कैसे कारण हो सकती है?''—ऐसी शंका आपको करनी चाहिए थी वह तो आपने कभी नहीं की ।

न च विजातीययोरप्युपादानोपादेयभावे ब्रह्मैव जगदुपादानं स्यादिति वाच्यम्। प्रपञ्च-विभ्रमाधिष्ठानत्वरूपेण तस्येष्टत्वात्। परिणामिनित्वरूपोपादानरूपस्योपादानत्वस्य निरवयवे ब्रह्मण्यनुपपत्तेः। तथा च प्रपञ्चस्य परिणाम्युपादानं माया, न ब्रह्म इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

अनुवाद—ऐसी तो यहाँ शंका करनी नहीं चाहिए कि ''कार्यकारण-उपादान और उपादेय जब विजातीय—असमान हों तब तो ब्रह्म (जो जगत् का विजातीय है) ही जगत् का उपादान होगा ।'' क्योंकि प्रपंच (जगत्) रूप भ्रम के अधिष्ठान के रूप में तो हम ब्रह्म को जगत् का उपादान मानते ही हैं, वह हमें अभीष्ट ही है। हाँ, परिणामिनित्यत्वरूप उपादानत्व निरवयव ब्रह्म में सिद्ध नहीं होता। इसलिए प्रपञ्च का (जगत् का) परिणामी नित्य रूप उपादानकारण माया है, ब्रह्म नहीं है, ऐसा सिद्धान्त है। अब इस बात को ज्यादा विस्तार से निरूपित करने की आवश्यकता नहीं ।

विमर्श—शंका है कि जब कार्यकारण में वैजात्य-असादृश्य ही होता है ऐसा वेदान्ती ने मान ही लिया तब तो इस जगत् का उपादान कारण ब्रह्म ही हुआ तो सजातीय

माया के बदले, जगत् से बिल्कुल विजातीय-विलक्षण ब्रह्म को ही क्यों नहीं मान लेते?—इस शंका का उत्तर देते हुए वेदान्ती कहते हैं कि प्रपंचभ्रम (जगत्) के अधिष्ठानरूप में विवर्तोपादान के रूप में तो हम ब्रह्म को मानते ही हैं, हम उसे परिणामी उपादान नहीं मानते, क्योंकि वह निरवयव है, इसलिए उसमें विकार संभव नहीं है। प्रपञ्च का परिणामी उपादानकारण माया है, और विवर्तोपादानकारण ब्रह्म है। बस, इतना ही कहना पर्याप्त है ।

स अभावश्चतुर्विधः प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चेति। तत्र मृत्पिण्डादौ कारणे कार्यस्य घटादेरुत्पत्तेः पूर्वं योऽभावः स प्रागभावः। स च भविष्यतीति प्रतीतिविषयः। तत्रैव घटस्य मुद्गरपातानन्तरं योऽभावः स प्रध्वंसाभावः ध्वंसस्यापि स्वाधिकरणकपालनाशे नाश एव। न चैवं घटोन्मज्जनापत्तिः, घटध्वंसध्वंसयापि घटप्रतियोगिकध्वंसत्वात्। अन्यथा प्रागभावध्वंसात्मक-घटस्य विनाशे प्रागभावोन्मज्जनापत्तिः।

अनुवाद—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव—इस प्रकार के भेदों से वह अभाव चार प्रकार का है। उनमें से मृत्पिण्डरूप कारण से कार्यरूप घट की उत्पत्ति नहीं हुई है, तब जो घड़े का अभाव होता है, वह प्रागभाव कहलाता है। वह (घड़ा) 'होगा' ऐसी प्रतीति का विषय है । और फिर वहीं उस बने हुए घड़े का दण्डा मारने के बाद जो नाश होता है अभाव होता है, उसे (घड़े का) प्रध्वसंसाभाव कहा जाता है। उस प्रध्वंसाभाव का भी उसके अधिकरणरूप कपाल आदि के नाश से नाश (अभाव) होता ही है। (इस प्रकार) ध्वसं का ध्वंस होने पर फिर से घड़े की उत्पत्ति की नौबत नहीं आएगी; क्योंकि जैसे घटध्वंस का प्रतियोगी घट माना गया है, वैसे ही घटध्वंसध्वंस का प्रतियोगी भी घट ही माना गया है। अगर ऐसा नहीं मानेंगे तब तो प्रागभाव का ध्वसंरूप जो घड़ा उत्पन्न हुआ है, उसके ध्वंस (नाश) होने पर फिर से घड़े का प्रागभाव उत्पन्न हो जायगा ।

विमर्श—यों तो मूल की सब बातें स्पष्ट ही हैं। मात्र इतना कहना है कि नैयायिकों ने प्रध्वंसाभाव का लक्षण, ''सादिरनन्तः प्रध्वंसाभावः''—ऐसा किया है पर वेदान्ती प्रध्वंसाभाव को अनन्त नहीं मानते। डण्डे के प्रहार से घड़े के किए जाने वाले नाश को प्रध्वंसाभाव कहते हैं। पर उस प्रध्वंस का भी प्रध्वंस घड़े के साथ समवाय सम्बन्ध से जुड़े हुए कपालादि के नाश से हो जाता है, इसलिए प्रध्वंसाभाव नैयायिकाभिमत **'अनन्त'** नहीं है। लेकिन ध्वसं के ध्वसं से पूर्व ध्वस्त वस्तु का पुनरुत्थान नहीं हो जाता। क्योंकि ऐसा मानने पर तो प्रागभाव के ध्वसं से उत्पन्न हुए घड़े के ध्वंस से प्रागभाव का फिर से उत्थान मानना पड़ेगा। वह तो किसी को अभीष्ट नहीं है ।

न चैवमपि यत्र ध्वंसाधिकरणं नित्यं तत्र कथं ध्वंसनाश इति वाच्यम्। तादृशाधिकरणं यदि चैतन्यव्यतिरिक्तं, तदा तस्य नित्यत्वमसिद्धम्, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य ब्रह्मज्ञान-निर्वर्त्यताया वक्ष्यमाणत्वात्। यदि च ध्वंसाधिकरणं चैतन्यं, तदाऽसिद्धिः। आरोपित-प्रतियोगिकध्वंसस्याधिष्ठाने प्रतीयमानस्याधिष्ठानमात्रत्वात्। तदुक्तम् –

'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः, इति। एवं शुक्तिरूप्य-विनाशोऽपीदमवच्छिन्नं चैतन्यमेव।

अनुवाद—ऐसा मानने पर भी जहाँ ध्वंस का अधिकरण नित्य है, वहाँ तो ध्वंस का नाश कैसे होगा?—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि ऐसा अधिकरण अगर (ध्वंस का वह अधिकरण) चैतन्य से भिन्न है, तब तो उसका (अधिकरण का) नित्यत्व सिद्ध ही नहीं है। क्योंकि ब्रह्म से भिन्न सकल वस्तु ब्रह्मज्ञान से बाधित (निवृत्त) होती हैं, ऐसा हम आगे प्रतिपादित करेंगे और अगर ध्वंस का अधिकरण चैतन्य ही है, ऐसा मानेंगे तब तो चैतन्य से भिन्न तो कोई नित्यत्व है ही नहीं। क्योंकि जिसका प्रतियोगी आरोपित ही है, ऐसे (आरोपित अभावप्रतियोगी वाले) ध्वंस को अधिष्ठान में रहा हुआ जानेंगे तब तो मात्र अधिष्ठान का ही वह भान होगा (तद्गत आरोपित प्रतियोगी का नहीं)। इस बात को पूर्णसूरियों ने भी कहा है कि, ''कल्पित वस्तु के नाश होने पर (अभाव होने पर) मात्र अधिष्ठान ही अवशिष्ट (वाकी) रह जाता है। इस तरह शुक्ति रूप्य का विनाश भी 'इदम्' से अवच्छिन्न चैतन्यरूप ही है।

विमर्श—ध्वंसाधिकरण में नित्यत्व और अनित्यत्व के दो विकल्पों की कल्पना की है चैतन्यातिरिक्त कोई पदार्थ नित्य नहीं होने से ध्वंसाधिकरण नित्य नहीं हो सकता और चैतन्य को ही ध्वंसाधिकरण मानने से ऐसे नित्य अधिष्ठान में आरोपण किसी भी प्रतियोगी की सत्ता अधिकरण के सिवा—अधिकरण से अलग—नहीं होती। बाकी सब स्पष्ट ही है।

यत्राधिकरणे यस्य कालत्रयेऽप्यभावः, सोऽत्यन्ताभावः। यथा वायौ रूपात्यन्ताभावः। सोऽपि घटादिवद् ध्वंसप्रतियोग्येव। इदमिदं नेति प्रतीतिविषयोऽन्योऽन्याभावः। अयमेव विभागो भेदः पृथक्त्वं चेति व्यवह्रियते। भेदातिरिक्तविभागादौ प्रमाणाभावात्। अयं चान्योऽन्याभावोऽधिकरणस्य सादित्वे सादिः, यथा घटे पटभेदः। अधिकरणस्यानादित्वेऽनादिरेव। यथा जीवे ब्रह्मभेदः, ब्रह्माणि च जीवभेदः। द्विविधोऽपि भेदो ध्वंसप्रतियोग्येव। अविद्याया निवृत्तौ तत्परतन्त्राणां निवृत्त्यवश्यम्भावात्।

अनुवाद—जिस अधिकरण में जिसका तीनों काल में अभाव हो, ऐसे अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे कि वायु में रूप का अत्यन्ताभाव है। वह अत्यन्ताभाव भी घटादि की तरह ध्वंस का प्रतियोगी है (अर्थात् अत्यन्ताभाव का भी ध्वंस—नाश—होता ही है। 'यह वह नहीं है'—ऐसा प्रतीति का विषय अन्योन्याभाव कहलाता है। इसी को विभाग, भेद, पृथक्त्व आदि भी कहते हैं। भेद के सिवा विभाग आदि को मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। यह अन्योन्याभाव भी, जब उसका अधिकरण सादि हो, तब सादि (उत्पत्ति वाला) होता है। जैसे घट से पट का भेद आदि है। और जब उसका अधिकरण अनादि (उत्पत्तिरहित) होता है, तब तह अनादि होता है, जैसे जीव में ब्रह्म का भेद, अथवा ब्रह्म में जीव का भेद। दोनों प्रकार का भेद भी ध्वंस का प्रतियोगी है। (अर्थात् दोनों प्रकार के भेदों का ध्वंस हो सकता है ।) अनन्त नहीं हैं, क्योंकि मूलाविद्या की निवृत्ति हो जाने पर उसके अधीन रहने वाली भेदों की निवृत्ति होना तो अवश्यंभावी ही है ।

विमर्श—अत्यन्ताभाव को नैयायिक नित्य मानते हैं, पर परिभाषाकार को वह अभीष्ट नहीं। क्योंकि रूपात्यन्ताभाव के अधिकरण वायु का भी महाप्रलयकाल में नाश होता ही है। अतः अधिकरणनाश से तन्निष्ट अत्यन्ताभाव का भी नाश मानना ही होगा। अर्थात् अत्यन्ताभाप की घटादि के समान ध्वंसप्रतियोगी ही है। जहाँ पर अनुयोगी सप्तम्यन्त और प्रतियोगी प्रथमान्त हो वहाँ नकार का अर्थ अत्यन्ताभाव होता है, परन्तु जहाँ अनुयोगी और प्रतियोगी दोनों प्रथमान्त हो, वहाँ नकार का अर्थ अन्योन्याभाव होता है। वेदान्त के मत में अन्योन्याभाव में ही नैयायिकों ने अलग गुणों के रूप में माने हुए विभाग तथा पृथक्त्व का अन्तर्भाव हो जाता है, उन्हें अलग गुणों के रूप में मानना योग्य नहीं है,क्योंकि उसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। अधिकरण के सादित्व और अनादित्व से अन्योन्याभाव भी क्रमशः सादि और अनादि होता है। घट-पट का अन्योन्याभाव सादि है क्योंकि उसका अधिकरण सादि है, पर जीव-ब्रह्म या ब्रह्म-जीव का अन्योन्याभाव अनादि है, क्योंकि उसका अधिकरण अनादि है। पर वे दोनों ध्वंसप्रतियोगी ही हैं—दोनों का ध्वंस हो सकता है, क्योंकि दोनों के अधिकरणों का नाश हो सकता है। सादि का ध्वंस तो घट के नाश होने पर स्पष्ट है, अनादि का नाश भी ब्रह्मज्ञान से मूलाविद्या का नाश होने पर हो ही जाता है ।

पुनरपि भेदो द्विविधः–सोपाधिको निरुपाधिकश्चेति । तत्रोपाधिसत्ताव्याप्यसत्ताकत्वं सोपधिकत्वम्, तच्छून्यं निरुपाधिकत्वम् । तत्राद्यो यथा–एकस्यैवाकाशस्य घटाद्युपाधिभेदेन भेदः । यथा वा एकस्यैव सूर्यस्य जलभाजनभेदेन भेदः। यथा वा एकस्यैव ब्रह्मणोऽन्तःकरणभेदाद्भेदः । निरुपाधिकभेदो यथा घटे पटभेदः । न च ब्रह्मण्यपि प्रपञ्चभेदाभ्युपगमेऽद्वैतविरोधः । तात्त्विकभेदादेरनभ्युपगमेन

वियदादिवदद्वैताव्याघातकत्वात्। प्रपञ्चस्याद्वैते ब्रह्मणि कल्पितत्वाङ्गीकारात्। तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः-

अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने ।
किन्न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम् ॥

अनुवाद—और भी वह भेद (अन्योन्याभाव) सोपाधिक और निरुपाधिक रूप से दो प्रकार का होता है। उन दोनों में से जिस भेद की सत्ता, उपाधि की सत्ता से व्याप्य हो अर्थात् **उपाधि** व्यापक और भेदसत्ता व्याप्य हो) वह 'सोपाधिक भेद' कहा जाता है। और ऐसी सत्ता से रहित जो भेद है, वह निरुपाधिक कहलाता है। जिस तरह एक ही आकाश का घटादि उपाधियों से जो भेद होता है—(जैसे घटाकाश महाकाश नहीं है), अथवा तो एक ही सूर्य का पात्रों के भेद से जो भेद होता है, यह सोपाधिक भेद है। इसी प्रकार एक ही ब्रह्म का अन्तःकरण से जो भेद होता है, वह भी सोपाधिक भेद ही है और निरुपाधिक भेद घट से जो पट का भेद है, वह है। यहाँ पर ऐसी शंका करना उचित नहीं है कि "अगर ब्रह्म में प्रपञ्च भेद का (संसार से भेद का) स्वीकार करेंगे, तब तो उसका अद्वैत के साथ विरोध हो जायगा ।" क्योंकि हमने तात्त्विक—पारमार्थिक—भेद आदि का स्वीकार नहीं किया है। इसलिए आकाशादि के समान वह (उपाधिगत **कल्पित भेद** अद्वैत का व्याघातक नहीं है। क्योंकि अद्वैतब्रह्म में यह प्रपञ्च (जगत्) कल्पित ही है', यह हमारा सिद्धान्त है। इसीलिए सुरेश्वराचार्य ने कहा कि "(ब्रह्म में) (मुमुक्षुत्व आदि) साधकत्व की कल्पना में आपको असहिष्णुता क्यों हो रही है? क्या उसी (ब्रह्म) में अज्ञान से कल्पित संपूर्ण संसार को आप नहीं देख पाते?"

विमर्श—घटाकाश-महाकाश आदि का भेद वहीं तक टिक सकता है। जब तक घट और मठ की उपाधियाँ हों। उपाधियाँ व्यापक और भेदसत्ता व्याप्य हैं। उपाधिगत व्यापकता—नियामकता—के हटते ही भेदगत व्याप्यता की कोई सत्ता नहीं रहेगी। यह सोपाधिक भेद है। पात्रगत भेद से जैसे आकाशस्थ एक ही सूर्य में भेद दीखता है, ठीक उसी प्रकार एक ही ब्रह्म में अन्तःकरण के भेद से भेद दीखता है। यहाँ भी ब्रह्म में भेद का प्रयोजक—नियामक—अन्तःकरणरूप उपाधि ही है। इस भेद के हटते ही ब्रह्म में दिखाई देने वाला भेद चला जायगा। ऐसे भेद में उपाधि अपेक्षित है। परन्तु जिस भेद में उपाधि नहीं होती ऐसे उपाधिनिरपेक्ष भेद को निरुपाधिक कहते हैं। घट में पट का और पट में घट का भेद ऐसा निरुपाधिक भेद है। ब्रह्म में प्रपंच का भेद मानने से अद्वैत सिद्धान्त की हानि इसलिए नहीं होती कि वह भेद कल्पित ही है। वास्तविक नहीं है जैसे उपाधि कल्पित है, वैसे उससे किया गया भेद भी तो कल्पित ही है। परिभाषाकार ने इसके लिए सुरेश्वराचार्य की साक्षी भी दी है ।

अत एव विवरणेऽविद्यानुमाने प्रागभावव्यतिरिक्तत्वविशेषणं,

तत्त्वप्रदीपिकायामविद्यालक्षणे भावत्वविशेषणं च सङ्गच्छते। एवं चतुर्विधाभावानां योग्यानुपलब्ध्या प्रतीतिः। तत्रानुपलब्धिर्मानान्तरम् ।

अनुवाद—इसीलिए (चार प्रकार के अभाव का स्वीकार करने के कारण से ही) विवरण में अविद्या के लक्षण में 'प्रागभाव व्यतिरिक्त'—'प्रागभाव के सिवा'—ऐसा विशेषण जो दिया गया है, और तत्त्वप्रदीपिका में चित्सुखाचार्य ने जो 'भावत्व'—विशेषण दिया है, उसका ठीक मेल बैठ जाता है। इस प्रकार चार प्रकार के अभावों की योग्यानुपलब्धि द्वारा प्रतीति होती है। और इन अभावों की प्रतीति में अनुपलब्धि नामक अलग प्रमाण ही है ।

विमर्श—विवरण के अविद्यानुमान में 'प्रागभावव्यतिरिक्त' यह विशेषण दिया गया है इससे यह मालूम होता है कि विवरणाचार्य को प्रागभाव मान्य था। इसलिए चार प्रकार का अभाव पूर्वाचार्यों को भी मान्य था, ऐसा हम कर सकते हैं। इसी प्रकार चित्सुखाचार्य ने अपनी तत्त्वप्रदीपिका में (चित्सुखी में) अविद्या के लक्षण में कहा है कि, 'भावत्वे क्षति ज्ञाननिवर्त्यत्वमविद्यात्वम्'—अर्थात् "भावरूप होते हुए जो ज्ञान के द्वारा दूर की जा सके, वह अविद्या है ।" इस अविद्यालक्षण में अगर चित्सुखाचार्य अभाव को न मानते होते तो, 'अनादिभावरूपत्व' जैसा अविद्या का विशेषण अपने लक्षण में न जोड़ते। इन सारी बातों को ख्याल में रखते हुए हम कह सकते हैं कि चतुर्विध अभाव एक अलग पदार्थ ही है, और इस चतुर्विध अभाव की प्रतीति प्रत्यक्षादि अन्य किसी प्रमाण से नहीं होती। इसलिए योग्यानुपलब्धि ही अभावग्राहक स्वतंत्र प्रमाण है। इस प्रकार अनुपलब्धि छठा प्रमाण है, यह सिद्ध होता है ।

एवमुक्तानां प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते च । तथा हि स्मृत्यनुभव-साधारणं संवादि-प्रवृत्त्यनुकूलं तद्वति तत्प्रकारकज्ञानं प्रामाण्यम्। तच्च ज्ञान-सामान्य-सामग्री-प्रयोज्यं, न त्वधिकं गुणमपेक्षते, प्रमामात्रेऽनुगतगुणाभावात् । नापि प्रत्यक्षप्रमायां भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षः । रूपादिप्रत्यक्षे आत्मप्रत्यक्षे च तदभावात् सत्यपि तस्मिन् 'पीतः शङ्खः' इति प्रत्ययस्य भ्रमत्वाच्च ।

अत एव न सल्लिङ्गपरामर्शादिकमप्यनुमित्यादिप्रमायां गुणः, असल्लिङ्गपरामर्शादिस्थलेऽपि विषयाबाधेन अनुमित्यादेः प्रमात्वात् ।

अनुवाद—इस प्रकार प्रतिपादित (छहों) प्रमाओं का—यथार्थ ज्ञानों का—प्रामाण्य (सत्यता—वास्तविकता—स्वतः ही—अर्थात् उसी ज्ञान से—ही उत्पन्न होता है, और जाना भी जाता है। जिसका स्वरूप ऐसा है—यह प्रामाण्य (प्रमाओं की वास्तविकता) स्मृति और अनुभव दोनों ज्ञानों को लागू होता है; वह संवादि प्रवृत्ति के अनुकूल होता है और वह तद्वान् (उस धर्म वाले, पदार्थ में तत्प्रकारक (उस धर्मरूप विशेषण का)

ज्ञानरूप होता है। और यह प्रामाण्य ज्ञानसामान्य की सामग्री का ही कार्य है। (अपने प्रामाण्य के लिए प्रमा को) किसी अधिक गुण की अपेक्षा नहीं रहती। क्योंकि समस्त प्रमाणों में अनुमत रहने वाला कोई गुण नहीं है। प्रत्यक्षप्रमा में 'भूयोरवयवेन्द्रिय सन्निकर्ष' को कोई गुण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रूप के प्रत्यक्ष में तथा आत्मा के प्रत्यक्ष में उसका (भूयोऽवयवेन्द्रिय सन्निकर्ष रूप गुण का) अभाव ही रहता है और उस गुण (पुष्कल अवयवों के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष रूप गुण) के रहते हुए भी 'पीतः शंखः'—'शंख पीला है' ऐसा ज्ञान भ्रमरूप ही तो होता है। इसी प्रकार अनुमित्यादि प्रमाओं में भी सल्लिंगपरामर्शादि को कोई गुण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सल्लिंगपरामर्श जहाँ नहीं रहता, वहाँ भी अनुभव विषय का बाध नहीं होता, और यहाँ भी अनुमित्यादि ज्ञानों में (प्रमाओं में) प्रमात्व (सत्यता-वास्तविकता) तो रहता ही है ।

विमर्श—वेदान्त के माने हुए छः प्रमाणों से छः प्रकार की प्रमाएँ उत्पन्न होती हैं। ये प्रमाएँ यथार्थ—सतय—वास्तविक हैं कि अयथार्थ—असत्य—अवास्तविक अर्थात् भ्रमरूप है?—इस बात को जानने के लिए क्या साधन है? इस विषय में शास्त्रकारों में बड़ा मतभेद है। वेदान्ती कहते हैं कि ज्ञान की सत्यता परखने के लिए किसी अन्य साधन की अपेक्षा ही नहीं। ज्ञान-प्रमा—स्वयं ही अपनी सत्यता—वास्तविकता—प्रामाण्य बताती है और प्रमा का वह यथार्थत्व (सत्यत्व-प्रामाण्य) जाना भी जाता) है, प्रमा के प्रामाण्य की परख के लिए किसी बाह्य चीज (अन्य वस्तु) की आवश्यकता नहीं ।

लेकिन नैयायिक लोग इस मत के घोर विरोधी हैं। इस विषय में इन दोनों के बीच अरसे से बहुत बड़ा विवाद आज तक चला आ रहा है। नैयायिकों का कहना है कि प्रमा का यथार्थत्व (सत्यत्व) परखने के लिए अन्य साधन की आवश्यकता है ही। ज्ञानसामान्य की सामग्री मात्र से तो ज्ञान मात्र उत्पन्न होता है, ज्ञान का प्रामाण्य नहीं। ज्ञानसामान्य की सामग्री मात्र से ज्ञान के साथ ज्ञान का प्रामाण्य भी अगर उत्पन्न हो जाता, तब तो ऐसे ज्ञान में कभी संशय ही नहीं होता। इसलिए नैयायिक लोग ज्ञान की (प्रमा की) वास्तविकता के परीक्षण के लिए प्रस्तुत प्रमाण से अलग अनुमान प्रमाण का आश्रय लेते हैं, इस तरह ज्ञानप्रामाण्य अनुमानरूप 'परप्रमाण' से ही ग्राह्य होने के कारण परतोग्राह्य-परतः ही है, स्वतोग्राह्य-स्वतः नहीं है ।

नैयायिकों का वह प्रामाण्यग्राहक अनुमान इस तरह का है—'दूरस्थित पदार्थ का हमें जलरूप में हुआ ज्ञान प्रमा (यथार्थ) है, क्योंकि वह सफलप्रवृत्ति का जनक है ।'' (अर्थात् 'जल' है ऐसा पूर्वज्ञान, बाद की (जल मिलने की) प्रवृत्ति से सही (यथार्थ) साबित हुआ व्यतिरेक में जैसे पूर्व में शुक्ति में हुआ रजतज्ञान, बाद की रजत न मिलने को प्रवृत्ति से सही—यथार्थ साबित नहीं हो सका था। जलज्ञान सफलप्रवृत्तिजनक होने से यथार्थ—प्रामाण्यवाला होना चाहिए—इस अनुमानप्रसाण रूप अलग गुण से ही पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय नैयायिक करते हैं, अर्थात् प्रमाओं का प्रामाण्य परतः है, ऐसा डंके के साथ कहते हैं ।

नैयायिकों के द्वारा खड़े किए गए इस ऊहापोह का उत्तर अब वेदान्ती को देना है। वेदान्ती कहते हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि छहों प्रमाओं का प्रामाण्य—सत्यत्व (यथार्थ) स्वतः एव—स्वयम् एव—अर्थात् उसी ज्ञान की सामग्री मात्र से ही उत्पन्न हो जाता है और जाना भी जाता है, प्रामाण्य के लिए किसी अन्य गुण की आवश्कता नहीं रहती ।

यह स्वतः प्रामाण्य कैसे उत्पन्न होता है, यह बताते हुए वेदान्ती कहते हैं कि हमने प्रत्यक्ष परिच्छेद में ज्ञान (प्रमा) का लक्षण 'अबाधितविषयज्ञानत्व'—ऐसा बताया है इसमें अनुभव और स्मृति ज्ञान—दोनों का समावेश किया है। ऐसे ज्ञान का प्रामाण्य 'तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्व रूप है। अब इस प्रमाण्य का लक्षण ठीक से समझें—'तद्वति यहाँ तत् पद क अर्थ ज्ञान का विशेणरूप धर्म होता है, जैसे 'यह घट है' इस ज्ञान में घट विशेष्य है, और उसका ज्ञान 'घटत्व' धर्म से हो राह है, इसलिए इस घटज्ञान में घटत्व विशेषण और घट विशेष्य है। विशेषण को प्रकार भी कहा जाता है। तत् पद का अर्थ विशेषण है। अतः पूरे लक्षण का अर्थ यह हुआ कि, "घटत्व वाले पदार्थ में, 'यह घट है'—इत्याकारक—घटत्वप्रकारक ज्ञान होना ही घटप्रमा का प्रामाण्य है। दूसरा उदाहरण रजतत्व धर्मवाले रजत को रजत रूप में जानना प्रमा की सच्चाई है। जैसे घटत्वप्रकारक और घटविशेष्यक ज्ञान प्रमा है, वैसे ही रजतत्व प्रकारक रजतविशेष्यक ज्ञान भी प्रमा है, यह 'तद्वति तत्प्रकारताज्ञानं प्रामाण्यम्' इस लक्षण का तत्पर्य है। (तद्वति=उस धर्म वाले में, तत्प्रकारक के, वह धर्म विशेषण है ऐसा ज्ञान प्रामाण्य है।

पूर्वोक्त प्रामाण्य लक्षण का प्रत्येक शब्द अपना महत्त्व रखता है। जैसे 'यह घट मुझे चाहिए'—ऐसी इच्छा में भी घटत्ववान घट में घटप्रकारकता ही तो है, इसमें प्रामाण्य न चला जाए—अतिव्यापि न हो, इसलिए लक्षण में 'ज्ञानत्व' पद दिया है। केवल 'तत्प्रकारकज्ञानत्व' कहने से भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति होगी, इसलिए 'तद्वति' पद दिया गया है। ज्ञान में इस प्रकार का प्रामाण्य होने पर ही उसका इच्छुक पुरुष उसके लिए प्रवृत्ति करता है, तो उसकी वह प्रवृत्ति संवादी-सफल होती है। इसलिए ऐसा प्रामाण्य संवादी प्रवृत्ति के लिए अनुकूल होता है, पर वह उत्पन्न तो स्वयं—अपने आप ही होता है ।

यहाँ स्वयं (स्वतः) का अर्थ ध्यान देने योग्य है। क्योंकि इसका अर्थ बिना समझे गड़बड़ी हो सकती है। यहाँ '**स्वतः** का अर्थ, 'जिस सामग्री से ज्ञान होता हो उसी सामग्री से'—ऐसा होता है। सामन्य रूप से हम जैसा अर्थ करते हैं, ऐसा नहीं। नैयायिक लोग ऐसे केवलज्ञानजनक सामग्री से ही प्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं मानते। वे उससे भिन्न सामग्री मानते हैं। पर वेदान्ती ऐसा किसी भी अन्य—भिन्न—सामग्री—गुण को प्रामाण्योत्पादक नहीं मानते। वे कहते हैं कि समस्त ज्ञान में अनुगत रहने वाला ऐसा कोई भी प्रामाण्यजनक गुण नहीं है ।

नैयायिकों ने प्रमाओं में ज्ञानजनक सामग्री से भिन्न सामग्री के रूप में प्रत्यक्ष प्रमा में 'भूयोऽवचनेन्द्रिय सन्निकर्ष' को प्रामाण्यजनक गुण माना है और अनुमिति प्रमा में 'सल्लिंग परामर्श' को ज्ञानजनक सामग्री से भिन्न प्रामाण्यजनक गुण के रूप में माना है ।

पर वेदान्ती को ये दोनों ज्ञानजनक सामग्री से भिन्न प्रामाण्यजनक गुण मान्य नहीं है। इसलिए यहाँ पर दोनों का खण्डन कर दिया है। जैसे—

'भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्ष' रूप ज्ञानजनक सामग्री से भिन्न गुण तो प्रामाण्यजनक नहीं हो सकता, क्योंकि वह दूषित—व्यभिचारी है रूप में तो अवयव नहीं होते, अतः निरवयव रूप के साथ चक्षु आदि इन्द्रियों का भूयः पुष्कल-बहुत-सन्निकर्ष तो असंभव ही है, फिर भी रूप आदि का प्रत्यक्ष तो होता ही है, और वह प्रामाण्य रूप वास्ताविक ही है। इसी में दूसरा उदाहरण आत्मा का है। आत्मा भी निरवयव है। इसमें भी 'भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्ष' रूप उस गुण का होना असंभव ही है, फिर भी आत्मा को मानस प्रत्यक्ष माना गया है। और वह भी प्रामाण्यज्ञान माना गया है ।

और भूयोऽवयवेन्द्रयसन्निकर्ष के रहते हुए भी तो प्रमाणभूत प्रमा—प्रमा का प्रामाण्य कभी कभी नहीं देखा जाता। जैसे जिस व्यक्ति को पीलिया हो जाता है, उसे सभी पदार्थ पीले ही दिखाई देते हैं। शंख तो सफेद ही होता है, फिर भी उस रोगी को वह पीला ही मालूम होता है । कहाँ पर भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्ष तो है—शंख के भूयः—अधिक (पुष्कल) अवयवों के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष तो है ही, फिर भी वह प्रामाण्यज्ञान नहीं कहा जा सकता—ज्ञान में प्रामाण्य उत्पन्न नहीं होता। इस तरह ज्ञानजनक सामग्री से भिन्न ऐसे किसी गुण को प्रामाण्य-जनक नहीं कहा जा सकता ।

इसी प्रकार अनुमिति प्रमा में भी नैयायिक लोग व्याप्तिज्ञानरूप ज्ञानसामग्री के अतिरिक्त लिंगपरामर्शरूप गुण को मानते हैं। व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान को परामर्श (सल्लिंग परामर्श) कहते हैं। व्याप्तिज्ञान के साथ पक्षधर्मता का ज्ञान भी वे अतिरिक्त गुण के रूप में अनुमिति के प्रामाण्य के लिए मानते हैं। अर्थात् 'पर्व तो वह्निमान् 'इस अनुमिति में 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इस प्रकार पर्वत का पक्षधर्मता का गुणज्ञान (ग्राहक सामग्री से पृथक् गुण) वे मानते है ।

पर ऐसा लिंग परामर्श भी अनुमिति की ज्ञानसामान्य सामग्री से अतिरिक्त गुण नहीं माना जा सकता। क्योंकि कहीं कहीं धूल में भी 'यह धूम है'—इत्याकारक ज्ञान होता है। वहाँ पर यदि काकतालीय न्याय से अग्नि हुआ, तो वहाँ अल्लिङ्गपरामर्श तो है ही 'वह्निव्याप्य धूमवदिदं स्थलम्' ऐसा लिंग परामर्श तो है ही, पर वहाँ अनुमिति में प्रामाण्य नहीं है, अनुमिति भ्रमात्मक ही है। इसलिए सल्लिंगपरामर्श को पृथक गुण (उपकारक) नहीं माना जा सकता। इस प्रकार किसी भी प्रमाण में अनुगत रहने वाला कोई एक गुण तो है ही नहीं और विशेष प्रमा में विशेषगुण भी कोई नहीं है। इसलिए प्रामाण्य स्वतः—जिस सामग्री से ज्ञान होता है उसी समाग्री से उत्पन्न होता है। ज्ञानजनक सामग्री ही प्रामाण्य की जनक है ।

न चैवमप्रमाऽपि प्रमा स्यात्। ज्ञानसामान्यसामग्र्या अविशेषादिति वाच्यम्। दोषाभावस्यापि हेतुत्वाङ्गीकारात्। न चैवं परतस्त्वमिति वाच्यम्। आगन्तुक-भावकारणापेक्षायामेव परतस्त्वात्।

अनुवाद—(यदि ज्ञानजनक सामग्री को ही प्रामाण्योत्पादक सामग्री मान लिया जाए तो) इस तरह तो अप्रमा (भ्रमज्ञान) भी प्रमा (वास्तविक यथार्थ ज्ञान) हो जाएगी। क्योंकि (उस भ्रमस्थल मं भी) ज्ञानसामान्य की सामग्री में कोई फ़र्क नहीं है (एक ही प्रकार की है) —यह कहना उचित नहीं है क्योंकि हमने हेतु के रूप में दोषाभाव को भी स्वीकार किया है। यहाँ ऐसा भी प्रश्न उठाना जाना योग्य नहीं है कि (दोषाभाव रूप हेतु तो प्रामाण्य- जनक ज्ञानसामग्री से अलग गुण हुआ, इसलिए फिर से परतस्त्व आ पड़ा। क्योंकि आगन्तुक भावरूप कारण की अपेक्षा होने पर ही परतस्त्व प्राप्त होता है।

विमर्श—भ्रम स्थल में भी, ज्ञानसामान्यसामग्री तो एक सी है, इसलिए भ्रम भी प्रमा हो जायगा, ऐसी शंका के समाधान में 'दोषाभावत्व' और विशेषण जोड़ दिया। पर विशेषण अभावात्मक होने से कोई दोष नहीं है। आगन्तुक भाव का कारण ही दोषरूप है, ऐसा तात्पर्य है, बाकी सब स्पष्ट ही है।

ज्ञायते च प्रामाण्यं स्वतः। स्वतोग्राह्यत्वं च दोषाभावे सति यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वम्। स्वाश्रयो वृत्तिज्ञानम् तद्ग्राहकं साक्षिज्ञानं तेनापि वृत्तिज्ञाने गृह्यमाणे तद्गतं प्रामाण्यं गृह्यते। न चैवं प्रामाण्यसंशयानुपपत्तिः। तत्र संशयानुरोधेन दोषस्यापि सत्त्वेन दोषभाव-घटितस्वाश्रयग्राहकाभावेन तत्र प्रामाण्यस्यैवाग्रहात्।

अनुवाद—और वह प्रामाण्य स्वतः एव जाना भी जाता है। स्वतोग्राह्यत्व का अर्थ है कि जो दोष के न रहते हुए समस्त स्वाश्रयग्राहक (प्रमाग्राहक) सामग्री द्वारा ग्राह्य हो। (सभी प्रमाग्राहक सामग्री से जाना जा सकता हो।) यहाँ स्वाश्रय का अर्थ वृत्तिज्ञान है। (प्रामाण्य का आश्रय प्रमा और प्रमा वृत्तिज्ञान ही है।) इस वृत्तिज्ञान का ग्राहक साक्षिज्ञान है। उस साक्षिज्ञान के द्वारा जब वृत्तिज्ञान ग्रहण किया जाता है, तब उसके साथ ही वृत्ति ज्ञानका प्रामाण्य भी जाना जा सकता है। यहाँ ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इस रीति से प्रामाण्य को स्वतोग्राह्य मानने पर तो प्रामाण्यविषयक संशयकी अनुपपत्ति होगी। क्योंकि वहाँ संशयस्थल में संशय के अनुरोध से दोष का भी मानना पडेगा और इसलिए वहाँ तो दोषाभाव से घटित ऐसा स्वाश्रय ग्राहक का अभाव होने से प्रामाण्य का अभाव ही होगा।

विमर्श—जैसे प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः—ज्ञानग्राहक सामग्री से ही—होती है, उसी प्रकार उसका ज्ञान भी दोष न होने पर स्वतः—स्वतोग्राह्य होता है। जो सभी स्वाश्रयग्राहक सामग्री से ग्राह्य होता है वही स्वतोग्राह्य है। आशय यह है कि स्व=प्रामाण्य, उसका आश्रय—आधार—अधिकरण वृत्तिज्ञान है। उन समस्त वृत्तिज्ञानों का ग्राहक (ज्ञापक) साक्षिज्ञान ही है। अत साक्षिज्ञान ही स्वाश्रयग्राहक सामग्री है। वही प्रमातृचैतन्य

है इसके द्वारा जब वृत्तिज्ञानरूप प्रमा जानी जाती है। तभी उनमें से हुए प्रमात्व या प्रामाण्य का ज्ञान होता है। इस तरह दोष न होने पर प्रामाण्य का ज्ञान स्वतः—स्वाश्रयग्राहक सामग्री से—ही होता है ।

वृत्तिज्ञान तो भ्रम और प्रमा—दोनों में रहता है और उसका ग्राहक साक्षी चैतन्य भी दोनों स्थलों में समान है परन्तु वह स्वाश्रयग्राहक दोषाभाव से घटित होना चाहिए, ऐसा हम मानते हैं। भ्रम में 'दोषाभावघटित स्वाश्रयग्राहकत्व' नहीं है। अतः कोई दोष नहीं है । इस प्रकार, 'दोषाभाव से युक्त स्वाश्रयग्राहक सामग्री से ग्राह्यत्व (जाना जा सकता) स्वतोग्राह्यत्व का परिमार्जित लक्षण हुआ ।

यद्वा यावत्स्वाश्रयग्राह्यत्वयोग्यत्वं स्वतस्त्वम्। संशयस्थले प्रामाण्यस्योक्तयोग्यतासत्त्वेऽपि दोषवशेनाग्रहात् न संशयानुपपत्तिः ।

अनुवाद—अथवा तो सभी स्वाश्रय का ग्राहक जो साक्षिज्ञान है, उसके द्वारा ग्राह्य (ज्ञान होने योग्य होता ही स्वतस्त्व का लक्षण करना चाहिए। ऐसा योग्यता संशय स्थल के प्रामाण्य में भी है परन्तु दोष के कारण उसका ज्ञान नहीं होता। इस कारण से संशय की कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

विमर्श—पहले स्वतोग्राह्यत्व के लक्षण में दोषाभाव का विशेषण देकर लक्षण बनाया था अब यदि दोषाभाव के विशेषण को दूर करके भी लक्षण बनाया जा सकता है, और उससे संशय की उपपत्ति भी हो सकती है। वह लक्षण इस प्रकार है;— "यावत्स्वाश्रय ग्राह्यत्वयोग्यत्वं स्वतस्त्वम् ।" ऐसा योग्यत्वयुक्त लक्षण कर देने से संशय उत्पन्न हो सकेगा। ज्ञान ग्राहकसामग्रीरूप जो साक्षीज्ञान है, इसके द्वारा प्रामाण्य ज्ञान चाहे हो या न हो, पर ऐसा प्रामाण्य बोध हाने की अगर योग्यता हो तो हम वहाँ स्वतोग्राह्यत्व मानते हैं। संशयज्ञान में भी ऐसी स्वतोग्राह्यता रहती है, परन्तु कुछ दोषों की वजह से प्रामाण्यनिश्चय नहीं होता। और इसी लिए ज्ञान में संशय होता है। जैसे बीज में अंकुरोत्पत्ति की योग्यता तो रहती है, किन्तु जल आदि के अभाव में अंकुर फूट नहीं सकता। ठीक इसी प्रकार संशय स्थल में भी प्रामाण्यग्रह की योग्यता तो है ही, किन्तु प्रतिबन्धक दोष के होने से प्रामाण्यनिश्चय के बदले संशय उत्पन्न होता है। अर्थात् "दोषाभावे सति यावत् स्वाश्रयसामग्री ग्राह्यत्व" के बदले, "यावत्स्वाश्रयग्राहक सामग्री ग्राह्यत्वयोग्यत्वम्" ऐसा अगर स्वतस्त्व का लक्षण किया जाए तो भी संशय की उपपत्ति हो ही सकती है ।

अप्रामाण्यं तु न ज्ञानसामान्य सामग्रीप्रयोज्यम्, प्रमायामप्यप्रामाण्यापत्तेः । किन्तु दोषप्रयोज्यम् । नाप्यप्रामाण्यं यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्यम् । अप्रामाण्यघटक तदभाववत्त्वादेर्वृत्ति-ज्ञानानुपनीतत्वेन साक्षिणा ग्रहीतुमशक्यत्वात् । किन्तु विसंवादिप्रवृत्त्यादिलिङ्गकानुमित्यादि-विषय इति परत एवाप्रामाण्यमुत्पद्यते ज्ञायते चेति ।

श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र-विरचितायां वेदान्तपरिभाषायामनुपलब्धिपरिच्छेदः समाप्तः ।। 6 ।।

अनुवाद—परन्तु, अप्रामाण्य (प्रामाण्य की तरह) ज्ञानसामान्यसामग्री का कार्य नहीं हैं क्योंकि ऐसा मानने पर तो प्रमा में भी अप्रामाण्य आ पड़ेगा। अप्रामाण्य तो दोष का कार्य है। उसी प्रकार अप्रामाण्य, यावत्स्वाश्रयग्राहक साक्षिज्ञान से भी ग्राह्य नहीं है। (स्वतोग्राह्य भी नहीं है।) क्योंकि अप्रामाण्य के लक्षण के जो 'तदभाव' आदि घटक हैं, वे घटक हैं, उनकी उपस्थिति वृत्तिज्ञान में नहीं होती। इसलिए साक्षिज्ञान के द्वारा उसका ग्रहण होना संभव नहीं हो सकता। अप्रामाण्य तो विसंवादी (निष्फल—प्रवृत्ति, आदि के) हेतुओं से की जाने वाली अनुमिति आदि ज्ञानों का विषय होता है। इस प्रकार अप्रामाण्य परतः ही उत्सन्न होता है, और परतः ही जाना जा सकता है ।

विमर्श—वेदान्त में ज्ञानप्रामाण्य जैसे स्वतः उत्पन्न होता है, ऐसे कहीं ज्ञान का अप्रमाण्य स्वतः उत्पन्न नहीं होता, वह तो परतः ही उत्पन्न होता है। अर्थात् ज्ञानसामान्य सामग्री से ही अप्रामाण्य उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि ऐसा मानने पर तो प्रमा में भी अप्रमा आ पड़ेगी। क्योंकि ज्ञानसामान्य की सामग्री तो प्रमा और भ्रम—दोनों में एक समान ही है । इसलिए अप्रमाण्य की उत्पत्ति ज्ञानसामान्य की सामग्री से भिन्न किसी दोष आदि से ही होती है । इसलिए अप्रामाण्य परतः ही उत्पन्न होता है ।

जैसे अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः होती है, उसी प्रकार अप्रामाण्य का ज्ञान भी तो परतः ही होता है। अर्थात् अप्रामाण्य स्वतोग्राह्य भी नहीं है। अप्रामाण्य का लक्षण यह है—''तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानम्'' किसी वस्तु में उस वस्तु का धर्म न हो, फिर भी उस धर्म रूप विशेषण का ज्ञान हो उसे अप्रामाण्य माना जाता है। जैसे शुक्ति में रजतत्वरूप धर्म नहीं है, फिर भी उसको रजतत्वरूप धर्म (विशेषण) युक्त होने का ज्ञान हो तो उस भ्रमज्ञान में अप्रामाण्य है। ऐसा अप्रामाण्य है ।

ऐसे अप्रामाण्य का ज्ञान, यावत्स्वाश्रयग्राहक सामग्री से, अर्थात् साक्षिज्ञान से नहीं होता। क्योंकि वृत्ति के द्वारा, अप्रामण्य के लक्षण में कहे गए 'तदभाववति' (शुक्ति में रजतस्वरूप धर्म नहीं है)—इस विशेषण का भान नहीं किया जाता। इसलिए वह साक्षिभास्य नहीं है। भ्रमस्थल में शुक्ति में रजताकार वृत्ति होती है, रजतत्वाभावरूप वृत्ति नहीं होती। वृत्ति में अनुपस्थित वस्तु का साक्षिज्ञान में अभाव ही होता है ।

इस अप्रामाण्य का ज्ञान, विसंवादी—निष्फल प्रवृत्ति आदि से की जाने वाली अनुमिति आदि से होता है। ऐसी अनुमिति से पूर्व हुए ज्ञान का अप्रामाण्य जाना जा सकता है। अर्थात् अप्रामाण्य अनुमानादिग्राह्य है। अनुमान का स्वरूप इस प्रकार है—''मुझे पहले हुआ रजनज्ञान अप्रमा होना चाहिए, क्योंकि वह निष्फल (विसंवादी) प्रवृत्ति का जनक हुआ, रज्जु में पहले हुए सर्प के ज्ञान के समान। 'अप्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों ही परतः है इस बात में नैयायिकों और वेदान्तियों में एकमत्य है ।

इस प्रकार वेदान्तपरिभाषा के अन्तर्गत अनुपलब्धिपरिच्छेद की केशवलाल शास्त्री द्वारा की गई सानुवाद विमर्श हिन्दी टीका यहाँ पूर्ण होती है ।

***

अथ विषयपरिच्छेदः 7

एवं निरूपितानां प्रमाणानां प्रामाण्यं द्विविधम्, व्यावहारिकतत्त्वावेदकं पारमार्थिकतत्त्वावेदकं चेति। तत्र ब्रह्मस्वरूपावगाहिप्रमाणव्यतिरिक्तानां सर्वप्रमाणानामाद्यं प्रामाण्यम्। तद्विषयाणां व्यवहारदशायां बाधाभावात्। द्वितीयं तु जीवब्रह्मैक्यपराणां, 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' (छा. 6.2.1) इत्यादिनां, 'तत्त्वमसि'–छा. 6.8.1) इत्यन्तानाम्। तद्विषयस्य जीवपरैक्यस्य कालत्रयाबाध्यत्वात्।

अनुवाद—इस तरह (पूर्वग्रन्थ में) निरूपित किए गए प्रमाणों के प्रामाण्य दो प्रकार के हैं। एक है व्यावहारिक तत्त्वों का आवेदन (निवेदन) करने वाला, और दूसरा है पारमार्थिक तत्त्वों का आवेदन करने वाला। इनमें से ब्रह्मस्वरूप के बोधक प्रमाणों से भिन्न सभी प्रमाणों में प्रथम प्रामाण्य है, क्योंकि इनके विषयों का व्यवहार दशा में बाध नहीं होता। (अबाधित विषयत्व ही प्रामाण्य है।) परन्तु, दूसरा पारमार्थिक तत्त्वावेदक रूप पारमार्थिक प्रामाण्य है। (छान्दोग्योपनिषद् के) "हे सौम्य! श्वेतकेतो! सृष्टि के पूर्व, यह दिखाई देने वाला जगत् एक 'सत् रूप' ही था"—यहाँ से लेकर, 'वह ब्रह्म तू है"—इस वाक्य तक जीव-ब्रह्म की एकता बताने वाले इन उपनिषद् वाक्यों में पारमार्थिक-त्वावेदकत्वरूप प्रामाण्य कहा गया है। क्योंकि उसके विषय—जीव और ब्रह्म की एकता—का तीनों कालों में कभी बाध नहीं होता।

विमर्श—व्यावहारिक प्रामाण्य व्यावहारिक अवस्था में अबाधित हैं, और पारमार्थिक प्रामाण्य तीनों काल में अबाधित हैं। ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति से जगत के मिथ्या ज्ञान से व्यावहारिक सत्ता का बाध होता है, पर जीव-ब्रह्मैक्य कभी बाधित नहीं होता। वह सर्वदा-सर्वथा अबाधित (प्रामण्ययुक्त) है। छान्दोग्योपनिषद् में वह ऐक्यप्रतिपादित किया गया है।

तच्चैक्यं तत्त्वंपदार्थज्ञानाधीनमिति प्रथमं तत्पदार्थो लक्षणप्रमाणाभ्यां निरूप्यते। तत्र लक्षणं द्विविधम्–स्वरूपलक्षणं तटस्थलक्षणं चेति। तत्र स्वरूपमेव लक्षणं स्वरूपलक्षणम्, यथा सत्यादिकं ब्रह्मस्वरूपलक्षणम्। 'सत्त्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. 2.1.1) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् (तै. 3-6) इति श्रुतेः।

अनुवाद—और वह ऐक्यज्ञान, 'तत्' और 'त्वम्' पदों के ज्ञान पर आधारित है, इसलिए पहले 'तत्' पद के अर्थ का लक्षण और प्रमाण देकर निरूपण किया जाता है। उनमें लक्षण दो प्रकार का होता है, एक है स्वरूपलक्षण और दूसरा है तटस्थ लक्षण। उन दोनों प्रकार के लक्षणों से स्वरूपभूत लक्षण ही स्वरूपलक्षण है। जैसे 'सत्य' आदि

ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है। 'सत्य' ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. 3.1.1.) 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप है ।' और 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् '—'आनन्द ब्रह्म है, ऐसा उसने जाना'—ये श्रुतियाँ इस विषय में प्रमाण हैं ।

विमर्श—ब्रह्म का लक्षण और प्रमाण—दोनों भिन्न तो नहीं हैं, वाक्य ही लक्षण और प्रमाण दोनों है। फिर भी 'लक्षण प्रमाणाभ्याम्' यह द्विवचन दिया है इसलिए यहाँ स्वरूपलक्षण और तटस्थ लक्षण—ये दोनों अभिप्रेत होने से द्विवचन सार्थक है । इनमें स्वरूपभूत लक्षण स्वरूपलक्षण है, जैसे दीपक का प्रकाश। यह स्वरूपलक्षण श्रुतियों के वाक्यों में दिया गया है और वही उसका प्रमाण भी है ।

ननु स्वस्य स्ववृत्तित्वाभावे कथं लक्षणत्वमिति चेत्, न। स्वस्यैव स्वापेक्षया धर्मधर्मिभावकल्पनया लक्ष्यलक्षणसम्भवात्। तदुक्तम्- 'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः। अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्ते इति ।

अनुवाद—शंका करते हैं कि (आपने जो 'स्वरूपम् एव लक्षणम्' 'स्वरूप ही लक्षण' इस प्रकार स्वरूपलक्षण का लक्षण किया वह योग्य नहीं है क्योंकि—) स्वरूप में स्व का रहना तो असंभव है, (स्वरूप में तो असाधारण धर्म रहता है) और अगर स्वरूप में ही स्व रहे तो उसमें लक्षणत्व कैसे संभव है? यह शंका योग्य नहीं है, क्योंकि स्वयं ही स्व की अपेक्षा से की गई धर्म-धर्मिभाव की कल्पना से लक्ष्यत्व और लक्षणत्व बन सकता है। इस विषय में इसलिए (पद्मपादाचार्य ने) कहा है कि 'आनन्द विषयानुभव और नित्यत्व'—ये धर्म हैं क्योंकि चैतन्य से तो भिन्न वे नहीं हैं, फिर भी भिन्न से भासित होते हैं ।

विमर्श—स्वरूप को ही लक्षण मानने से तो लक्ष्य और लक्षण एक ही हो गया। यहाँ सत्यादि धर्म होने के बदले स्वरूप हो गया है, लक्षणभूत धर्म ही यहाँ स्वरूप-धर्मी बन गए हैं। तो उस धर्म बने हुए सत्यादि में धर्मी ब्रह्म का होना तो असंभव ही है। ऐसी स्थिति में स्वरूप (लक्ष्य) सत्यादि, फिर लक्षण कैसे बन सकते हैं? यह शंका का तात्पर्य है। समाधान यह है कि लक्षणभूत धर्म धर्मा से अलग ही होने का कोई नियम नहीं है। स्वयं में भी अपेक्षा से धर्मत्व एवं धर्मित्व की कल्पना करके लक्षणत्व ओर लक्ष्यत्व को संभव बनाया जा सकता है। अर्थात् एक ही ब्रह्म सत्यत्वरूप काल्पनिक धर्म से लक्षण होता है, और वही ब्रह्मत्वरूप धर्म से लक्ष्य भी होता है। पंचपादिकाकार ने इसीलिए तो 'आनन्द' ज्ञान और सत्यत्व—ये चैतन्य से भिन्न न होते हुए भी भिन्न जैसे भासित होते हैं।'' ऐसा कहा है। भिन्न दिखाई देने से ही उन्हें ब्रह्म का धर्म कहा गया है ।

तटस्थलक्षणं तु यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्वे सति यद्व्यावर्तकं तदेव। यथा गन्धवत्त्वं पृथिव्या लक्षणम्। महाप्रलये परमाणुषु

उत्पत्तिकाले घटादिषु गन्धाभावात्। प्रकृते ब्रह्मणि च जगज्जन्मादिकारणत्वम्। अत्र जगत्पदेन कार्यजातं विवक्षितम् कारणत्वञ्च कर्तृत्वमतोऽविद्यादौ नातिव्याप्तिः।

अनुवाद—जो लक्षण, जब तक लक्ष्य रहे, तब तक लक्ष्य में न रहता हो, फिर भी अपने को अन्य पदार्थों से भिन्न बता सकता हो (अन्य पदार्थों का भेदक हो।) उसे तटस्थ लक्षण कहा जाता है। जैसे गन्धवत्त्व पृथ्वी का तटस्थ लक्षण है। क्योंकि महाप्रलय के समय परमाणुओं में (गन्ध नही होता) और उत्पत्ति काल में घटादि में भी गन्ध नहीं होता। यहाँ—प्रस्तुत प्रसंग में जगत् के जन्म आदि का कारणत्व ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। यहाँ 'जगत्' शब्द से सभी कार्य विवक्षित हैं। और 'कारणत्व' शब्द से कर्तृत्व अभिप्रेत है। इससे अविद्या आदि में अतिव्याप्ति नहीं होता।

विमर्श—गन्ध पृथ्वी में कुछ काल तक ही रहता है, सभी काल में नहीं महाप्रलय में पृथ्वी परमाणुओं में गन्ध नहीं रहता फिर भी गन्धवत्त्व पृथ्वी का लक्षण बनता है, और वह लक्षण पृथ्वी को अन्य पदार्थों से भिन्न रूप में भी बता सकता है। उत्पतिकाल में घटादि पदार्थों में भी गन्ध नहीं होता, क्योंकि 'उत्पन्नं' द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठति' वह नियम है, फिर भी घटादि का उस क्षण के बाद में आए हुए गुणों के साथ लक्षण बनता है और ऐसे लक्षणों से वे पदार्थ अन्य पदार्थों से अपनी विभिन्नता—विलक्षणता भी बताते हैं। यही तटस्य लक्षण है। जगत् का सर्जन आदि ब्रह्म में सदाकाल नहीं रहता। फिर भी जगत्कर्ता के रूप में ब्रह्म का लक्षण किया जाता है, और वह तटस्थ लक्षण भी ब्रह्म को अन्य पदार्थों से विलक्षण—विभिन्न दिखाता ही है। यों तो अविद्या भी जगत् का कारण है, ब्रह्म भी है, पर ब्रह्म कर्ता है, अविद्या सिर्फ कारण ही है इसलिए अतिव्याप्ति नहीं होगी।

कर्तृत्वं च तत्तदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वम्। ईश्वरस्य तावदुपादानगोचरापरोक्षज्ञान-सद्भावे च 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते (मु.1.1.9) इत्यादिश्रुतिर्मानम्। तादृशचिकीर्षासद्भावे 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (तै.2.6) इत्यादिश्रुतिर्मानम्। तादृशकृतौ च तन्मनोऽकुरुत' इत्यादि वाक्यम्।

अनुवाद—सभी कार्यों के उन उन उपादान कारणों के विषय का (1) अपरोक्ष ज्ञान, (2) उन कार्यों को करने की इच्छा और (3) प्रयत्न का होना ही कर्तृत्व कहा जाता है। ईश्वर में उपादानविषयक अपरोक्ष ज्ञान होने में, "जो ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वविशेषज्ञ है, जिसका ज्ञानमय ही तप है, उससे यह हिरण्य, गर्भ, नाम रूप आदि अन्न उत्पन्न होता है"—(मु. 1.1.9) —यह श्रुतिवाक्य प्रमाण है। उस ईश्वर को ऐसी सृष्टि के विषय में करने की इच्छा (चिकीर्षा) हुई, इसके बारे में भी, "मैं बहुत होऊँ,

और प्रजा उत्पन्न करूँ। ऐसी उसने (आत्मा ने) इच्छा की" (तै. 2.6) यह श्रुति प्रमाण है। और इसकी कृति के विषय में "उस ब्रह्म ने मन को उत्पन्न किया।" (बृ. 1.2.1.) यह श्रुतिवाक्य प्रमाण है ।

विमर्श—सब स्पष्ट ही है। विवेचन की आवश्यकता नहीं दीखती। किसी कार्य को करने के लिए तीन आवश्यक बातें, ऊपर बताई हैं, वे ध्यानार्ह हैं ।

ज्ञानेच्छाकृतीनां मध्येऽन्यतमगर्भलक्षणत्रितयमिदं विवक्षितम्, अन्यथा व्यर्थविशेषणत्वापत्तेः। अत एव जन्म-स्थिति-ध्वंसानामन्यतमस्यैव लक्षणे प्रवेशः। एवं च प्रकृते लक्षणानि नव सम्पद्यन्ते। ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वे च, "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति (तै. 3.1) इत्यादिश्रुतिर्मानम्।

अनुवाद—ये ज्ञान, इच्छा और कृति हैं, उनमें से अन्यतम (हर एक) के भीतर (गर्भ में) तीन-तीन लक्षण यहाँ पर विवक्षित हैं। नहीं तो उनका विशेषणरूप से रहना व्यर्थ हो जायगा। इसीलिए जन्म स्थिति और नाश—इनमें से भी एक एक का ही लक्षण में प्रवेश समझना चाहिए। इस प्रकार यहाँ प्रस्तुत में—ब्रह्म में, नव लक्षण होते हैं। जगत् के कारणादिकों की कारणता के विष्य में "यतो वा."—अर्थात्, जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए जाते हैं और प्रलय के समय जिसमें मिल जाते हैं।" (तै. 3.1) आदि श्रुति वाक्य प्रमाण है ।

विमर्श—जगत् का जन्म-स्थिति-नाश का कर्तृत्वरूप तटस्थ लक्षण ब्रह्म का जो किया गया इसमें कर्तृत्व के जो तीन लक्षण बताए गए हैं। (ज्ञान, इच्छा और कृति) उनमें से प्रत्येक लक्षण जन्म स्थिति और लय को लागू होता है। इस प्रकार कुल मिलाकार नव लक्षण हो सकते हैं, जैसे जन्मज्ञान, जन्मचिकार्षा और जन्मकृति। और इसी प्रकार स्थितिज्ञान, स्थितिचिकीर्षा और स्थितिकृति। उसी तरह लयज्ञान, लयचिकीर्षा और लयकृति—कुल नव लक्षण होते हैं। अर्थात् ज्ञान, इच्छा और कृति में अन्यतम हर एक के भीतर (गर्भ में) तीन तीन लक्षण यहाँ पर अभिप्रेत हैं। बाकी का तो सब स्पष्ट ही है ।

यद्वा निखिलजगदुपादानत्वं ब्रह्मणो लक्षणम्। उपादानत्वञ्च जगदध्यासाधिष्ठानत्वम् जगदाकारेण परिणममानमायाऽधिष्ठानत्वं वा। एतादृशमेवोपादनत्वमभिप्रेत्य "इदं सर्वं यदयमात्मा" "सच्च त्यच्चाभवत्" "बहु स्यां प्रजायेय" इत्यादि श्रुतिषु ब्रह्मप्रपञ्चयोस्तादात्म्यव्यपदेशः "घटः सन्" "घटो भाति", "घट इष्टः"-इत्यादि लौकिकव्यपदेशोऽपि सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मैक्याध्यासात्।

अनुवाद—अथवा समस्त जगत् का उपादान कारण होना ही ब्रह्म का लक्षण मान

लीजिए। उपादानत्व का अर्थ यहाँ जगत् रूप अध्यास का अधिष्ठान समझना चाहिए। अथवा तो जगदाकार रूप में परिणाम को प्राप्त होने वाली माया का अधिष्ठान भी समझ सकते हैं। ऐसे ही उपादानत्व के अभिप्राय से, "यह जो कुछ है, वह आत्मा ही है," "यही मूर्त और अमूर्त हो गया," "मैं बहुत होऊँ"—इत्यादि श्रुतियों में, ब्रह्म और प्रपंच (जगत्) का तादात्म्य कहा गया है। 'घट है', घट दिखाई देता है,' 'घट इष्ट हैं'—इत्यादि लौकिक व्यवहार भी सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म के ऐक्याध्यास से ही होते हैं ।

विमर्श—चेतन ब्रह्म में जडप्रपंच का उपादानत्व कोई असंभव माने, तो इसके लिए माया का विकल्प दिया गया अर्थात् माया के अधिष्ठान के रूप में ब्रह्म को माना गया। जगत् के आकार में परिणत माया का अधिष्ठान ब्रह्म है, ऐसा कहा गया है। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिवं तु महेश्वरम्' यह श्रुति यहाँ प्रमाण है। ब्रह्म और जगत् का तादात्म्य व्यवहारदशा में भी कहीं सत् कहीं चित् और कहीं आनन्द के रूप में देखा जाना है, वह मूल में घड़े के उदाहरण से बताया गया है ।

नन्वानन्दात्मकचिदध्यासाद् घटादेरिष्टत्व-व्यवहारे दुःखस्यापि तत्राध्यासात् तत्रापीष्टत्वव्यवहारापत्तरिति चेत्। न। आरोपे सति निमित्तानुसरणं, न तु निमित्तमस्तीत्यारोप इत्यभ्युपगमेन दुःखादौ सच्चिदंशाध्यासेऽप्यानन्दांशाध्यासाभावात्। जगति नामरूपांशद्वय-व्यवहारस्तु अविद्यापरिणामात्मक-नामरूप-सम्बन्धात्। तदुक्तम् –

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम रूपं चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥

अनुवाद—यहाँ शंका की जाती है कि आनन्दरूप चैतन्य में घटादि का अध्यास होने के कारण घटादि में इष्टत्व का व्यवहार होता है, ऐसा मानने पर हम कहते हैं कि) उसी आनन्दरूप चैतन्य में दुःख का भी तो अध्यास होता है, तब तो दुःख में भी 'दुःखम् इष्टम्'—ऐसा इष्टत्वव्यवहार होना चाहिए।

तो इसका समाधान यह है कि ऐसी शंका ठीक नहीं, क्योंकि जब आरोप होता है, तभी उस आरोप के निमित्त का अनुसरण (कल्पना) किया जाता है, ऐसा नहीं है कि निमित्त है इसलिए आरोप की कल्पना करनी चाहिए। ऐसा नियम है। दुःख में चैतन्य के चिदंश और सदंश का अध्यास नहीं होता। इस जगत् में नाम और रूप—इन दोनों अंशों का व्यवहार जो होता है वह तो अविद्या के परिणामस्वरूप नाम-रूप से होता है। इसलिए कहा गया है कि—"अस्ति-होना-सत्ता, भाति-दिखाई देना—ज्ञान और प्रिय आनंद (क्रमशः सत्, चित् और आनंद) तथा नाम और रूप से पाँच प्रत्येक पदार्थ में प्रतीत होते हैं। इनमें से प्रथम तीन (सत्ता, ज्ञान और इष्टत्व अर्थात् सत्, चित्त, और आनन्द) ब्रह्म रूप हैं, और शेष दो—नाम और रूप जगत् रूप हैं ।"

विमर्श—शंका की जाती है कि—माया—ब्रह्म का (अर्थात् माया के परिणाम रूप जगत् और ब्रह्म का परस्पराध्यास माना गया है, जैसे चैतन्य में जागातिक घटादि का अध्यास होता है वैसे ही जागतिक दुःखादि का चैतन्य के इष्टत्व (आनंदांश) में अध्यास है, तो दुःखादि में चैतन्य के आनन्दांश में अध्यास क्यों नहीं है?

समाधान यह है कि यदि आरोग्य प्रत्यक्षसिद्ध हो, तो उसके निमित्त का निदान करना चाहिए। केवल निमित्त मात्र होने पर आरोप की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए हम कह सकते हैं कि दुःख में चैतन्य के आनन्दांश का अध्यास नहीं होता। हर एक पदार्थ में पाँच वस्तुओं की प्रतीति होती हैं उनमें सत्ता, ज्ञान, और आनन्दांश ब्रह्म के हैं ओर नाम तथा रूप जगत् के माया के हैं ।

अथ जगतो जन्मक्रमो निरूप्यते। तत्र सर्गाद्यकाले परमेश्वरः सृज्यमान-प्रपञ्च-वैचित्र्य-हेतु-प्राणिकर्म-सहकृतोऽपरिमिता-निरूपितशक्ति-विशेष-विशिष्ट-मायासहितः सन्नामरूपात्मक-निखिल-प्रपञ्चं प्रथमं बुद्धावाकलय्येदं करिष्यामिति सङ्कल्पयति। 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'। (छा. 6.2.3) इति 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (तै. 2-6) इत्यादिश्रुतेः। तत आकाशादीनि पञ्चभूतानि अपञ्चीकृतानि तन्मात्रपदप्रतिपाद्यानि उत्पद्यन्ते। तत्राकाशस्य शब्दो गुणः। वायोस्तु शब्दस्पर्शौ, तेजसस्तु शब्द-स्पर्श-रूपाणि। अपां तु शब्द-स्पर्श-रूप-रसाः। पृथिव्यास्तु शब्द-स्पर्श-रूप रस-गन्धाः ।

अनुवाद—अब जगत् की उत्पत्ति का क्रम बताया जाता है। सृष्टि के प्रारम्भ काल में परमेश्वर सृज्यमान जगत् की विचित्रता के कारणरूप प्राणियों के कर्मों को अपने साथ रखता है। उस परमेश्वर की सहाय में अपरिमित और अनिरूपित विलक्षण शक्ति से विशिष्ट ऐसी माया भी होती है। उन दोनों को (प्राणिकर्म और माया) साथ लिए हुए परमेश्वर इस नाम रूपात्मक समग्र प्रपञ्च—जगत् को पहले बुद्धि में आकलित करता है। फिर, ''मैं इसे उत्पन्न करूँगा''—इस प्रकार संकल्प करता है। ''उसने इच्छा की कि मैं बहुरूप होऊँ!'' ''उसने कामना की कि मैं बहुत होऊँ और प्रजा उत्पन्न करूँ''—इत्यादि श्रुति भी इस विषय में प्रमाण है। उसके बाद आकाश आदि पाँच अपञ्चीकृत महाभूत उत्पन्न हुए, जिनको 'तन्मात्रा' भी कहा जाता है उनमें से आकाश का गुण शब्द है; वायु के शब्द और स्पर्श गुण हैं, तेज के शब्द, स्पर्श और रूप गुण हैं, जल के शब्द, स्पर्श, रूप और रस गुण हैं, और पृथ्वी के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण हैं ।

विमर्श—निर्विशेष चैतन्य जगज्जन्मादि का कारण नहीं है मायोपहितचैतन्य ही जगत्कारण है, उसे ही परमेश्वर कहते हे। वह प्राणियों के कर्मानुसार विचित्र सृष्टि करता है। वह परमेश्वर सत्य संकल्प है, इसलिए उसके संकल्पमार्ग से सृष्टि पैदा होती है। सूक्ष्म भूतों को तन्मात्रा कहते हैं। जहाँ तक ये तन्मात्राएँ पंचीकरण की प्रक्रिया के द्वारा

पांच स्थूल महाभूतों का रूप नहीं ले लेते, वहाँ तक के व्यावहारिक उपयोग में नहीं लाये जा सकते। बाकी का सब सुगम है ।

न च शब्दस्याकाशमात्रगुणत्वम् । वाय्वादावपि तदुपलम्भात् । न चासौ भ्रमः । बाधकाभावात् ।

अनुवाद—शब्द को केवल आकाश का ही गुण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वायु आदि में भी शब्द सुनाई पड़ता है। इसे भ्रम तो नहीं कह सकते। क्योंकि कोई बाधक वहाँ नहीं है ।

विमर्श—आज का भौतिक विज्ञान तो शब्द को वायु का ही मुख्य गुण मानता हैं। क्योंकि वायुरहित आकाश में आवाज सुनाई ही नहीं देती ।

इमानि भूतानि त्रिगुणमाया-कार्याणि त्रिगुणानि। गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि। एतैश्च सत्त्वगुणोपेतैः पञ्चभूतैर्व्यस्तैः पृथक्पृथक् क्रमेण श्रोत्र-त्वक् चक्षू-रसन-घ्राणाख्यानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि जायन्ते। एतेभ्यः पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मितिलेभ्यो मनोबुद्ध्यहङ्कार चित्तानि जायन्ते। श्रोत्रादीनां पञ्चानां क्रमेण दिग्वातार्कवरुणा-श्विनोऽधिष्ठातृदेवताः। मन आदीनां चतुर्णां क्रमेण चन्द्रचतुमुर्ख-शङ्कराच्युता अधिष्ठातृदेवताः ।

अनुवाद—ये सभी भूत, तीन गुणों वाली माया के कार्य हैं, इसलिए त्रिगुणस्वरूप ही हैं सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीन गुण हैं। (पहले कहे गए तन्मात्ररूप अपञ्ची कृत-सूक्ष्म) महाभूतों के सात्त्विक अंश से पृथक् पृथक् क्रमशः श्रोत्र, त्वक् , चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इन्हीं अपञ्चीकृत पाँच महाभूतों से मिले हुए सत्त्व अंश से मन, बुद्धि, चित्त ओर अहंकार उत्पन्न होते हैं। श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के ये पाँच अधिष्ठाता देवता हैं। श्रोत्र की देवता दिशा, त्वक् वे वायु, चक्षु के सूर्य, जिह्वा के वरुण, तथा घ्राण के अश्विनीकुमार देवता माने जाते हैं। जैसे ही मन आदि अन्तःकरण की चारों वृत्तियों के भी मन के चन्द्रमा, बुद्धि के ब्रह्मा, अहंकार के शंकर और चित्त के विष्णु अधिष्ठाता (अभिमानी) देवता माने जाते हैं ।

विमर्श—सुबालोपनिषद में नासिका का अधिष्ठाता देव (अभिमानी देवता) पृथ्वी कहा गया है, और यहाँ अश्विनौ कहा गया है। इसका समाधान कुछ लोग ऐसा करते हैं कि पृथ्वी का अभिमानी देव ही अश्विनो रूप में घ्राण का अधिष्ठाता है, इसलिए कोई विरोध नहीं है ।

आकाश से श्रोत्र, वायु से त्वक्, तेज से चक्षु, जल से जिह्वा तथा पृथ्वी से घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न हुई—यह पृथक् पृथक् की स्पष्टता है। शेष सब सुगम है ।

एतैरेव रजोगुणोपेतैः पञ्चभूतै र्व्यस्तैर्यथाक्रमं वाक्पाणिपाद-

पायूपस्थाख्यानि कर्मेन्द्रियाणि जायन्ते। तेषां च क्रमेण वह्नीन्द्रोपेन्द्र-मृत्युप्रजापतयोऽधिष्ठातृदेवताः। रजोगुणोपेतैः पञ्चभूतैरेव मिलितैः पञ्च वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाख्या जायन्ते। तत्र प्राग्गमनवान् वायुः प्राणो नासिकाग्रवर्ती। अर्वाग्गमनवानपानः पाय्वादिस्थानवर्ती। विष्वग्गतिमान् व्यानः अखिलशरीरवर्ती। ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमण-वायुरुदानः कण्ठस्थानवर्ती। अशितपीतान्नादिसमीकरणकरः समानः नाभिस्थानवर्ती।

अनुवाद—रजोगुण से युक्त होने पर इन्हीं अपंचीकृत पाँच महाभूतों से पृथक् पृथक् अंश से—वाक् (आकाश से), हस्त (वायु से), पाद (चरण) (अग्नि से), गुदा (पृथ्वी से) और उपस्थ (जल से) ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। इनके भी पाँच अधिष्ठाता (अभिमानी, देव हैं। वाक् के वह्निदेवता, हाथ के इन्द्र, पाद के उपेन्द्र (वामन), गुदा के मृत्यु तथा उपस्थ के प्रजापति अभिमानी देवता है। रजोगुणयुक्त अपञ्चीकृत पाँच महाभूतों के मिले हुए अंश से (प्राण उत्पन्न हुआ, जिसके व्यापारभेद से) पाँच प्राण उत्पन्न हुए। ऐसा कहा जाता है) ये पाँच प्राण (वायु) इस प्रकार हैं—(1) प्राण, (2) अपान, (3) व्यान, (4) उदान और (5) समान हैं। इन में सदा ऊपर की ओर गति करने वाले वायु को प्राण कहते हैं, वह नासिका के अग्रभाग में रहता है। निम्न गति करने वाले वायु को अपान कहते हैं, वह गुदा आदि स्थान में रहता है। शरीर में सर्वत्र गति करने वाले वायु को व्यान कहा जाता है वह सारे शरीर में रहता है, जो ऊर्ध्व गति करके उत्क्रमण करता है, उस वायु को उदान कहा जाता है, वह कण्ठ स्थान पर रहता है और खाए-पीए अन्न और जल आदि का समीकरण करने वाले वायु को समान कहते हैं, वह नाभिस्थान में रहता है ।

विमर्श—सब कुछ स्पष्ट ही है। एक प्रसिद्ध श्लोक यहाँ याद आता है—'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले। उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः ।''

तैरेव तमोगुणोपेतैरपञ्चीकृतभूतैः पञ्चीकृतानि जायन्ते। ''तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि।'' (छा. 6.3.3) इति श्रुतेः पञ्चीकरणोपलक्षणार्थत्वात्। पञ्चीकरणप्रकारश्चेत्थम् आकाशमादौ द्विधा विभज्य तयोरेकं भागं पुनश्चतुर्धा विभज्य तेषां चतुर्णामंशानां वाय्वादिषु चतुर्षु भूतेषु संयोजनम्। एवं वायुं द्विधा विभज्य तयोरेकं भागं पुनः चतुर्धा विभज्य तेषां चतुर्णामंशानामाकादिषु संयोजनम् । एवं तेज आदीनामपि। तदेवमेकैकभूतस्यार्ध स्वांशात्मकमर्द्धान्तरं चतुर्विधभूतमयमिति पृथिव्यादिषु स्वांशाधिक्यात्पृथिव्यादिव्यवहारः। तदुक्तम्–'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' (ब्र. सू. 2.4.23) इति।

अनुवाद—तमोगुण से युक्त उन्हीं अपञ्चीकृत पंचमहाभूतों से पञ्चीकृत पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। ''तेज जल तथा पृथ्वी का एक एक का त्रिवृत करूँगा ।'' इस त्रिवृत्करण की छान्दोग्य श्रुति में पञ्चीकरण का उपलक्षण है। पञ्चीकरण की प्रक्रिया इस प्रकार है—पहले आकाश के दो विभाग किए जाते हैं, और उन दो आधे भागों में से एक आधे भाग को सुरक्षित रखते हैं, और दूसरे आधे भाग के फिर चार भाग करके वायु आदि बाकी के भूतों में मिला दिये जाते हैं। इसी प्रकार वायु के भी एक आधे भाग को सुरक्षित रखकर दूसरे आधे भाग के पुनः चार भाग करके, बाकी के आकाशादि चार भूतों में मिला दिए जाते हैं। ठीक इसी प्रकार अग्नि, जल तथा पृथिवी के भी दो दो भाग करके एक भाग को सुरक्षित रखकर बाकी रहे दूसरे आधे भागों के चार चार भाग करके अपने से भिन्न भूतों में एक एक भाग मिला दिया जाता है। इस प्रकार सभी भूतों में आधा आधा भाग तो अपना निजी है, और बाकी का आधा भाग अपने से भिन्न अन्य भूतों के अंशों से बनता है। इस तरह सभी में सभी भूतों के अंश आ जाने से इन्हें पञ्चीकरण कहते हैं। पृथ्वी आदि में अपने-निजी-भाग की अधिकता होने के कारण उनमें पृथ्वी आदि का व्यवहार होता है। इस बात को ब्रह्मसूत्र में बादरायण ने बताया है कि—''अपने अपने अंश का आधिक्य होने के कारण ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश-इन शब्दों से उन्हें व्यवहृत किया जाता है ।

विमर्श—पाँच भूतों में से पृथ्वी, जल और तेज मूर्त भूत हैं, तथा आकाश और वायु अमूर्त भूत हैं। इसलिए जब सूक्ष्म भूतों में से स्थूल—व्यवहारोपयोगी भूतों की बात आई, तब सूक्ष्म तन्मात्राओं के संयोजन की संकल्पना ने जन्म लिया। उस संयोजन में हमारे चिन्तकों की दृष्टि में पहले मूर्त भूत ही दृष्टिगोचर हों, यह स्वाभाविक है। इसलिए वायु और आकाश को छोड़कर उपनिषत्कारों ने पञ्चीकरण के बदले 'त्रिवृत्काष्ठा' की विभावना की। त्रिवृत्करण का अर्थ है 'तिहराना' एक एक में तीन तीन का निवेश करना ।

पञ्चीकरण त्रिवृत्करण के बाद की संकल्पना है। इस तरह उपनिषद् का 'त्रिवृत्करण बाद के पंचीकरण का मूल स्रोत है इसलिए पंचीकरण को भी वेदान्ती लोग श्रुतिमूलक ही मानते हैं। शेष स्पष्ट है ।

पूर्वोक्तैरपञ्चीकृतैर्लिङ्गशरीरं परलोकयात्रादि निर्वाहकं मोक्षपर्यन्तं स्थायि मनोबुद्धिभ्यामुपेतं ज्ञानेन्द्रियपञ्चक-कर्मेन्द्रियपञ्चक-प्राणादि-पञ्चक-संयुक्तं जायते । तदुक्तम् –

पञ्चप्राण-मनोबुद्धि-दशेन्द्रियसमन्वितम् ।
अपञ्चीकृत-भूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥ 1 ॥ इति ।

तच्च द्विविधम् परमपरं च। तत्र परं हिरण्यगर्भलिङ्गशरीरम्, अपरमस्मदादिलिङ्गशरीरम्। तत्र हिरण्यगर्भलिङ्गशरीरं महत्तत्वम्। अस्मादादिलिङ्गशरीरमहङ्कार इत्याख्यायते ।

अनुवाद—पूर्वोक्त अपञ्चीकृत पाँच महाभूतों से लिंगशरीर उत्पन्न होता है, वह (मरण के बाद) परलोक गमन आदि का निर्वाहक (सम्पादक) है, मोक्ष हो, तब तक रहने वाला होता है, मन और बुद्धि से युक्त रहता है, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच प्राणों से सहकृत होता है जैसा कि कहा गया है—"पाँच प्राण, मन, बुद्धि, और दश इन्द्रियों से युक्त भोग का साधनरूप सूक्ष्म शरीर, अपंचीकृत भूतों से उत्पन्न होता है।"

वह लिङ्गशरीर दो प्रकार का है। एक है पर और दूसरा है अपर। हिरण्यगर्भ के लिंग शरीर को 'पर' कहते हैं, और हमारे जैसों के लिंगशरीर को 'अपर' कहते हैं। यहाँ हिरण्यगर्भ के लिंगशरीर को 'महत्तत्व' कहा जाता है, और हमारे जैसों के लिंगशरीर को **'अहंकार'** कहा जाता है।

विमर्श—यहाँ इतना ही कहेंगे कि पहले अन्तःकरण के चार भेद (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) बताए गए थे। और यहाँ मन और बुद्धि दो ही बताए गए हैं। यहाँ चित्त और अहंकार का मन और बुद्धि में अन्तर्भाव कर दिया गया है। इस तरह मन-बुद्धि दो+पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ+पाँच कर्मेन्द्रियाँ और +पाँच प्राण=कुल मिलाकर सत्रह तत्त्वों से युक्त अपंचीकृत महाभूतों से सूक्ष्म शरीर बनता है, जो मरण होने पर मोक्ष तक जीव के साथ लगा रहता है शेष भाग सुगम है।

एवं तमोगुणयुक्तेभ्यः पञ्चीकृतभूतेभ्यो भूम्यन्तरिक्षस्वर्महर्जनस्तपःसत्यात्मकस्योर्ध्वलोकसप्तकस्य अतलवितलसुतलतलातलरसातलमहातलपातालाख्याधोलोकसप्तकस्य ब्रह्माण्डस्य जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिजाख्यचतुर्विधस्थूलशरीराणामुत्पत्तिः। तत्र जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपश्वादिशरीराणि। अण्डजानि अण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादिशरीराणि, स्वेदजानि स्वेदाज्जातानि यूकामशकादीनि। उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि वृक्षादीनि। वृक्षादीनामपि पापफल-भोगायतनत्वेन शरीरत्वम्।

अनुवाद—इस तरह तमोगुण सेयुक्त पंञ्चीकृत महाभूतों से भूमि, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, महः, जन, तप, और सत्य—इन सात ऊर्ध्वलोकों की उत्पत्ति हुई। तथा अतल, वितल, सुतल तलातल, रसातल, महातल और पाताल—इन सात अधोलोकों की और इनके समुदायरूप ब्रह्माण्ड की (उत्पत्ति हुई) एवं जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—इन चार प्रकार के शरीरों की उत्पत्ति हुई। इनमें से जो जरायु से उत्पन्न हुए हैं, (उदर में रही हुई झिल्ली को जरायु कहते हैं) ऐसे मनुष्य पशु आदि के शरीरों को जरायुज कहा जाता है। अण्डों से उत्पन्न होने वाले पक्षी और साँप आदि के शरीरों को अण्डज कहा जाता है। स्वेद (पसीने) से उत्पन्न होने वाले यूका मच्छर आदि के शरीरों को स्वेदज कहते हैं और भूमि का उद्भेदन करके—फोड़कर उत्पन्न होने वाले वृक्षादि के

शरीरों को उद्भिज्ज कहा जाता है। पापकर्म का फल भोगने के लिए वृक्षादि का शरीर भी आयतन है, इसलिए उसको भी शरीर शब्द से कहा गया है ।

विमर्श—वृक्ष में भी जीव का वास है, यह बात तो आधुनिक भौतिक विज्ञान द्वारा भी अरसे से सिद्ध हो ही चुकी है। शेष सब सरल है। केवल जानकारी ही है ।

तत्र परमेश्वरस्य पञ्चतन्मात्राद्युत्पत्तौ सप्तदशावयवोपेत-लिङ्गशरीरोत्पत्तौ हिरण्यगर्भ-स्थूलशरीरोत्पत्तौ च साक्षात्कर्तृत्वम् । इतर निखिलप्रपञ्चोत्पत्तौ हिरण्यगर्भादिद्वारा-''हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा. 6.3.2) इति श्रुतेः। हिरण्यगर्भो नाम मूर्तित्रयादन्यः प्रथमो जीवः ।

''स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।
आदिकर्त्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत'' ॥ 1 ॥

''हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य'' (यजु. 13.4, ऋ. सं. 10-120-1) इत्यादि श्रुतेः। एवं भूतभौतिकसृष्टिर्निरूपिता ।

अनुवाद—इन समस्त कार्यों में से पंच तन्मात्राओं की उत्पत्ति में तथा सत्रह अवयवों वाले लिंगशरीर की उत्पत्ति में तथा हिरण्यगर्भ के स्थूल शरीर की उत्पत्ति में परमेश्वर को साक्षात् कर्ता कहा गया है । और बाकी के सम्पूर्ण प्रपञ्च (जगत्) की उत्पत्ति में हिरण्यगर्भ द्वारा परमेश्वर को कारण माना गया है। ''अब मैं इन तीनों देवताओं में इस जीवात्मा के रूप में अनुप्रवेश करके नाम और रूप को व्यक्त करूँगा''—ऐसी श्रुति इस विषय में प्रमाण है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनों मूर्तियों से भिन्न हिरण्यगर्भ नामक प्रधान प्रथम जीव है। इस विषय में भी, ''वह हिरण्यगर्भ ही प्रथम शरीरधारी और वही प्रथमपुरुष कहा जाता है। भूतों का आदिकर्ता ब्रह्मा प्रथम उत्पन्न हुआ, हिरण्यगर्भ भूतों से प्रथम उत्पन्न हुआ'' आदि श्रुति इसमें प्रमाण है। इस प्रकार भूत और भौतिक सृष्टि का विवरण किया गया ।

विमर्श—परमेश्वर तीन पदार्थों की उत्पत्ति स्वयं करता है—(1) पाँच सूक्ष्मभूत (तन्मात्राएँ), (2) लिंगशरीर और (3) हिरण्यगर्भ नामक आदि जीव। बाद की समस्त सृष्टि हिरण्यगर्भ के द्वारा परमेश्वर ही उत्पन्न करता है। इसमें श्रुतिप्रामाण्य दिया गया है। वह हिरण्यगर्भ समष्टि लिंगशरीरों का अधिष्ठाता है। यह भी श्रुतिप्रमाणित है ।

इदानीं प्रलयो निरूप्यते। प्रलयो नाम त्रैलोक्यनाशः, स च चतुर्विधः-नित्यः प्राकृतो नैमित्तिक आत्यन्तिकश्चेति । तत्र नित्यः प्रलयः सुषुप्तिः, तस्याः सकलकार्यप्रलयरूपत्वात् । धर्माधर्मपूर्वसंस्काराणां च तदा कारणात्मनाऽवस्थानम्। तेन सुप्तोत्थितस्य न सुखदुःखाद्य-

नुभवानुपपत्तिः। न वा स्मरणानुपपत्तिः। न च सुषुप्तावन्तःकरणस्य विनाशे तदधीनप्राणादिक्रियाऽनुपपत्तिः। वस्तुतः श्वासाद्यभावेऽपि तदुपलब्धेः पुरुषान्तरविभ्रममात्रत्वात् सुषुप्तशरीरोपलम्भवत् ।

अनुवाद—अब प्रलय का विवरण किया जाता है। तीनों लोकों के नाश को प्रलय कहते हैं। इसके चार प्रकार हैं—(1) नित्य, (2) प्राकृत, (3) नैमित्तिक और (4) आत्यन्तिक। इनमें सुषुप्ति नित्यप्रलय है। क्योंकि सुषुप्तावस्था में सम्पूर्ण कार्यों का प्रलय देखा जाता है। उस समय धर्म, अधर्म एवं पूर्वसंस्कार—सभी कारणरूप में रहते हैं। यही कारण है कि सोकर उठे हुए व्यक्ति को सुखों और दुःखों के अनुभव में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती। इसीलिए उसे स्मरण की भी अनुपपत्ति नहीं होती। यहाँ ऐसी शंका नहीं उठानी चाहिए कि सुषुप्ति में तो अन्तःकरण का भी विनाश हो जाता है, इसलिए अन्तःकरण के अधीन प्राण आदि की क्रिया भी न हो सकेगी। क्योंकि सुषुप्ति में वस्तुतः श्वास आदि का अभाव होने पर भी उस स्थल में उपस्थित अन्य व्यक्ति को उसकी जो उपलब्धि होती है, वह तो केवल भ्रम ही है। जैसे सुषुप्त पुरुष के शरीर की उपलब्धि तत्रस्थ व्यक्ति का भ्रम ही है। ऐसे ही प्राणशक्ति के बारे में भी समझना चाहिए ।

विमर्श—यहाँ सुषुप्ति का जो नित्य प्रलय है, वह सोये हुए पुरुष का नित्य प्रलय है, वहाँ उपस्थित सभी व्यक्तियों का तो नहीं है। अतः सोये हुए पुरुष के सन्दर्भ में ही इस नित्य प्रलय को देखना चाहिए। वहाँ उपस्थित व्यक्तियों के सन्दर्भ में नहीं सोये हुए पुरुष के लिए तो उसका शरीर भी नहीं है, और श्वासोच्छ्वास भी नहीं है न? शरीर और श्वासोच्छ्वास तो बाहर के लोग ही देख रहे हैं न? तो वह उनका देखना भ्रम है और वह भ्रम अनिर्वचनीय—'अघटन घटना पटु' ही है, ऐसा कहने का तात्पर्य है ।

न चैवं सुप्तस्य परेतादविशेषः। सुप्तस्य हि लिङ्गशरीरं संस्कारात्मनाऽत्रैव वर्तते, परेतस्य तु लोकान्तरे इति वैलक्षण्यात्। यद्वा, अन्तःकरणस्य द्वे शक्ती–ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिश्चेति। तत्र ज्ञानशक्तिविशिष्टान्तःकरणस्य सुषुप्तौ विनाशः, न क्रियाशक्ति-विशिष्टस्येति प्राणाद्यवस्थानमविरुद्धम्। ''यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति, अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति, अथैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति, (कौ. 2-3) ''सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति'' (छां 6.8.1) इत्यादि श्रुतिरुक्तसुषुप्तौ मानम् ।

अनुवाद—''अगर ऐसा हो, तब तो सोये हुए व्यक्ति और मरे हुए व्यक्ति में कोई भेद ही नहीं रहेगा'—ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि सोये हुए व्यक्ति का सूक्ष्मशरीर संस्काररूप से यहीं पर रहता है, जब कि मरे हुए का सूक्ष्मशरीर लोकान्तर में चला जाता है। बस इतना ही सोये हुए और मरे हुए व्यक्ति में भेद है ।

अथवा इसका दूसरा समाधान यह है कि अन्तः करण की दो शक्तियाँ है—(1) ज्ञानशक्ति और (2) क्रियाशक्ति। इनमें ज्ञानशक्तिविशिष्ट अन्तःकरण का ही सुषुप्ति अवस्था में विनाश होता है, परन्तु, क्रियाशक्तिविशिष्ट अन्तःकरणशक्ति का विनाश नहीं होता। इसलिए सुषुप्ति में प्राण आदि के रहने का कोई विरोध नहीं है "जिस समय सोया हुआ मनुष्य कोई स्वप्न नहीं देखता, उस समय प्राण में ही एकीभाव हुआ करता है, उस समय प्राण में सम्पूर्ण नाम और रूप के साथ वाणी विलीन हो जाती है।" और "हे सौम्य, सुषुप्ति में सोया हुआ पुरुष सत् के साथ सम्पन्न हो जाता है, स्वयं में विलीन हो जाता है।"—इत्यादि श्रुतियाँ सुषुप्तिविषय में प्रमाण हैं।

विमर्श—पूर्वपरिच्छेद में सुषुप्ति के बारे में जो कहा गया है, उसकी अपेक्षा इस ऊपर के परिच्छेद में जो समाधान दिया है, वह अधिक युक्तिसंगत और वास्तविक जान पडता है। पूर्वपरिच्छेद में तोड़मरोड़कर ने समाधान किया है, ऐसा जान पड़ता है। शेष सब बोधगम्य ही है।

प्राकृतप्रलयस्तु कार्यब्रह्मविनाशनिमित्तकः सकलकार्यनाशः। यदा तु प्रागेवोत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारस्य कार्यब्रह्मणो ब्रह्माण्डाधिकार-लक्षणप्रारब्धकर्मसमाप्तौ विदेहकैवल्यात्मिका परा मुक्तिः, तदा तल्लोकवासिनामप्युत्पन्नब्रह्मसाक्षात्काराणां ब्रह्मणा सह विदेहकैवल्यम्।

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥" इति श्रुतेः॥

अनुवाद—कार्यब्रह्म—हिरण्यगर्भ—के विनाश के निमित्त होने वाले प्रलय को प्राकृत प्रलय कहा जाता है। वह सभी कार्यों के नाशरूप है। जिसे पहले ही ब्रह्मसाक्षात्कार हो गया है, ऐसे कार्य ब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ को ब्रह्माण्ड के अधिकाररूप प्रारब्ध कर्म के समाप्त होते ही विदेह-कैवल्यरूप परामुक्ति प्राप्त हो जाती है। उस समय उस हिरण्यगर्भ के ब्रह्मलोक के निवासी ब्रह्मसाक्षात्कारी पुरुषों को भी हिरण्यगर्भरूप कार्य-ब्रह्म के साथ ही विदेह कैवल्य प्राप्त हो जाता है। "प्राकृत प्रलय प्राप्त होने पर ब्रह्मा के साथ ही हिरण्यगर्भ के अन्त होते समय परलोक निवासी ब्रह्मसाक्षात्कारी पुरुष परमपद में प्रवेश करते हैं।" ऐसी श्रुति है।

विमर्श—हिरण्यगर्भ नामक, सकल ब्रह्माण्ड का अधिकारी प्रथम जीव, जो कि ईश्वर भी कहा जाता है, वह तो पहले से ही ब्रह्मसाक्षात्कारी है ही, इसलिए वह जीवन्मुक्त तो है, पर उसके ऊपर सकल ब्रह्माण्ड का संचालन नियमन करने का भार है, इसलिए वह (विदेहमुक्त' नहीं है, उसको समष्टिदेह धारण करना पड़ रहा है। वह उसका प्रारब्ध कर्म है, करना बाकी है। उसके उस प्रारब्धकर्म का जब भोग से क्षय होगा, तब उसे विदेहमुक्ति मिलेगी, वह ब्रह्मरूप हो जाएगा। उस कार्यब्रह्म—हिरण्यगर्भ

की विदेह मुक्ति के समय उसके लोक में रहनेवाले व्यक्तियों को भी विदेह मुक्ति प्राप्त होती है ।

एवं स्वलोकवासिभिः सह कार्ये ब्रह्मणि मुच्यमाने तदधिष्ठित ब्रह्माण्डतदन्तर्वर्ति निखिललोक-तदन्तर्वर्ति स्थावरादीनां भौतिकानां भूतानाञ्च प्रकृतौ मायायां च लयः न तु ब्रह्मणि, बाधरूपविनाशस्यैव ब्रह्मनिष्ठत्वात्। अतः 'प्राकृत' इत्युच्यते ।

अनुवाद—इस प्रकार अपने लोकनिवासियों के साथ कार्यब्रह्म—हिरण्यगर्भ—के मुक्त हो जाने पर उसके द्वारा अधिष्ठित ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड के भीतर रहने वाले सकल लोक तथा उन लोकों में रहने वाले सभी भूत तथा स्थावर भौतिक सभी का भी अपने मूल कारण प्रकृति (माया) में विलय हो जाता है। ब्रह्म में विलय नहीं होता, क्योंकि बाधरूप विनाश ही ब्रह्मरूप होता है (निवृत्तिरूप नहीं।) प्रकृति में लय होने के कारण ही इस प्रलय को 'प्राकृत' प्रलय नाम दिया गया है ।

विमर्श—नाश दो प्रकार का है (1) निवृत्तिरूप और (2) बाधरूप। निवृत्तिरूप नाश कालिक होता है और बाधरूप नाश शाश्वत होता है। ब्रह्माण्ड का प्रकृति में लय निवृत्ति रूप नाश है, वह कालिक है, पुनः सृष्टि का उदय प्राणियों के कार्यवशात् होता ही है। परन्तु ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद जो सृष्टि का नाश होता है, वह त्रैकालिक है, वह शाश्वत है, फिर सृष्टि का वहाँ पुनरुत्थान नहीं होता ।

कार्यब्रह्मणो दिवसावसाननिमित्तकस्त्रैलोक्यमात्रप्रलयः। नैमित्तिकप्रलयः। ब्रह्मणो दिवसश्चतुर्युगसहत्रपरिमितः कालः, "चतुर्युगसहस्त्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते" इति वचनात्। प्रलयकालो दिवसकालपरिमितः, रात्रिकालस्य दिवसकालतुल्यत्वात् ।

अनुवाद—जब कार्यब्रह्म—हिरण्यगर्भ—का दिवस पूरा होता है, तब उस कारण से होने वाले केवल त्रैलोक्य के नाश को नैमित्तिक प्रलय कहा जाता है। ब्रह्मा का दिवस एक हजार चतुर्युग (चारयुगों का समूह) कहा जाता है। कहा है कि एक हजार युग चतुष्टय को कार्य ब्रह्ममा एक दिन कहते हैं। नैमित्तिक प्रलयकाल कार्य ब्रह्म के एक दिन के बराबर होता है। क्योंकि रात्रिकाल भी दिवस के काल के बराबर ही होता है ।

विमर्श—कृत, त्रेता, द्वापर और कलि ये चार युग हैं। कार्य ब्रह्म की निद्रा के निमित्त यह प्रलय है, इसलिए उसे नैमित्तिक कहते हैं। इस प्रलय में भूः, भुवः और स्वर् इन तीनों लोकों का ही नाश होता है, बाकी का नहीं। यहाँ दिनमान और निशामान समान माने गए हैं ।

प्राकृतप्रलये नैमित्तिकप्रलये च पुराणवचनानि–

"द्विपरार्द्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।

तदा प्रकृतयः सप्त कल्प्यन्ते प्रलयाय हि ।
एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते ।

इति वचनं प्राकृतप्रलये मानम् ।

एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक् ।
शेतेऽनन्तासने नित्यमात्मसात्कृत्य चाखिलम् ॥

इति नैमित्तिकप्रलये मानम् ।

अनुवाद—प्राकृत प्रलय तथा नैमित्तिक प्रलय के विषय में पुराणों के वाक्य भी मिलते हैं—"परमेष्ठी के सौ वर्ष के आयुष्य के पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध चले जाते हैं, तब परमपद पर रहने वाले ब्रह्मा का प्रलय होता है। उस समय 'महत्' आदि सात प्रकृतियों का प्रलय होता है। हे राजन् जिसमें समस्त कार्य लीन हो जाते हैं, ऐसा यह प्राकृतप्रलय है।" यह वचन प्राकृतप्रलय में प्रमाण है। और, "जिसमें विश्व के सर्जनहार शेषरूप आसन (शय्या) पर सब को आत्मसात्—स्वयं में लीन—करके सोते हैं, वह नैमित्तिक प्रलय है ।" यह वचन नैमित्तिक प्रलय के विषय में प्रमाण है ।

तुरीयप्रलयस्तु ब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तकः सर्वमोक्षः। स चैकजीववादे युगपदेव, नानाजीववादे तु क्रमेण। 'सर्व एकीभवन्ति'–इत्यादिश्रुतेः तत्राद्यास्त्रयोऽपि प्रलयाः कर्मोपरतिनिमित्ताः। तुरीयस्तु ज्ञानोदयनिमित्तो लयो ज्ञानेन सहैवेति विशेषः। एवं चतुर्विधप्रलयो निरूपितः ।

अनुवाद—चौथा-आत्यन्तिक प्रलय तो ब्रह्मसाक्षात्कार से होता है। वह सम्पूर्ण कार्य से छुटकारा है एक जीववाद में सब का एक साथ ही मोक्ष हो जाता है और अनेक जीववाद में क्रमशः होता है। इस विषय में "सभी एकरूप हो जाते हैं"—ऐसी श्रुति प्रमाण है। इन चारों प्रलयों में से पहले के तीन प्रलय तो कर्मों की उपरति के कारण से होते हैं, पर यह चौथा—आत्यंतिक प्रलय तो ज्ञान की उत्पत्ति के कारण से होता है और वह प्रलय उस उदित हुए ज्ञान के साथ होता है। (अर्थात् ज्ञान का भी लय हो जाता है।)

विमर्श—सकल कार्य सहित अविद्या का नाश ब्रह्मतत्त्वज्ञान से होता है। यह चौथा—आत्यन्तिक प्रलय है। वेदान्त में कुछ लोग जीव को एक मानते हैं, वे एक जीववादी हैं, और कुछ वेदान्ती अनेक जीववादी हैं। एक जीववादी वेदान्तियों के मत में एक जीव की मुक्ति होने पर समस्त जीवों की एक साथ मुक्ति हो जायेगी। अनेक जीववाद में मुक्ति क्रमशः होगी। एक जीववादियों के मत में जीव 'अविद्योपाधिक चैतन्य' रूप है, और वह उपाधिरूपअविद्या एक है इसलिए जीव भी एक ही है। 'एकमुक्तौ सर्वमुक्तिः' का यह एकजीवादियों का मत बहुत लोगों को मान्य नहीं है क्योंकि तब तो आज जिन्हें हम मुक्त मानते हैं। ऐसे शुक-वामदेव आदि की मुक्ति की

सिद्धि की नहीं होगी। इसलिए वे लोग जीवों को बहुसंख्यक मानते हैं और जीव को 'अन्तःकरणावचिछन्न चैतन्य'' के रूप में मानते हैं, अन्तःकरण नाना होने से तदवच्छिन्न चैतन्य भी नाना है । ऐसा वे मानते हैं, और जिस जीव को तत्त्वज्ञान हुआ है, उसी की मुक्ति होती है, ऐसा मानते हैं ।

तस्येदानीं क्रमो निरूप्यते–भूतानां भौतिकानां च न कारणलयक्रमेण लयः । कारणलयसमये कार्याणामाश्रयान्तराभावेनावस्थानानुपपत्तेः । किन्तु सृष्टिक्रमविपरीतक्रमेण तत्तत्कार्यनाशे तत्तज्जनकादृष्टनाशस्यैव प्रयोजकतया उपादाननाशस्याप्रयोजकत्वात् । अन्यथा न्यायमतेऽपि महाप्रलये पृथिवीपरमाणुऽगतरूपगन्धरसादेरविनाशापत्तेः।

अनुवाद—अब इस प्रलय का क्रम बताया जाता है। भूत-भौतिक पदार्थों का कारण के नाश से नाश नहीं होता (जैसा कि नैयायिक मानते हैं) क्योंकि पहले कारण के नाश हो जाने पर कार्य का दूसरा कोई आश्रय तो है नहीं। फिर कारण के अभाव में कार्य की सिद्धि ही नहीं होगी। इसलिए सृष्टि रचना के क्रम से उल्टा ही क्रम प्रलय में माना गया है। किसी भी कार्य के नाश में उस **कार्य के जनकभूत अदृष्ट** का नाश ही प्रयोजक होता है। उस कार्य के उपादान कारण का नाश प्रयोजक नहीं है । क्योंकि अगर ऐसा (उपादान कारण का नाश) माना जाए तब तो न्यायमतानुसार महाप्रलय के होने पर भी पृथिवी परमाणुओं में रहे हुए रूप, गन्ध, रस आदि का विनाश ही नहीं होगा ।

विमर्श—प्रलय में कार्य अपने कारण में लीन होता है। जैसे पृथ्वी अपने कारण जल में विलीन होती है, जल अपने कारण अग्नि में लीन होता है—इत्यादि। पर नैयायिक ऐसा नहीं मानते। उनका कहना है कि पहले कारण का नाश होता है, कार्य का नहीं। कार्य का नाश कारण के नाश के बाद होता है। वेदान्ती का उत्तर है कि अगर पहले कारण का नाश होगा, तो कार्य निराधार ही रह जायगा। मिट्टी अगर पहले नष्ट होगी तो घड़ा रहेगा कहाँ। सीढ़ी पर चढ़ने के क्रम से सीढ़ी उतरने का क्रम तो उल्टा ही होता है न? और भी किसी कार्य के नाश के लिए उस कार्य के उपादान-कारण का नाश होना ही चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। कार्य का नाश तो उस कार्य का उपादान कारण रहते हुए भी अदृष्ट' अपूर्व) के द्वारा ही होता है। अगर नैयायिकों का पहले कारण नाश का सिद्धान्त मान लें, तब तो पृथ्वी परमाणुओं में रहे हुए रूप-गन्ध-रस आदि गुणों का नाश ही नहीं होगा, क्योंकि न्यायमतानुसार परमाणु नित्य हैं, और उनका नाश नहीं होता तो उनमें विद्यमान गुणों का भी तो नाश नहीं होगा। इसलिए कार्यनाश का प्रयोजक अदृष्ट ही है, कारणनाश नहीं ।

तथा च पृथिव्या अप्सु, अपां तेजसि, तेजसो वायौ, वायोराकाशे, आकाशस्य जीवाहङ्कारे, तस्य हिरण्यगर्भाहङ्कारे, तस्य चाविद्याया-मित्येवंरूपःप्रलयाः । तदुक्तं विष्णुपुराणे–

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे, पृथिव्यप्सु प्रलीयते ।
तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते ॥ 1 ॥

वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते ।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् ! निष्कले प्रविलीयते ॥ 2 ॥ इति ॥

एवंविधप्रलयकारणत्वं तत्पदार्थस्य ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणम् ।

अनुवाद—इस तरह पृथ्वी का जल में, जल का तेज में, तेज का वायु में, और वायु का आकाश में, आकाश का जीवाहंकार में, जीवाहंकार का हिरण्यगर्भाहंकार में अर्थात् महत्तत्व में), और उस महत्तत्व का मायारूप अविद्या में विलय होता है। इसी को विष्णुपुराण में कहा गया है—"हे देवर्षे! सम्पूर्ण जगत् का आधाररूप पृथ्वी जल में विलीन हो जाती है, जल अग्नि में विलीन होता है, अग्नि वायु में विलीन होता है, और वायु आकाश में विलीन होता है। और आकाश अव्यक्त में लीन हो जाता है, और अव्यक्त निष्कल पुरुष में तीन हो जाता है ।"—इस प्रकार के प्रलय के कारणरूप में ब्रह्म का तटस्थ लक्षण समझना चाहिए ।

विमर्श—लिंगशरीर के अवयव तो अपंचीकृत भूतों से—तन्मात्राओं के कुछ अंशों से बने हैं । तन्मात्राओं के बाकी के अंशों का पंचीकरण होता है, और स्थूल महाभूत उत्पन्न होते हैं। इस कारण से जब स्थूल भूतों का लय हो जाता है, तब उन स्थूल भूतों के कारणरूप तन्मात्राओं का भी तो लय हो जाता है, परन्तु तन्मात्राओं का जो अंश लिंगशरीर में है वह तो बचा रहता है। इसलिए महाभूतों का प्रलय जीवलिंग—शरीर में बताया गया है। यहाँ 'जीवाहंकार' शब्द का अर्थ 'जीवलिंगशरीर' समझना चाहिए। बाकी का लय तो कार्य के कारण में लय के नियमानुसार ही है ।

ननु वेदान्तैर्ब्रह्मणि जगत्कारणत्वेन प्रतिपाद्यमाने सति सप्रपञ्चं ब्रह्म स्यादन्यथा सृष्टिवाक्यानामप्रामाण्यापत्तेरिति चेत्, न। न हि सृष्टिवाक्यानां सृष्टौ तात्पर्यं किन्तु ब्रह्मण्येव ।

अनुवाद—वेदान्तवाक्यों के द्वारा ब्रह्म को ही जगत्कारण के रूप में प्रतिपादित करने पर तो ब्रह्म सप्रपञ्च हो जायगा—प्रपंचयुक्त हो जायगा । और अगर ब्रह्म को जगत् का कारण न माना जाय तो श्रुति में कहे गए सृष्टि सम्बन्धी वाक्यों में अप्रामाण्य ही होगा—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि श्रुतिगत सृष्टि सम्बन्धी वाक्यों का तात्पर्य सृष्टि में नहीं है, परन्तु तात्पर्य ब्रह्म में ही है ।

विमर्श—सृष्टि वाक्यों का ब्रह्म में ही तात्पर्य के लिए 'शाखाचन्द्र न्याय' का उदाहरण दिया जा सकता है। वास्तव में शाखा पर चन्द्र न होते हुए भी किसी को बताने के लिए 'शाखा पर चन्द्र'—ऐसा कहा जाए, तो देखने वाला आदमी उस संवादी भ्रम से चन्द्र को पकड़ सकता है ।

तत्प्रतिपत्तौ कथं सृष्टेरुपयोगः? इत्थम्–यदि सृष्टिमनुपन्यस्य निषेधो ब्रह्मणि प्रपञ्चस्य प्रतिपाद्येत, तदा ब्रह्मणि निषिद्धस्य प्रपञ्चस्य वायौ प्रतिषिद्धस्य रूपस्येव ब्रह्मणोऽन्यत्रावस्थानशङ्कायां न निर्विचिकित्समद्वितीयत्वं प्रतिपादितं स्यात्। ततः सृष्टिवाक्याद् ब्रह्मणोपादेयत्वज्ञाने सत्युपादानं विना कार्यस्यान्यत्र सद्भावशङ्कायां निरस्तायां 'नेति नेती त्यादीनां ब्रह्मण्यपि तस्यासत्त्वोपपादने प्रपञ्चस्य तुच्छत्वावगमे निरस्ताखिलद्वैतविभ्रममखण्डं सच्चिदानन्दैकरसं ब्रह्म सिद्ध्यतीति परम्परया सृष्टिवाक्यानामद्वितीये ब्रह्मण्येव तात्पर्यम् ।

अनुवाद—सृष्टि का ब्रह्मज्ञान कराने में किस तरह उपयोग हो सकता है? तो वह इस प्रकार है—जिस तरह वायु में रूप का निषेध करने पर, वायु से अन्यव रूप की स्थिति सुनिश्चित हो जाती है, उसी तरह ब्रह्म में सृष्टि का उपन्यास किए बिना ही अगर ब्रह्म में सृष्टि का प्रतिषेध किया जाता, तो ब्रह्म में निषेध किए गए सृष्टि—प्रपंच—की स्थिति के अन्यव कहीं भी होने की शंका हो सकती थी। इस स्थिति में ब्रह्म के निःसन्देह अद्वितीयत्व का प्रतिपादन किया नहीं जा सकता। इसलिए सृष्टिवाक्यों से, 'जगतरूप' कार्य का उपादानकारण ब्रह्म है''—ऐसा ज्ञान हो जाने से, उपादान के सिवा तो कार्य की स्थिति अन्यत्र कहीं होती ही नहीं । और उस उपादान में फिर 'नेति-नेति' इत्यादि से प्रपंच का निषेध कर देने से प्रपञ्च के तुच्छत्व—मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाता है और इससे निखिल द्वैतभ्रम से रहित अखण्ड सच्चिदानन्द एकमात्र इस ब्रह्म की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार परम्परा से श्रुतिवाक्यों का अद्वितीय ब्रह्म में ही तात्पर्य है ।

विमर्श—अगर रूप कहीं विद्यमान हो, तभी तो वायु में रूप का निषेध होता है। रूप का अस्तित्व ही न हो, तो ऐसा निषेध नहीं किया जा सकता। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म में पहले से ही सृष्टि का निषेध किया जाए तो इसका अर्थ होगा कि ब्रह्म से अन्यत्र कहीं सृष्टि विद्यमान है । और ऐसा मानने पर अद्वैत नहीं रहेगा । इसीलिए पहले ब्रह्म को सृष्टि का उपादान कारण माना और बाद में उसी सृष्टि का तुच्छत्व बताया गया, जिससे कि ब्रह्मतिरिक्त किसी स्थल में सृष्टि की विद्यमानता भी न रहे और ब्रह्म में भी उसका मिथ्यात्व प्रतिपादित हो जाए ।

उपासनाप्रकरणपठितसगुणब्रह्मवाक्यानां चोपासनाविध्यपेक्षित-गुणारोपमात्रपरत्वं, न गुणपरत्वम्। निर्गुणप्रकरणपठितानां सगुणवाक्यानां तु निषेधवाक्यापेक्षितनिषेध्यसम्पादकत्वेन विनियोग-इति न किञ्चिदपि वाक्यमद्वितीयब्रह्मप्रतिपादनेन विरुध्यते ।

अनुवाद—उपासना के प्रकरण में आए हुए सगुणब्रह्मपरक वाक्यों का तात्पर्य, उपासनाविधि में आवश्यक गुणों का आरोप करने में ही केवल है, ब्रह्म में गुणों का

अस्तित्व बताने में नहीं। और निर्गुण ब्रह्म के प्रकरण में जो सगुणपरक वाक्य पढ़े गए हैं, उनका निषेध वाक्यों में अपेक्षित, निषेध्य गुणों के सम्पादक के रूप में विनियोग हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए कोई भी वेदवाक्य अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादन के साथ विरोध नहीं करता।

विमर्श—वेदान्त में सगुण ब्रह्म और निगुर्ण ब्रह्म—दोनों के उपपादन के वाक्य आते हैं। निर्गुणब्रह्म के प्रकरण में भी कभी-कभी सगुणपरक वाक्य दिखाई देते हैं। सगुण प्रकरण में आए हुए सगुणपरक ब्रह्म सम्बन्धी वाक्यों का तात्पर्य तो उपासना के लिए है। क्योंकि गुणों के विना उपासना—चिन्तन किए नहीं जा सकते। और निगुर्ण ब्रह्मप्रकरण में आए हुए सगुण वाक्यों का तात्पर्य निषेध के लिए अपेक्षित त्रिषेध्य गुणों का निदर्शन करने के लिए है।

तदेवं स्वरूपतटस्थलक्षणलक्षितं तत्पदवाच्यमीश्वरचैतन्यं मायाप्रतिबिम्बितमिति केचित्। तेषामयमाशयः–जीवपरमेश्वरसाधारणं चैतन्यमात्रं बिम्बम्, तस्यैव बिम्बस्याविद्यात्मिकायां मायायां प्रतिबिम्बमीश्वरचैतन्यमन्तःकरणेषु प्रतिबिम्बं जीवचैतन्यम्। "कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः" इति श्रुतेः। एतन्मते जलाशयगतशरावगतसूर्यप्रतिबिम्बयोरिव जीवपरमेश्वरयोर्भेदः। अविद्यात्मकोपाधेर्व्यापकतया तदुपाधिकेश्वरस्यापि व्यापकत्वम्। अन्तःकरणस्य परिच्छिन्नतया तदुपाधिकजीवस्यापि परिच्छिन्नत्वम्।

अनुवाद—इस तरह स्वरूपलक्षण और तटस्थलक्षण—इन दो लक्षणों द्वारा लक्षित, एवं "तत्त्वमसि" इस महावाक्य के 'तत्' पद का वाच्य जो ईश्वरचैतन्य है, वह माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य है (शुद्ध चैतन्य नहीं) ऐसा (सर्वज्ञात्म यति जैसे) कुछ वेदान्तियों का मत है। ऐसों का अभिप्राय ऐसा है कि—जीव और परमेश्वर—दोनों में रहने वाला सामान्य चैतन्य (उभयसाधारण चैतन्य) (शुद्ध चैतन्य) बिम्ब है, और इस बिम्ब का अविद्यात्मक माया में प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह प्रतिबिम्ब ही **'ईश्वरचैतन्य'** कहा जाता है। और उस चैतन्य का जो अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसे 'जीवचैतन्य' कहते हैं। इस विषय में जीव 'कार्योपाधि' है (मायारूप कारण से उत्पन्न हुए अन्तःकरण रूप कार्य की उपाधि वाला है।) और ईश्वर **'कारणोपाधि'** है (अर्थात् माया जगत् का कारण है और उसकी उपाधिवाला होने से ईश्वर, **कारणोपाधि'** कहा जाता है। इस मत के अनुसार एक ही सूर्य के भिन्न भिन्न प्रतिबिम्बों के समान 'जीव' और ईश्वर में भेद है। अविद्यात्मक उपाधि के व्यापक होने से तदुपाधिक ईश्वर भी व्यापक है, और अन्तःकरण रूप उपाधि परिच्छिन्न—मर्यादित—होने से तदुपाधिक जीव भी परिच्छिन्न होता है। (यह मत संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि का है।)

विमर्श—इस प्रकार की विचारधारा को 'बिम्बप्रतिबिम्बवाद' कहा जाता है। इस वाद को अच्छी तरह से समझने के लिए विद्यारण्यमुनि की पंचदशी देखने लायक है। शेष सुगम है ।

एतन्मतेऽविद्याकृतदोषा जीव इव परमेश्वरेऽपि स्युरुपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वादित्यस्वरसाद् बिम्बात्मकमीश्वरचैतन्यमित्यपरे। तेषामयमाशयः-एकमेव चैतन्यं बिम्बत्वाक्रान्तमीश्वरचैतन्यं प्रतिबिम्बत्वाक्रान्तं जीवचैतन्यम्। बिम्बप्रतिबिम्बकल्पनोपाधिश्चैकजीववादे अविद्या, अनेकजीववादे तु अन्तःकरणान्येव। अविद्यान्तःकरणरूपोपाधिप्रयुक्तो जीवपरभेदः। उपाधिकृतदोषाश्च प्रतिबिम्बे जीव एव वर्तन्ते, न तु बिम्बे परमेश्वरे। उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्। एतन्मते च गगनसूर्यस्य जलादौ भासमानप्रतिबिम्बसूर्यस्येव जीवपरयोर्भेदः ।

अनुवाद—(पहले परिच्छेद में बिम्बप्रतिबिम्ब वाद के बारे में प्रचलित दो मतों में से संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि का मत बताकर अब दूसरा विवरणकार का—प्रकाशात्म यति का मत मूल में बताते हैं।) (किन्तु), 'ईश्वर मायाप्रतिबिम्बित चैतन्य है'—ऐसे (ऊपर के) मत में तो जीव के समान ईश्वर में भी अविद्या के किये हुए दोष आ ही जाएँगे, क्योंकि उपाधिभूत अविद्या ही तो प्रतिबिम्ब की कोटि में है ।—इस प्रकार की पूर्वमत में अरुचि दिखाकर कुछ (विवरणकार जैसे) वेदान्ती, (माया प्रतिबिम्बित चैतन्य को ईश्वर न मानकर) बिम्बरूप चैतन्य को ही ईश्वर मानते हैं। इनका अभिप्राय यह है कि एक ही चैतन्य बिम्बरूप से ईश्वर और प्रतिबिम्बरूप से जीव कहा जाता है। इस प्रकार की बिम्बप्रतिबिम्ब कल्पना के होने में, 'एक जीववाद' पक्ष में अविद्यारूप उपाधि है, और 'अनेकजीववाद' में अन्तःकरण उपाधि है। 'एक जीववाद' पक्ष में जीव—ईश्वर में, अविद्यारूप उपाधि से भेद होता है, और 'अनेक जीववाद' के पक्ष में जीव ईश्वर का भेद, अन्तःकरण रूप उपाधि से होता है। अतः उपाधि से उत्पन होने वाले दोष तो प्रतिबिम्ब भूत जीव में ही रहते हैं, और बिम्बभूत परमेश्वर तो दोषरहित ही रहेगा क्योंकि उपाधि केवल प्रतिबिम्ब के अन्दर ही रहती है। इस मत के अनुसार आकाश में रहे हुए सूर्य, और जल में दिखाई देनेवाले प्रतिबिम्बरूप सूर्य के भेद के समान ही जीव और ईश्वर में भिन्नता है ।

विमर्श—सब कुछ स्पष्ट ही है ।

ननु ग्रीवास्थमुखस्य दर्पणप्रदेश इव बिम्बचैतन्यस्य परमेश्वरस्य जीवप्रदेशेऽभावात्तस्य सर्वान्तर्यामित्वं न स्यादिति चेन्न। साभ्रनक्षत्रस्य आकाशस्य जलादौ प्रतिबिम्बितत्वेऽपि बिम्बभूतमहाकाशस्यापि

जलादिप्रदेशसम्बन्धदर्शनेन परिच्छिन्नबिम्बस्य प्रतिबिम्बदेशासम्बन्धित्वेऽप्यपरिच्छिन्नब्रह्मबिम्बस्य प्रतिबिम्बदेशसम्बन्धाविरोधात् ।

अनुवाद—यहाँ शंका की जाती है कि गले पर विद्यमान मुख का दर्पण में तो अभाव ही रहता है। (दर्पण में तो केवल उसका प्रतिबिम्ब ही है।) ठीक इसी तरह यदि ईश्वर को बिम्बरूप माना जाए, तो उस बिम्बरूप ईश्वरचैतन्य का दर्पणरूप जीवप्रदेश में अभाव ही है। ऐसा होने पर ईश्वर का सर्वान्तर्यामित्व सिद्ध नहीं हो सकता। तो इस शंका का समाधान यह है कि बादलों और नक्षत्रों के सहित समग्र आकाश का जल में प्रतिबिम्ब पड़ने पर बिम्बभूत महाकाश का भी जल के प्रदेश के साथ सम्बन्ध देखा ही जाता है, तो इसी प्रकार भले ही किसी परिच्छिन्न बिम्ब का प्रतिबिम्बप्रदेश के साथ सम्बन्ध न हो, फिर भी अपरिच्छिन्न बिम्ब का प्रतिबिम्ब प्रदेश के साथ सम्बन्ध होने में कोई भी बाधा नहीं है।

विमर्श—अपरिछिन्न—व्यापक आकाश का तो कहीं अभाव है ही नहीं, तो फिर प्रतिबिम्बस्थल में उसका अभाव कैसे हो सकता है? और अभाव न होने से—सर्वगामी होने से सम्बन्ध क्यों नहीं बनेगा? आकाश की तरह ब्रह्म भी व्यापक ही है। हाँ, परिच्छिन्न बिम्ब के साथ प्रतिबिम्ब स्थल का सम्बन्ध कदाचित् नहीं हो सकता, यह ठीक है ।

न च रूपहीनस्य ब्रह्मणो न प्रतिबिम्बसम्भवः, रूपवत एव तथात्वदर्शनादिति वाच्यम् । नीरूपस्यापि रूपस्य प्रतिबिम्बदर्शनात् । न च नीरूपस्य द्रव्यस्य प्रतिबिम्बाभावनियमः । आत्मनो द्रव्यत्वाभावस्योक्तत्वात् ।

"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥" (ब्र. वि 12)

"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ।"

इत्यादिवाक्येन ब्रह्मप्रतिबिम्बाभावानुमानस्य बाधितत्वाच्च । तदेवं तत्पदार्थो निरूपितः ।

अनुवाद—यहाँ ऐसा प्रश्न नहीं उठाना चाहिए कि "ब्रह्म तो रूपरहित है, और रूपरहित ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होना तो सम्भव नहीं है। क्योंकि रूप वाले पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, ऐसा देखा गया है।" तो ऐसा प्रश्न निरर्थक है क्योंकि रूप में तो अपना कोई अलग रूप नहीं है, फिर भी उसका प्रतिबिम्ब पड़ता हुआ दिखाई पड़ता है और भी ऐसा नियम तो नहीं बनाया जा सकता कि, 'रूपरहित द्रव्य में प्रतिबिम्ब का अभाव ही रहता है ।' (अर्थात् रूपरहित द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता) क्योंकि

आत्मा में द्रव्यत्व का अभाव—आत्मा द्रव्य नहीं है—यह तो हम पहले से ही कह चुके हैं। और भी—

"(उपाधिरहित) एक अद्वितीय आत्मा, अन्तःकरणरूप उपाधियों से, जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र की भाँति अनेक प्रकार से दिखाई पड़ता है ।" और "जिस प्रकार ज्योतिः स्वरूप सूर्य, पृथक् पृथक् जलों में तरह तरह के प्रकार से दिखाई पड़ता है, इसी प्रकार यह अजन्मा आत्मदेव विविध प्रकार के अन्तःकरणरूप क्षेत्रों में उपाधिवशात् अलग अलग किया जाता है ।"—इत्यादि श्रुति के वाक्यों से ब्रह्म प्रतिबिम्ब के अभाव के लिए किए गए अनुमान का बाध हो जाता है। इस प्रकार 'तत्' पदार्थ का विवरण किया गया ।

विमर्श—'गुणे गुणानङ्गीकारात्' इस न्याय से गुण में गुण नहीं रहता। गुण में गुण मानने से तो फिर उसमें भी गुण—ऐसी अनवस्था होगी। रूपरिहत द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं होता, यह अगर माना जाए तो भी वेदान्ती को कोई हानि नहीं पहुँचती क्योंकि वह आत्मा को द्रव्य मानता ही नहीं। शेष सब सुगम है ।

इदानीं त्वं पदार्थो निरूप्यते । एकजीववादे अविद्याप्रतिबिम्बो जीवः । अनेकजीववादे अन्तःकरणप्रतिबिम्बः । स च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति-रूपावस्थात्रयवान् । तत्र जाग्रद्दशा नामेन्द्रियजन्यज्ञानावस्था । अवस्थान्तरे इन्द्रियाभावान्नातिव्यप्तिः । इन्द्रियजन्यज्ञानं चान्तःकरणवृत्तिः। स्वरूपज्ञानस्यानादित्वात् ।

अनुवाद—अब 'त्वम्' पदार्थ का (जीवका) निरूपण करते हैं। एक जीववाद में अविद्याप्रतिबिम्ब को जीव कहते हैं, और अनेक जीववाद में अन्तःकरण के प्रतिबिम्ब को जीव कहते हैं। वह त्वंपदार्थ रूप जीव, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं से युक्त है। इनमें इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान की अवस्था को जाग्रत् कहा जाता है। क्योंकि जाग्रत् के सिवा अन्य (दो) अवस्थाओं में इन्द्रियों का अभाव रहता है, इसलिए अतिव्याप्ति नहीं होती। इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का अर्थ अन्तःकरण की वृत्ति' हैं, क्योंकि स्वरूप का ज्ञान तो अनादि है, इसलिए वह इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता ।

विमर्श—अन्तःकरण की तत्तत्पदार्थ के आकार धारण करने की स्थिति उत्पत्ति और विनयाशील है। ज्ञानस्वरूप जीवचैतन्य से वह पृथक् है। जीव का स्वरूप ज्ञान तो अनादि है। हमारी जाग्रदवस्था उत्पत्ति—अन्त वाली है, यह तो अनुभवसिद्ध है, इसलिए जाग्रदवस्था में अन्तःकरण की वृत्ति से ही ज्ञान होता है (यहाँ वृत्ति में ज्ञान का प्रयोग गौण है ।)

सा चान्तःकरणवृत्तिरावरणाभिभवार्थेत्येकं मतम् । तथा हि-अविद्योपहितचैतन्यस्य जीवत्वपक्षे घटाद्यधिष्ठानचैतन्यस्य जीवरूपतया

जीवस्य सर्वदा घटादिभानप्रसक्तौ घटावच्छिन्नचैतन्यावरकमज्ञानं मूलाविद्यापरतन्त्रमवस्थापदवाच्यमभ्युपगन्तव्यम्। एवं सति घटादे सर्वदा भानप्रसङ्गः। अनावृत्तचैतन्यसम्बन्धस्यैव भानप्रयोजकत्वात्। तस्य चावरणस्य सदातनत्वे कदाचिदपि घटभानं न स्यादिति तद्भङ्गे वक्तव्ये, तद्भङ्गजनकं न चैतन्यमात्रम्। तद्भासकस्य तदनिवर्तकत्वात् नापि वृत्त्युपहितं चैतन्यम्, परोक्षस्थलेऽपि तन्निवृत्त्यापत्तेरिति परोक्षवृत्तिव्यावृत्तवृत्तिविशेषस्य, तदुपहित-चैतन्यस्य वाऽऽवरण-भङ्गजनकत्वमित्यावरणाभिभवार्था वृत्तिरित्युच्यते।

अनुवाद—यह अन्तःकरण की वृत्ति आवरण के अभिभव के लिए (विषयगत आवरण को दूर करने के लिए) मानी गई है—ऐसा एक मत है। जैसे—यदि अविद्या से उपहित चैतन्य को जीव माना जाय तो (वह तो व्यापक होने से) घटादि अवच्छिन्न चैतन्य भी जीवचैतन्य ही होगा। और ऐसा होने पर जीव को सदैव घटादिज्ञान होते रहने का प्रसंग आएगा। (यह नहीं होता इसलिए—) घटादि से अवच्छिन्न चैतन्य का आवरण करने वाला कोई अज्ञान है, ऐसा मानना पड़ेगा कि जो अज्ञान मूलाविद्या के अधीन है, और जिसकी संज्ञा 'अवस्था' है। (इस मूलाविद्या के अधीन अवस्था नामक) अज्ञान से आवृत्त होने के कारण घटादि की सदैव प्रतीति का प्रसंग नहीं आएगा। क्योंकि अनावृत-आवरणरहित चैतन्य के साथ विषय का सम्बन्ध ही विषय के भान का प्रयोजक है। अब उस (अवस्थापदवाच्य मूलाविद्या के अधीन) अज्ञान को यदि नित्य माना जाए, तब तो घटादि का भान कभी नहीं होगा। इसलिए विषयभान के लिए उस आवरण का भंग करना होगा। इस आवरण का भंजक—नाशक केवल चैतन्यमात्र तो हो नहीं सकता क्योंकि वह चैतन्य तो आवरण का प्रकाशक है अतः वह उसका नाशक (निवर्तक) नहीं हो सकता। अगर ऐसा न मानें, तब तो परोक्ष स्थल में भी उस आवरण की निवृत्ति होने लगेगी (क्योंकि केवल चैतन्य तो सर्वदा प्रकाशमान है।) इसलिए "परोक्षवृत्तिसे भिन्न जो विशेष वृत्ति है, अथवा तद्वृत्त्युपहित चैतन्य है, वही आवरण भंग करने वाली है अतः वृत्ति को आवरण भंग (अभिनव) करने वाला कहा गया है।

विमर्श—कुछ लोग मूलाविद्या के अधीन ऐसे उस अवस्थानामक अज्ञान को मूलाविद्या या तूलाविद्या का एक अवस्थाविशेष मानते हैं। जिस प्रकार सामान्य अग्नि काष्टदाहक नहीं है, पर इन्धन से अभिव्यक्त हुई विशिष्ट अग्नि ही दाहक बन सकती है, ठीक इसी प्रकार सामान्य चैतन्य आवरण नहीं हटा सकता परन्तु वृत्तिसमेत चैतन्य ही आवरण हटा सकता है। सामान्य अग्नि तो काष्ठ की विरोधी नहीं है, उसी प्रकार सामान्य चैतन्य तो आवरण का विरोध नहीं है, कि उसे जलाए—या हटाए। इन्धन से अभिव्यक्ताग्नि ही काष्ठ को जलाती है, उसी प्रकार अन्तःकरण वृत्ति विशिष्ट चैतन्य ही आवरण को हटा सकता है। शेष सब मूल के अनुवाद से ही स्पष्ट हो जाएगा।

सम्बन्धार्था वृत्तिरित्यपरं मतम्। तत्राप्यविद्योपाधिकोऽपरिच्छिन्नो जीवः। स च घटादिप्रदेशे विद्यमानोऽपि घटाद्याकारापरोक्षवृत्तिविरह-दशायां न घटादिकमवभासयति, घटादिना तस्य सम्बन्धाभावात्। तत्तदाकावृतिदशायां तु भासयति, तदा सम्बन्धमत्त्वात्।

अनुवाद—तो दूसरे आचार्य विषय के साथ सम्बन्ध के लिए अन्तःकरण की वृत्ति को मानते हैं। इस मत में भी जीव अविद्योपाधिक और अपरिच्छिन्न ही है। इसलिए घटादि के प्रदेश में विद्यमान तो होता ही है, परन्तु घटाद्याकार अपरोक्ष वृत्ति के अभाव के कारण घटादिक को अवभासित नहीं कर सकता। क्योंकि जीव का घटादि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। घटादि विषयाकार वृत्ति की स्थिति में जीव विषय को प्रकाशित करता है क्योंकि उस समय उसका विषय के साथ सम्बन्ध हो जाता है।

विमर्श—अविद्योपाधिक जीव व्यापक होने से विषय प्रदेश में विद्यमान तो रहता है, पर विषयाकार अपरोक्ष वृत्ति के अभाव में वह घटादि को जान नहीं सकता। क्योंकि तब उसका विषय के साथ सम्बन्ध नहीं होता। व्यापक जीवचैतन्य का विषय के साथ सामान्य सम्बन्ध तो है ही, ऐसा न होने पर तो जीवकी व्यापकता में बाधा आएगी, पर यहाँ विषयाकार विशिष्ट सम्बन्ध की बात है, यह खास ध्यान रखने की बात है, उस विशिष्ट सम्बन्ध के लिए ही अपरोक्ष विषयाकार अन्तःकरण वृत्ति मानी गई है।

नन्वविद्योपाधिकस्यापरिच्छिन्नस्य जीवस्य स्वत एव समस्तवस्तुसम्बद्धस्य वृत्तिविरहदशायां सम्बन्धाभावाभिधानमससङ्गतम्। असङ्गत्वदृष्ट्या च सम्बन्धाभावाभिधाने वृत्त्यनन्तरमपि सम्बन्धो न स्यादिति चेत्। उच्यते। न हि वृत्तिविरहदशायां जीवस्य घटादिना सह सम्बन्धसामान्यं निषेधामः। किं तर्हि, घटादिभानप्रयोजकं सम्बन्धविशेषम्। स च सम्बन्धविशेषो विषयस्य जीवचैतन्यस्य च व्यङ्ग्यव्यञ्जकलक्षणः कादाचित्कः।

अनुवाद—शंका करते हैं कि अविद्या की उपाधिवाला अपरिच्छिन्न (व्यापक) जीव तो स्वयं ही सभी विषयों के साथ सम्बद्ध है ही, तो फिर विषयाकार वृत्ति के अभाव की स्थिति में भी विषय के साथ उसके सम्बन्ध का अभाव कहना तो असंगत है। यदि जीव की असंगता की दृष्टि से सम्बन्ध का अभाव कहा जाए, तब तो विषयाकार वृत्ति होने के बाद भी जीव का किसी के साथ सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। तो ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि विषयाकार वृत्ति के अभाव की स्थिति में जीव का घटादि विषयों के साथ सामान्य सम्बन्ध का निषेध हम नहीं कर रहे हैं, परन्तु, "घटादि प्रतीति के योग्य विशिष्ट सम्बन्ध" का ही निषेध करते हैं। विषय और चैतन्य का यह सम्बन्ध व्यङ्ग्यव्यंजक भाव का सम्बन्ध है। इसलिए कादाचित्क है।

विमर्श—पूर्व परिच्छेद का विमर्श यहाँ दुहरा लेना चाहिए। यहाँ चैतन्य व्यंग्य है और घटादि विषय चैतन्य को अभिव्यंजक है ।

तथा हि तैजसमन्तःकरणं स्वच्छद्रव्यत्वात् स्वत एव जीवचैतन्याभिव्यञ्जनसमर्थम्। घटादिकं तु न तथा। अस्वच्छद्रव्यत्वात्। स्वाकारवृत्तिसंयोगदशायां तु वृत्त्यभिभूतजाड्यधर्मकतया वृत्त्युत्पहित-चैतन्याभिज्ञव्यञ्जनयोग्यताश्रयतया च वृत्त्युत्थानानन्तरं चैतन्य-मभिव्यनक्ति ।

अनुवाद—ऊपर की बात को ही समझाते हैं कि तैजस अन्तःकरण स्वच्छ द्रव्य होने से स्वयं ही जीवचैतन्य की अभिव्यक्ति करने में समर्थ हैं। परन्तु अस्वच्छ द्रव्य होने के कारण घटादि ऐसे (अभिव्यंजक) नहीं हैं। घटाकारवृत्ति का संयोग जब घटादिकों से होता है, तब उस वृत्ति से घटादिकों की जीव-जड़ता-अस्वच्छता-अभिभूत हो जाती है—निरस्त हो जाती है, इसलिए वृत्ति से उत्पन्न की गई चैतन्य की अभिव्यक्ति की योग्यता का वह आश्रय बनता है (चैतन्य की अभिव्यक्ति करने का सामर्थ्य उसमें आ जाता है।) अतः वृत्ति होने के बाद घटादि विषय भी चैतन्य को अभिव्यक्ति कर देते हैं ।

विमर्श—सब कुछ स्पष्ट ही है ।

तदुक्तं विवरणे-अन्तःकरणं हि स्वस्मिन्निव स्वसंसर्गिण्यपि घटादौ चैतन्याभिव्यक्तियोग्यतामापादयतीति। दृष्टं चास्वच्छद्रव्यस्यापि स्वच्छद्रव्य-सम्बन्धदशायां प्रतिबिम्बग्राहित्वम्। यथा कुड्यादेर्जलादि-संयोगदशायां मुखादिप्रतिबिम्बग्राहिता। घटादेरभिव्यञ्जकत्वं च तत्प्रतिबिम्बग्राहित्वम्। चैतन्याभिव्यक्तत्वं च तत्र प्रतिबिम्बतत्वम् ।

अनुवाद—विवरण नामक ग्रन्थ में भी तो ऐसा ही कहा गया है—जिस तरह अन्तःकरण स्वयं में चैतन्य को अभिव्यक्त करने की योग्यता रखता है, उसी तरह उसके संसर्ग में आने वाले पदार्थ, घटादि में भी चैतन्य को अभिव्यक्त करने की योग्यता पैदा कर देता है। और अस्वच्छ द्रव्य जब स्वच्छ द्रव्यों के साथ संयोग को प्राप्त करता है, तब उसमें प्रतिबिम्ब ग्रहण करने का सामर्थ्य आ जाता है, ऐसा तो देखा ही जाता है। जैसे दीवाल आदि का जल के साथ संयोग होने से उनमें मुख आदि का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने का सामर्थ्य आ जाता है। चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करना ही घटादि पदार्थों का अभिव्यंजकत्व है। और घट में प्रतिबिंबित होना ही चैतन्य का अभिव्यक्तत्व है ।

विमर्श—स्पष्ट ही है । वृत्ति के सम्बन्धार्थत्व का ही विशेष स्पष्टीकरण मूल में किया गया है । (तीन परिच्छेदों में ।)

एवंविधाभिव्यञ्जकत्वसिद्ध्यर्थमेव वृत्तेरपरोक्षस्थले बहिर्निर्गम-नाङ्गीकारः। परोक्षस्थले तु वह्न्यादेर्वृत्तिसंसर्गाभावेन चैतन्यानभि-

व्यञ्जकतया न वह्न्यादेरपरोक्षत्वम्। एतन्मते च विषयाणामपरोक्षत्वं चैतन्याभिव्यञ्जकत्वमिति। द्रष्टव्यम्। एवं जीवस्याऽपरिच्छिन्नत्वेऽपि वृत्तेः सम्बन्धार्थत्वं निरूपितम्।

अनुवाद—इस प्रकार से विषय में अभिव्यंजकत्व को सिद्ध करने के लिए ही, अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) स्थल में वृत्ति के बाहर जाने का सिद्धान्त (इस मत में) माना गया है। परोक्षस्थल में (अपरोक्ष स्थान में) तो वृत्ति के सम्बन्ध का अभाव होता है, इसलिए वहाँ चैतन्याभिव्यक्ति नहीं हो सकती। और उसके न होने पर वह्नि आदि का प्रत्यक्ष-अपरोक्ष भी नहीं हो पाता। इस मत में चैतन्य का अभिव्यंजकत्व ही विषय का प्रत्यक्ष है।

इस प्रकार जीव को अपरिच्छिन्न मानने पर भी वृत्ति कैसे सम्बन्ध अर्थवाली हो सकती है, वह यहाँ बताया गया।

विमर्श—अधिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं दीख पड़ती। अनुवाद में सब कुछ स्पष्ट कर दिया गया है।

इदानीं परिच्छिन्नत्वपक्षे सम्बन्धार्थकत्वं निरूप्यते। तथा हि- अन्तःकरणोपाधिको जीवः। तस्य न घटाद्युपादानता। घटादिदेशासम्बन्धात्। किन्तु ब्रह्मैव घटाद्युपादानम्। तस्य मायोपहितस्य चैतन्यस्य सकलघटाद्यन्वयित्वात्। अत एव ब्रह्मणः सर्वज्ञता। तथा च जीवस्य घटाद्यधिष्ठानब्रह्मचैतन्याभेदमन्तरेण घटाद्यवभासासंभवे प्राप्ते, तदवभासाय घटाद्यधिष्ठा ब्रह्मचैतन्याभेद-सिद्ध्यर्थं घटाद्याकारा वृत्तिरिष्यते।

अनुवाद—अब जीव के परिच्छिन्न होने के पक्ष (मत) में वृत्ति का सम्बन्धार्थ समझाया जाता है। वह इस तरह से है—(जीव के परिच्छिन्न होने के मत में) जीव अन्तःकरणोपाधिक है। (अन्तःकरण परिच्छिन्न है, इसलिए तदुपाधिक जीव भी तो परिच्छिन्न ही हुआ) ऐसा परिच्छिन्न जीव घटादि का उपादान नहीं बन सकता। क्योंकि उसका घटादिकों के स्थान में प्रवेश नहीं हो सकता। इसलिए घटादि का उपादान तो ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म माया की उपाधि से युक्त होकर घटादि समस्त पदार्थों के साथ अन्वित होता है। (उसमें अनुस्यूत—अनुगत—होता है)। इसलिए (इस अनुप्रवेश से ही) ब्रह्म सर्वज्ञ कहा जाता है। इस तरह से घट आदि पदार्थों के अधिष्ठान रूप ब्रह्मचैतन्य के साथ अभेद की सिद्धि के लिए घटाकार वृत्ति का मानना आवश्यक हो जाता है।

विमर्श—मूल के अनुवाद में ही सब कुछ स्पष्ट कर दिया गया है।

ननु वृत्त्यापि कथं प्रमातृचैतन्यविषयचैतन्ययोरभेदः सम्पाद्यते, घटान्तःकरणरूपोपाधिभेदेन तदवच्छिन्नचैतन्ययोरभेदासम्भवादिति चेन्न। वृत्तेर्बहिर्देशनिर्गमनाङ्गीकारेण वृत्त्यन्तःकरणविषयाणामेक-

देशस्थत्वेन तदुपधेयभेदाभावस्योक्तत्वात्। एवमपरोक्षस्थले वृत्तेर्मतभेदेन विनियोग उपपादितः ।

अनुवाद—शंका की जाती है कि वृत्ति के होने पर भी प्रमातृचैतन्य और विषयचैतन्य का अभेद किस तरह संभव हो सकता है ? घट और अन्तःकरण—ये दोनों उपाधियाँ तो भिन्न हैं, और इसलिए उन दोनों से अवच्छिन्न (दोनों चैतन्यों का अभेद नहीं हो सकता। तो ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि हमने अन्तःकरण की वृत्ति का बाहर जाना (विषय प्रदेश में जाना) स्वीकार किया है। इसलिए वृत्ति, अन्तःकरण तथा विषय-तीनों एकदशेस्थ हो जाते हैं, और ऐसा होने पर उनसे उपहित चैतन्य में भेद का अभाव माना गया है—ऐसा हम कह चुके हैं। इस प्रकार अपरोक्ष स्थल में भिन्न भिन्न मतों के अनुसार वृत्ति का क्या उपयोग है, वह बताया गया ।

विमर्श—अनुवाद से सब कुछ स्पष्ट हो जाता है । वृत्ति का निर्गमन प्रकार तो प्रत्यक्षपरिच्छेद में विस्तार से बताया ही गया है ।

इन्द्रियाजन्यविषयगोचरापरोक्षान्तःकरणवृत्त्यवस्था स्वप्नावस्था । जाग्रदवस्थाव्यावृत्त्यर्थं इन्द्रियाजन्येति । अविद्यावृत्ति मत्यां सुषुप्तौ अतिव्याप्तिवारणायान्तःकरणेति ।

अनुवाद—इन्द्रियों से अजन्य तथा विषयगोचर ऐसी अपरोक्ष अन्तःकरण वृत्ति को स्वप्नावस्था कहा जाता है। जाग्रदवस्था से पृथक् करने के लिए यहाँ ''इन्द्रियों से अजन्य'' ऐसा कहा गया है, और अविद्यावृत्ति वाली सुषुप्ति अवस्था में अतिव्याप्ति न हो (लक्षण चला न जाए) इसलिए 'अन्तःकरण' पद दिया गया है ।

विमर्श—जहाँ सभी इन्द्रियव्यापार शान्त हों, प्रातिभासिक पदार्थ दीखने हों, ऐसी अपरोक्ष अन्तःकरण-वृत्ति ही स्वाप्नावस्था है। जाग्रदवस्था में तो इन्द्रियव्यापार होते ही हैं, और सुषुप्तावस्था में अन्तःकरणवृत्ति नहीं होती, इसलिए लक्षण निर्दुष्ट है ।

सुषुप्तिर्नामाविद्यागोचराविद्यावृत्त्यवस्था । जाग्रत्स्वप्नयोरविद्याकारवृत्तरेन्तःकरणवृत्तित्वान्न तत्रातिव्याप्तिः ।

अनुवाद—अविद्या से विषय करने वाली अविद्या की वृत्ति वाली सुषुत्तावस्था होती है। जाग्रत् और स्वप्न में अविद्याकार अन्तःकरण की वृत्ति होने से सुषुप्ति के लक्षण की अतिव्यप्ति नहीं है ।

विमर्श—सुषुप्ति में अविद्या को विषय करने वाली वृत्ति होती है, क्योंकि सो कर उठने वाला मनुष्य अपना अनुभव कहता है कि ''मैंने तब कुछ नहीं जाना। यों तो जाग्रत् और स्वप्न में भी अविद्याविषयक वृत्ति तो होती है क्योंकि अविद्याविषयक अनुभव उन अवस्थाओं में सब को होता ही है। परन्तु जाग्रत् अवस्था की ऐसी वृत्ति अन्तःकरण की ही है, अविद्या की नहीं है। अतः इसमें सुषुप्ति के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है ।

स्वप्नावस्था और सुषुप्ति अवस्था में अन्तर यह है कि स्वप्नावस्था में इन्द्रियाँ

अपने अपने कारण में लीन तो हो जाती हैं, परन्तु स्वप्न में विषय को जानने वाली अपरोक्ष अन्तकरणः की वृत्ति तो है। सुषुप्ति में वह नहीं है। इन्द्रियाँ न होने पर भी पूर्वोक्त अपरोक्ष अन्तःकरणवृत्ति से दृश्य दिखाई देता है। सुषुप्ति में यह कुछ नहीं है, केवल अविद्या वृत्ति ही है ।

अत्र केचिन्मरणमूर्च्छयोरवस्थान्तरत्वमाहुः । अपरे तु सुषुप्तावेव तयोरन्तर्भावमाहुः। तत्र तयोरवस्थात्रयान्तर्भाव-बहिर्भावयोस्तत्त्वं पदार्थनिरूपणे उपयोगाभावान्न तत्र प्रयत्यते ।

अनुवाद—इस विषय में कुछ लोग मरण और मूर्च्छा—इन दो स्थितियों को (उन तीनों अवस्थाओं से) अलग मानते हैं। और कुछ लोग इन दोनों का सुषुप्ति में अन्तर्भाव मानते हैं। यहाँ पर इन दोनों का तीन अवस्थाओं में अन्तर्भाव करना या अलग अवस्था मानना, यह बात पदार्थनिरूपण में उपयोगी नहीं है, इसलिए उसके बारे में हम प्रयत्न नहीं करेंगे ।

विमर्श—सब स्पष्ट है । विवेचन की आवश्यकता नहीं ।

तस्य च मायोपाध्यपेक्षयैकत्वम्, अन्तःकरणोपाध्यपेक्षया च नानात्वं व्यवह्रियते। एतेन जीवस्याणुत्वं प्रत्युक्तम्। ''बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः (श्वे. 5-8) इत्यादौ जीवस्य बुद्धिशब्दवाच्यान्तःकरणपरिमाणोपाधिकस्य परमाणुत्वश्रवणात् ।

अनुवाद—उस जीव को यदि मायोपाधिक मानें, तो वह एक ही है, और यदि अन्तःकरण की उपाधिवाला मानें तो वह बहुत संख्या वाला है ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार (जीव को विभु बताए जाने से) जीव के अणु परिमाण का खण्डन हो गया। "बुद्धि के गुण से और आत्मा के गुण से जीव महान होता हुआ भी आराग्रमात्र—परिच्छिन्न देखा गया है ।"—इत्यादि श्रुति में जीव को बुद्धिशब्दवाच्य अन्तःकरण के परिमाण रूप उपाधि के कारण आराग्रपरिमाण का श्रवण हो रहा है । परमाणुत्व का श्रवण हो रहा है ।

विमर्श—जीव को मायोपाधिक मानने वाले एकजीववादी हैं, और अन्तःकरणोपाधिक मानने वाले अनेकजीववादी हैं। दोनों मतों के अनुसार जीव विभु है, इसलिए उसके अणुपरिमाणत्व का अनायास ही खण्डन हो गया । जीव का गुण अपरिच्छिन्नत्व है और इसलिए वह 'अवर' कहा गया। बुद्धि का गुण सूक्ष्म है। श्रुतिवाक्य में उपाधिकृत अणुत्व ही है ।

स च जीवः स्वयंप्रकाशः। स्वप्नावस्थामधिकृत्य ''अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः'' (बृ. 4-3-8) इति श्रुतेः। अनुभवरूपश्च ''प्रज्ञानघनः'' (मा. 5) इत्यादिश्रुतेः। अनुभवामीति व्यवहारस्तु वृत्तिप्रतिबिम्बित-चैतन्यमादायोपपद्यते ।

एवं त्वंपदार्थो निरूपितः ।

अनुवाद—और वह जीव स्वयंप्रकाश है। क्योंकि स्वप्नावस्था को उद्दिष्ट करके 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः''—''यह पुरुष स्वयंज्योति है''—ऐसा (बृ. 4.3.8) श्रुति में कहा गया है और वह 'प्रज्ञानघान' है। (मा. 5) में वह **'अनुभवरूप'** कहा गया है। फिर भी (अनुभवरूप के बदले अनुभव का आश्रय रूप जो) मैं अनुभव करता हूँ''—ऐसा व्यवहार होता है, वह तो वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य को लेकर उपपन्न हो सकता है ।

इस प्रकार त्वं पदार्थ का निरूपण किया गया ।

विमर्श—यहाँ वृत्तिप्रतिबिंधित चैतन्य में ज्ञान शब्द का प्रयोग औपचारिक ही है। वह मुख्यज्ञान नहीं है। इस प्रकार **त्वं पदार्थ**—जीव के विषय का निरूपण यहाँ पर किया गया है ।

अधुना तत्त्वंपदार्थयोरैक्यं महावाक्यप्रतिपाद्यमभिधीयते।

ननु नाहमीश्वर इत्यादि प्रत्यक्षेण, किञ्चिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्व विरुद्धधर्माश्रयत्वादिलिङ्गेन, द्वासुपर्णेत्यादिश्रुत्या, ''द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।'' (भ. गी. 15-16) इत्यादिस्मृत्या च जीवपरभेदस्यावगतत्वेन तत्त्वमस्यादि वाक्य 'मादित्यो यूपः', 'यजमानः प्रस्तरः इत्यादिवाक्यवद् उपचरितार्थमेवेति चेन्न। भेदप्रत्यक्षस्य सम्भावितकरणदोष-स्यासम्भावितदोषवेदजन्यज्ञानेन बाध्यमानत्वात् । अन्यथा चन्द्रगताधिकपरिमाणग्राहिज्योतिःशास्त्रस्य चन्द्रप्रादेशग्राहिप्रत्यक्षेण बाधापत्तेः । पाकरक्तेघटे 'रक्तोऽयं' न श्यामः' इति वत् 'सविशेषणेही'ति न्यायेन जीवपरभेदग्राहि प्रत्यक्षस्य विशेषणीभूतधर्मभेदविषयत्वाच्च ।

अनुवाद—अब महावाक्य के प्रतिपाद्य 'तत् ' और 'त्वम् ' पदार्थों की एकता बताई जाती है। यहाँ पर शंका करते हैं कि **(1)** 'मैं ईश्वर नहीं हूँ'—इस प्रत्यक्ष से, **(2)** अल्पज्ञत्व और सर्वज्ञत्व जैसे परस्परविरोधी धर्म के जीव और परमेश्वर में रहने के कारण से, **(3)** 'द्वा सुपर्णा'—'दो पक्षी'—इत्यादि श्रुति से और **(4)** इस लोक में दो पुरुष हैं—एक क्षर और दूसर अक्षर। इनमें क्षर सभी भूत हैं और कूटस्थ अक्षर पुरुष है (गीता) इत्यादि स्मृति से जीवात्मा और परमात्मा के भेद का ही ज्ञान होता है। इसलिए 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का अर्थ, 'यूप आदित्य है', 'प्रस्तर यजमान है'—इन वाक्यों के अर्थों के समान केवल औपचारिक ही समझना चाहिए (अभेद वास्तविक नहीं, उपचारमात्र है, ऐसा समझा चाहिए) तो ऐसी शंका योग्य नहीं है। क्योंकि—

जीवात्मा और परमात्मा का जो भेद दीखता है,वह इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष है। और उस प्रत्यक्ष का वेदजन्य वाक्य से बाध हो जाता है। इन्द्रियों में दोषों की संभावना होती

है और वेदों में दोष की संभावना नहीं होती। इसलिए वेदोत्पन्न ज्ञान से इन्द्रियजन्य ज्ञान का बाध हो जाता है। यदि ऐसा न मानें, तो ज्योतिष् शास्त्र तो चन्द्र का परिमाण बहुत बड़ा बताना है, ऐसे चन्द्र का, जो प्रत्यक्ष, 'यह चन्द्र प्रादेशमात्र परिमाण वाला है,'—ऐसा बताता है—ऐसे प्रत्यक्ष से बाध हो जाएगा। (अर्थात् वेदज्ञान से इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का प्रामाण्य कम ही है ।) तदुपरान्त यह भी है कि जीवात्मा और परमात्मा के बीच भेद बताने वाला प्रत्यक्ष, उन दोनों (जीवात्मा-परमात्मा) के विशेषणभूत धर्मो का ही भेद बताता है। (विशेष्य का नहीं) (प्रत्यक्षज्ञान का विषय विशेषणभूत धर्म ही है, विशेष्य नहीं, यह भावार्थ है पककर लाल हुए घड़े में, 'यह घड़ा लाल है, श्याम नहीं'—ऐसा कहने पर जैसे यहाँ केवल रक्तरूप का ही निशेध होता है (घड़े का नहीं) (ऐसे ही यहाँ जीवात्मा परमात्मा के केवल विशेषणभूत धर्म का ही—भेद है ।) यहाँ 'सविशेषणे हि'—इस न्याय से (अर्थात् विशेषण सहित विशेष्य के विषय में यदि विधिनिषेध की बात हो, और विशेष्य में यदि उस विशेषण का निषेध किया हो तो वह विधिनिषेध केवल विशेषण के लिए ही समझा जाता है ।) इस न्याय से, प्रत्यक्ष में 'जीवात्मा' और परमात्मा भिन्न है'—ऐसा जो ज्ञान होता है, उसके विषय, विशेषणीभूत धर्मों का ही भेद है (उस प्रत्यक्ष का विषय जीवात्मा-परमात्मा रूप विशेष्य नहीं है ।)

विमर्श—पूर्वपक्षी ने जीवात्मा-परमात्मा भेद में प्रत्यक्ष अनुमान, श्रुति, स्मृति आदि अनेक प्रमाण दिए हैं। मूल में बताए गए प्रमाणों के अतिरिक्त और भी बहुत से प्रमाण मिल सकते हैं। पूर्वपक्षी ने इसलिए जीव-पर (ब्रह्म) की एकता बताने वाले सभी वाक्य केवलरूपकात्मक-औपचारिक ही हैं—ऐसा फैसला सुना दिया ।

इस पर सिद्धान्ती श्रुतिप्रमाण की सर्वप्रमाणों में श्रेष्ठता बताकर वेदज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञान की दुर्बलता बताते हैं, और वेदजन्य ज्ञान से इन्द्रियजन्य ज्ञान (प्रत्यक्ष) का निरास कर देते हैं । इसके लिए चन्द्र के शास्त्रकथित परिमाण से प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले परिमाण की दुर्बलता भी बताते हैं ।

इसके लिए—जीव-पर की अभेदसिद्धि के लिए मूल में एक और बात भी कही है कि 'सविशषणे हि'—ऐसा एक नियम है वह बताता है कि जहाँ विशिष्ट में विधिनिषेध हो रहे हों, और उसका विशेष्यांश में बाध हो, तो उसे विशेषणांश में ही समझना चाहिए। इस न्याय को समझाने के लिए मूल में 'यह घड़ा लाल हैं' श्याम नहीं'—का उदाहरण दिया गया है, वह सुगम है। वही बात जीव-परमात्मा के भेद बताने वाले प्रमाणों में घट सकती है कि जीव-परमेश्वर में परस्पर भेद दिखाने वाले तो उनमें रहे हुए धर्म-विशेषण ही हैं धर्मी चैतन्यरूप तो एक ही है ।

अत एव नानुमानमपि प्रमाणम्, आगमबाधात् मेरुपाषाणमयत्वानुमानवत्। नाप्यागमान्तरविरोधः। तत्परातत्परवाक्ययोः तत्परवाक्यस्य बलवत्त्वेन लोकसिद्धभेदानुवादिद्वासुपर्णादिवाक्यापेक्षया

उपक्रमोपसंहाराद्यवगताद्वैततात्पर्यविशिष्टस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य प्रबलत्वात् ।

अनुवाद—इसीलिए जीव और परमेश्वर के बीच भेदसाधक कोई अनुमान भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि अनुमान से प्रबलतम अभेदबोधक आगम से उस अनुमान का बाध हो जाता है। जैसे पर्वत होने से मेरुपर्वत में पाषाणमयता का अनुमान, मेरु की सुवर्णमयता बताने वाले वेदवाक्य से निरस्त हो जाती है, (वैसे ही जीवेश्वरभेदसाधक अनुमान भी ऐक्यसाधक श्रुतिवचनों से बाधित हो जाता है।) अन्य आगमों के साथ भी जीवब्रह्मैक्य प्रतिपादक आगमों—श्रुतिवाक्यों का विरोध नहीं है। क्योंकि तत्परक (ऐक्यपरक) और अतत्परक (भेदपरक) वाक्यों में तत्परक (ऐक्यपरक) वाक्य बलवान हैं। इसलिए लोक सिद्ध भेद का अनुवाद करने वाले, 'द्वा सुपर्णा'—आदि वाक्य की अपेक्षा, उपक्रम उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति—से जाने हुए अद्वैत के तात्पर्य से युक्त, 'तत्त्वमसि'—इत्यादि वाक्यों में प्रबलत्व जाना जा सकता है ।

विमर्श—वाच्यार्थ से प्रयोजनार्थ बलवान है। तात्पर्य मुख्य है। शेष बातों को अनुवाद में ही (कौंस में) स्पष्ट कर दिया गया है। अनुवाद को ध्यान से देखने पर सब कुछ सुगम हो जाएगा ।

न च जीवपरैक्ये विरुद्धधर्माश्रयत्वानुपपत्तिः। शीतस्यैव जलस्यौपाधिकौष्ण्याश्रयत्वात्वत् स्वभावतो निर्गुणस्यैव जीवस्यान्तः-करणाद्युपाधिककर्तृत्वाद्याश्रयत्वप्रतिभासोत्पत्तेः। यदि च जलादौ औष्ण्यमारोपितं, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम्। न च सिद्धान्ते कर्तृत्वस्य क्वचिदप्यभावादारोप्यप्रमाहितसंस्काराभावे कथमारोप इति वाच्यम्। लाघवेनारोप्यविषयसंस्कारत्वेनैव तस्य हेतुत्वात् ।

अनुवाद—जीव और परमेश्वर में ऐक्य मानने में विरुद्धधर्मों का आश्रयत्व भी कोई विरोध नहीं कर सकता, क्योंकि स्वभावतः शीतल जल में औपाधिक उष्णता का आश्रय होने के समान ही स्वभावतः निर्गुण ही जीव में अन्तःकरण आदि की उपाधि के कारण कर्तृत्व आदि का आश्रय होने की प्रतीति हो ही रही है। यदि जल आदि में वह उष्णता आरोपित है, ऐसा आप मानते हैं, तब यहाँ भी तो निर्गुण जीव में कर्तृत्व भी आरोपित है, ऐसा आप मानते हैं, तब यहाँ भी तो निर्गुण जीव में कर्तृत्व भी आरोपित है, वह बात भी समान ही है। यहाँ पूर्वपक्षी को ऐसा नहीं कहना चाहिए कि वेदान्तसिद्धान्त में तो कर्तृत्व का कहीं भी अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए उस (कर्तृत्वरूप) आरोप्य के प्रमात्मक (ज्ञान जन्य) संस्कार के अभाव में आत्मा में कर्तृत्व का आरोप कैसे होगा? (ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि—) आरोप्यविषयक संस्कार को ही आरोप का हेतु मानने में लाघव है ।

विमर्श—आरोप्यवस्तु के अभाव में आरोप्यविषय की प्रमा उत्पन्न नहीं हो

उपक्रमोपसंहाराद्यवगताद्वैततात्पर्यविशिष्टस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य प्रबलत्वात् ।

अनुवाद—इसीलिए जीव और परमेश्वर के बीच भेदसाधक कोई अनुमान भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि अनुमान से प्रबलतम अभेदबोधक आगम से उस अनुमान का बाध हो जाता है। जैसे पर्वत होने से मेरुपर्वत में पाषाणमयता का अनुमान, मेरु की सुवर्णमयता बताने वाले वेदवाक्य से निरस्त हो जाती है, (वैसे ही जीवेश्वरभेदसाधक अनुमान भी ऐक्यसाधक श्रुतिवचनों से बाधित हो जाता है।) अन्य आगमों के साथ भी जीवब्रह्मैक्य प्रतिपादक आगमों—श्रुतिवाक्यों का विरोध नहीं है। क्योंकि तत्परक (ऐक्यपरक) और अतत्परक (भेदपरक) वाक्यों में तत्परक (ऐक्यपरक) वाक्य बलवान हैं। इसलिए लोक सिद्ध भेद का अनुवाद करने वाले, 'द्वा सुपर्णा'—आदि वाक्य की अपेक्षा, उपक्रम उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति—से जाने हुए अद्वैत के तात्पर्य से युक्त, 'तत्त्वमसि'—इत्यादि वाक्यों में प्रबलत्व जाना जा सकता है ।

विमर्श—वाच्यार्थ से प्रयोजनार्थ बलवान है। तात्पर्य मुख्य है। शेष बातों को अनुवाद में ही (कौंस में) स्पष्ट कर दिया गया है। अनुवाद को ध्यान से देखने पर सब कुछ सुगम हो जाएगा ।

न च जीवपरैक्ये विरुद्धधर्माश्रयत्वानुपपत्तिः। शीतस्यैव जलस्यौपाधिकौष्ण्याश्रयत्वात्वत् स्वभावतो निर्गुणस्यैव जीवस्यान्तः-करणाद्युपाधिककर्तृत्वाद्याश्रयत्वप्रतिभासोत्पत्तेः। यदि च जलादौ औष्ण्यमारोपितं, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम्। न च सिद्धान्ते कर्तृत्वस्य क्वचिदप्यभावादारोप्यप्रमाहितसंस्काराभावे कथमारोप इति वाच्यम्। लाघवेनारोप्यविषयसंस्कारत्वेनैव तस्य हेतुत्वात् ।

अनुवाद—जीव और परमेश्वर में ऐक्य मानने में विरुद्धधर्मों का आश्रयत्व भी कोई विरोध नहीं कर सकता, क्योंकि स्वभावतः शीतल जल में औपाधिक उष्णता का आश्रय होने के समान ही स्वभावतः निर्गुण ही जीव में अन्तःकरण आदि की उपाधि के कारण कर्तृत्व आदि का आश्रय होने की प्रतीति हो ही रही है। यदि जल आदि में वह उष्णता आरोपित है, ऐसा आप मानते हैं, तब यहाँ भी तो निर्गुण जीव में कर्तृत्व भी आरोपित है, ऐसा आप मानते हैं, तब यहाँ भी तो निर्गुण जीव में कर्तृत्व भी आरोपित है, वह बात भी समान ही है। यहाँ पूर्वपक्षी को ऐसा नहीं कहना चाहिए कि वेदान्तसिद्धान्त में तो कर्तृत्व का कहीं भी अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए उस (कर्तृत्वरूप) आरोप्य के प्रमात्मक (ज्ञान जन्य) संस्कार के अभाव में आत्मा में कर्तृत्व का आरोप कैसे होगा? (ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि—) आरोप्यविषयक संस्कार को ही आरोप का हेतु मानने में लाघव है ।

विमर्श—आरोप्यवस्तु के अभाव में आरोप्यविषय की प्रमा उत्पन्न नहीं हो

सकती, और प्रमा के अभाव में प्रमा से उत्पन्न होने वाले संस्कार भी तो संभव नहीं है। तब आरोप कैसे होगा? यह शंका है। उत्तर यह है कि वेदान्ती आरोप्यविषयक प्रमा से उत्पन्न संस्कारों को आरोप का कारण नहीं मानते, परन्तु केवल आरोप्य के संस्कारों को ही आरोप का कारण मानते हैं, उसमें वे लाघव मानते हैं। और वह आरोप्य पूर्वपूर्व-संस्कारजन्य है। वास्ताविक सत्ता आरोप्य की न होने पर भी पूर्वपूर्व संस्कारों में से उत्पन्न होते रहते हैं ।

न च प्राथमिकारोपे का गतिः, कर्तृत्वाद्यध्यासप्रवाहस्यानादित्वात् । तत्र तत्त्वंपदवाच्ययोर्विशिष्टयोरैक्यायोगेऽपि लक्ष्यस्वरूपयोरैक्य-मुपपादितमेव । अत एव तत्प्रतिपादकतत्त्वमस्यादिवाक्यानामखण्डार्थत्वम्। सोऽयमित्यादिवाक्यवत् । न च कार्यपराणामेव प्रामाण्यम्, 'चैत्र पुत्रस्ते जातः' इत्यादौ सिद्धेऽपि सङ्गतित्वात् ।

एवं सर्वप्रमाणविरुद्धं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रतिपाद्यं जीवपरैक्यं वेदान्तशास्त्रस्य विषयःइति सिद्धम् ।

इति वेदान्तपरिभाषायां विषयपरिच्छेदः ।

अनुवाद—'अध्यास पूर्वपूर्वसंस्कार से होता है'—ऐसा मानेंगे तो सर्वप्रथम अध्यास की क्या गति होगी?—अर्थात् सबसे पहले अध्यास कब हुआ? यह प्रश्न है। उत्तर में कहा जाता है कि—वह कर्तृत्वादि अध्यास प्रवाहरूप होने से अनादि है। यह प्रवाह अनादिकाल से चला आ रहा है। 'तत्' और 'त्वम्' पद की वाच्यार्थविशिष्ट चैतन्य में एकता नहीं हो सकती इसलिए दोनों के लक्षण स्वरूप की एकता का उपपादन तो हम पहले कर ही आए हैं। इसीलिए जीव और ब्रह्म की एकता के प्रतिपादक, 'तत्त्वमसि'—आदि महावाक्यों में 'सोऽयं देवदत्तः'—यह वही देवदत्त है'—इत्यादि वाक्य की तरह ही अखण्डार्थबोधकता है। यदि (पूर्वमीमांसकों की तरह) ऐसा कहा जाए कि वेदों के कार्यपरक (विधिपरक) वाक्यों में ही प्रामाण्य है, तो वह ठीक नहीं, क्योंकि 'अरे चैत्र, तुम्हें बेटा प्राप्त हुआ'—ऐसे सिद्ध वाक्यों से भी शक्तिग्रह होता हुआ देखा जाता है। इस प्रकार श्रुति स्मृति, पुराण और इतिहास में प्रतिपाद्य जीव और ब्रह्म का ऐक्य सभी प्रमाणों से अविरुद्ध ऐसे वेदान्तशास्त्र का विषय है, यह सिद्ध हुआ ।

विमर्श—पूर्वपूर्व संस्कारों की परम्परा मानने से अनवस्था होगी इसलिए सर्वप्रथम आरोप की अपेक्षा पूर्वपक्षी ने की। उत्तर में कर्तृत्वादि आरोप की बीजांकुरन्याय से अनादिता बताई गई। बाद में तत्त्वमस्यादि वाक्यों की वाच्यार्थ में अयोग्यता होने से लक्ष्यार्थ द्वारा एकता बताई गई। और बाद में विधिपरक वेदवाक्यों को ही प्रमाण मानने वाले मीमांसकों के मत का निरास किया और सिद्ध वाक्यों की भी सार्थकता बताई गई ।

इस प्रकार वेदान्तपरिभाषान्तर्गत विषयपरिच्छेद की केशवलाल वि. शास्त्री रचित सानुवाद विमर्श व्याख्या (हिन्दी) यहाँ समाप्त हुई

***

अथ प्रयोजनपरिच्छेदः 8

इदानीं प्रयोजनं निरूप्यते। यदवगतं सत्स्ववृत्तितयेष्यते, तत्प्रयोजनम्। तच्च द्विविधम्–मुख्यं गौणं चेति। तत्र सुखदुःखाभावौ मुख्ये प्रयोजने। तदन्यतर-साधनं गौणं प्रयोजनम्। सुखं च द्विविधम्–सातिशयं निरतिशयं चेति। तत्र सातिशयं सुखं विषयानुषङ्ग-जनितान्तकरणःवृत्तितारतम्य-कृतानन्दलेशाविर्भाव-विशेषः।

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति (बृ. 4.3.2) इत्यादिश्रुतेः। निरतिशयं सुखं ब्रह्मैव। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै. 3.6) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृ. 3.18) इति श्रुतेः।

अनुवाद—अब प्रयोजन का निरूपण किया जाता है। जिस वस्तु को जान लेने पर स्ववृत्ति—अपने से उसका सम्बन्ध होने की बजह से इष्ट हो (यह मेरी वस्तु हो ऐसी इच्छा हो, उसे 'प्रयोजन' कहा जाता है। उसमें सुख की प्राप्ति और दुःख का अभाव मुख्य प्रयोजन है, और सुखप्राप्ति के साधन और दुःखनिवृत्ति के साधन (ये दोनों) गौण प्रयोजन हैं। सुख दो प्रकार का होता है—(1) सातिशय सुख और (2) निरतियशय सुख। जो सुख विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली अन्तःकरण की वृत्ति के तारतम्य—न्यूनाधिकता—से होने वाले आनंद के (कम या ज़्यादा) अंशों का आविर्भाव रूप होता है, उसे सातिशय (अतिशय अवधि वाला) सुख कहा जाता है। इस विषय में, "अन्य सभी प्राणी इसी आनन्द के लेश (अंश) से जीवित रहे हैं,"—ऐसी बृहदारण्यक श्रुति प्रमाण है। निरतिशय—निरवधि सुख तो केवल ब्रह्म ही है। "आनन्द ही ब्रह्म है, ऐसा उसने जाना।" (तै. 3-6), "विज्ञानमय आनन्दमय ब्रह्म है"—(बृ. 3-10) ऐसी श्रुति इस विषय में प्रमाण है।

विमर्श—वेदान्तशास्त्र का विषय जीवब्रह्मैक्य है, वह पहले बता ही चुके हैं। अब उसके प्रयोजन के रूप में निरतिशय सुख की प्राप्ति को बताते हैं। निरतिशयसुख प्राप्ति का अर्थ निरतिशय दुःखाभाव ही हुआ। निरवधि दुःखनिवृत्ति और निरतिशयसुख प्राप्ति मुझे हो—ऐसा प्रयोजन हो (स्ववृत्ति=मुझ में हों)।

आनन्दात्मक-ब्रह्मावाप्तिश्च मोक्षः शोकनिवृत्तिश्च। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु. 3-2-9) 'तरति शोकमात्मवित्' (छां. 1-1-3) इत्यादि श्रुतेः। न तु लोकान्तरावाप्तिः तज्जन्य-वैषयिकानन्दो वा मोक्षः। तस्य कृतकत्वेनानित्यत्वे मुक्तस्य पुनरावृत्त्यापत्तेः।

अनुवाद—उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति और शोक-दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही मोक्ष कहा जाता है। "ब्रह्म को जानकर ब्रह्म ही हो जाता है।" (बृ.3-2-

9) आत्मा को जानने वाला शोक को पार कर जाता है।'' (छा. 1.1.3) आदि श्रुतियाँ इस विषय में प्रमाण हैं। लोकान्तर की प्राप्ति तथा उस स्वर्गादिलोकान्तर में होने वाले दिव्य विषयों से उत्पन्न होने वाले आनन्द को मोक्ष नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह तो क्रियाजन्य है—कृतक है इसलिए उसमें सातिशयता—सावधित्व—आएगा, और इसलिए वह अनित्य ही होगा, और ऐसा होने पर तो मुक्त पुरुष को भी फिर से संसार की प्राप्ति हो जायगी।

विमर्श—निरवधि सुखात्मक ब्रह्मप्राप्ति ही मोक्ष है। परन्तु उस ब्रह्मप्राप्ति-ब्रह्मज्ञान के हो जाने पर भी जहाँ तक प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं हो जाता, वहाँ तक ब्रह्मज्ञानी को भी कर्मफल भोगना ही पड़ता है। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान होते ही निरवधिसुख अव्यवहित रूप से नहीं हो सकता। परन्तु जीवन्मुक्त पुरुष प्रारब्ध कर्मफल भोगता हुआ भी 'दुःखादि शरीर के ही धर्म है', ऐसा जान लेता है, इसलिए एक तरह से वह शोक से निवृत्त हो जाता है ऐसा अर्थ किया जा सकता है।

ननु त्वन्मतेऽप्यानन्दावाप्तेरनर्थनिवृत्तेश्च सादित्वे तुल्यो दोषः, अनादित्वे मोक्षमुद्दिश्य श्रवणादौ प्रवृत्त्यनुपपत्तिरिति चेत्। न। सिद्धस्यैव ब्रह्मस्वरूपस्य मोक्षस्यासिद्धत्वभ्रमेण तत्साधने प्रवृत्त्युपपत्तेः। अनर्थनिवृत्तिरप्यधिष्ठानभूतब्रह्मस्वरूपतया सिद्धैव। लोकेऽपि प्राप्तप्राप्तिपरिहृत-परिहारयोः प्रयोजनत्वं दृष्टमेव। यथा हस्तगतविस्मृतसुवर्णादौ 'तव हस्ते सुवर्णम्' इत्याप्तोपदेशादप्राप्तमिव प्राप्नोति। यथा वा वलयितचरणायां रज्जौ सर्पत्वभ्रमवतो 'नायं सर्प' इत्याप्तवाक्यात् परिहृतस्यैव सर्पस्य परिहारः। एवं प्राप्तस्याप्यानन्दस्य प्राप्तिः, परिहृतस्यानर्थस्य निवृत्तिः मोक्षः प्रयोजनम्।

अनुवाद—यहाँ शंका की जाती है कि आपके (वेदान्तियों के) मत में भी तो आनन्दप्राप्ति और अनर्थनिवृत्ति 'सादि' (आदि=प्रारंभवाली) ही है और जिसका आंरभ होता है, उसका नाश भी होता है—इस न्याय से दोष तो समान ही है। (तात्पर्य यह है कि आपका मोक्ष भी तो लौकिक सुखों की तरह अनित्य ही हो गया।) फिर भी आप (वेदान्ती) अगर मोक्ष को आनादि सिद्ध ही मानना चाहते हों, तो फिर मोक्ष की प्राप्ति के लिए श्रवण मननादि की कोई उपयुक्तता ही नहीं रहेगी ।

इसका समाधान करते हैं कि, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप मोक्ष तो सर्वदा सिद्ध ही है, परन्तु उसमें 'असिद्ध होने के भ्रम से उसको सिद्ध—प्राप्त—करने के लिए प्रवृति हो ही सकती है। और अनर्थ की निवृत्ति भी **(भ्रम के) अधिष्ठानरूप** ब्रह्मस्वरूप ही होने से सिद्ध ही है। उदाहरण के लिए हम अपने सांसारिक व्यवहार में भी प्राप्त वस्तु की भी प्राप्ति का और निवृत्त वस्तु के भी निवारण का प्रयोजन देखा जाता है। जैसे हाथ में पहने हुए सुवर्ण कंकण की जब विस्मृति हो

जाती है, तब किसी आप्तजन के यह कहने पर कि, 'सुवर्ण कंकण तो तेरे हाथ में ही है'—उस प्राप्त सुवर्णकंकण की भी प्राप्ति, व्यक्ति को हो जाती है। अथवा तो पैर में लिपटी हुई रस्सी को ही भ्रम से साँप मानने वाले व्यक्ति को किसी आप्तजन के द्वारा यह कहे जाने पर कि "यह साँप नहीं है"—, पहले से ही निवृत्त—वहाँ न होते हुए—साँप की निवृत्ति होती हुई देखी जाती है (अप्राप्त का परिहार होता है)। इसी प्रकार प्राप्त आनंद की ही प्राप्ति और परिहृत अनर्थ का ही परिहार मोक्ष है, और वही मोक्ष वेदान्तशास्त्र का प्रयोजन है ।

विमर्श—इसकी पूरी स्पष्टता अनुवाद में ही कर दी गई हैं ।

स च ज्ञानैकसाध्यः 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे. 3-8) इति श्रुतेः, अज्ञाननिवृत्तेर्ज्ञानैकसाध्यत्व-नियमाच्च ।

तच्च ज्ञानं ब्रह्मात्मैक्यगोचरम् । 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ. 4.2.4) तदात्मानमेव वेदाहं ब्रह्मास्मि' (बृ.1.4.10) इति श्रुते; । 'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थं ज्ञानं मोक्षस्य साधनम्' इति नारदीयवचनाच्च ।

अनुवाद—वह मोक्ष ज्ञान से सिद्ध किया जाता है। क्योंकि, "उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु को पार कर सकता है, (मृत्यु को) पार करने का कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं"—ऐसी श्रुति है । और ज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति होती है—ऐसा नियम है । और वह ज्ञान ब्रह्म और आत्मा की एकता को विषय करता है । (उस ज्ञान का विषय ब्रह्मात्मैक्य है। "हे जनक, तू अभय को—ब्रह्म को—प्राप्त हो गया है (बृ.4.2.4), "वह (ब्रह्म) स्वयं को ही, 'मैं ब्रह्म हूँ', ऐसा समझने लगा", (बृ.1.4.10) आदि श्रुतियाँ इस विषय में प्रमाण हैं । और "तत्त्वमसि" इस महावाक्य से उत्पन्न हुआ ज्ञान मोक्ष का साधन है"—इस नारदीय स्मृति का भी इस विषय में प्रमाण है ।

विमर्श—मोक्ष के साधनरूप में केवल ज्ञान ही माना गया है, उपासनादि नहीं, यह बात यहाँ ध्यानार्ह है, बाकी सब सुगम है ।

तच्च ज्ञानमपरोक्षरूपम्! परोक्षत्वेऽपरोक्षभ्रमनिवर्तकत्वानुपपत्तेः । तच्चापरोक्षज्ञानं तत्त्वमस्यादिवाक्यादिति केचित् । मनननिदिध्यासन-संस्कृतान्तःकरणादेवेत्यन्ये ।

अनुवाद—और वह ज्ञान अपरोक्ष रूप ही है, क्योंकि यदि वह परोक्ष माना जाए तो परोक्ष से अपरोक्ष को दूर नहीं किया जा सकता । वह ब्रह्मात्मैक्यपरक अपरोक्ष ज्ञान 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से उत्पन्न होता है, ऐसा पद्मपाद आदि कुछ आचार्य मानते हैं और वाचस्पति मिश्र आदि कुछ आचार्य ऐसा मानते हैं कि मनन, निदिध्यासन आदि से संस्कृत हुए अन्तःकरण से उत्पन्न होता है, ऐसा मानते हैं ।

विमर्शः—जीवात्मा की व्यावहारिक भ्रमावस्था अपरोक्ष है, उसकी निवृत्ति के लिए अपरोक्ष ऐक्यज्ञान ही चाहिए । इसलिए ब्रह्मज्ञान को अपरोक्ष माना गया है । शेष सुगम है ।

तत्र पूर्वाचार्याणामयमाशयः–संविदापरोक्ष्यं न करणविशेषोत्पत्ति-निबन्धनम्, किन्तु प्रमेयविशेष-निबन्धनमित्युपपादितम् । तथा च ब्रह्मणः प्रमातृ-जीवाभिन्नतया तद्गोचरं शब्दजन्य ज्ञानमप्यपरोक्षम् । अत एव प्रतर्दनाधिकरणे प्रतर्दनं प्रति 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमुपास्स्व (कौ. 3-2) इतीन्द्रप्रोक्त-वाक्ये प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वे निश्चिते सति मामुपास्स्वेत्यस्मच्छब्दानुपपत्तिमाशङ्क्य तदुत्तरत्वेन प्रवृत्ते 'शास्त्रदृष्टया तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र. सू. 1.1.31) इत्यत्र सूत्रे शास्त्रीया दृष्टिः शास्त्रदृष्टिरिति तत्त्वमस्यादि-वाक्यजन्यमहं ब्रह्मेति ज्ञानं दृष्टिशब्देनोक्तमिति ।

अनुवाद—इस विषय में पद्मपादाचार्य आदि पूर्वाचार्यों का यह अभिप्राय है कि ज्ञान का अपरोक्षत्व किसी करणविशेष—इन्द्रियविशेष—से होने वाली उत्पत्ति पर आधारित नहीं है, परन्तु प्रमेयगत विशेषता के ऊपर वह प्रत्यक्ष आधारित है । इसके अनुसार प्रमाता (जीव), ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण, ब्रह्मविषयक शाब्दज्ञान भी तो अपरोक्षज्ञान ही होता है । इसीलिए तो ब्रह्मसूत्र के प्रतर्दनाधिकरण में, प्रतर्दन के प्रति "मैं प्राण हूँ, मैं प्रज्ञात्मा हूँ, ऐसे मुझ प्रज्ञात्मा की उपासना आयु और अमृतभाव से करो" (कौ. 3.2)—ऐसे इन्द्र के से कहे गए वाक्य में प्राणशब्द ब्रह्मपरक—ब्रह्म का ही पर्यायवाची—है, ऐसा निश्चित हो जाने पर, 'मामुपास्स्व'—'मेरी उपासना करो'—यहाँ "**मैं**" शब्द की उत्पत्ति नहीं होती है, ऐसी शंका—करके इसके समाधान के लिए, 'शास्त्र दृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र. सू. 1-1-11) "किन्तु, शास्त्रदृष्टि से वामदेव के समान यह उपदेश दिया गया है"—इस सूत्र में जो जो शास्त्रदृष्टि=शास्त्रोत्पन्न दृष्टि—ऐसी शास्त्रदृष्टि का अर्थ, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यजनित, 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसा ज्ञान, 'दृष्टि' शब्द के द्वारा कहा गया है ।

विमर्श—ज्ञान का प्रत्यक्षत्व केवल इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण ही नहीं है, किन्तु प्रमेयगत विशेष पर आधारित है । यह पद्मपादाचार्य (विवरणप्रस्थान) का मत है । उनके मतानुसार ज्ञेयपदार्थ की मन्निधि पर प्रत्यक्षत्व निर्भर है । ब्रह्म और जीव अभिन्न होने से सदासन्निहित ही हैं । अतः 'तत्त्वमसि आदि महावाक्यजनित ज्ञान अपरोक्ष ही होगा । प्रत्यक्षज्ञान की प्रक्रिया तो हम प्रत्यक्ष परिच्छेद में देख ही आए हैं । ब्रह्मसूत्र का (1.1.28-33) प्रतर्दनाधिकरण प्रमाणरूप में यहाँ दिया गया है । कथा है कि दैवोदासि प्रतर्दन इन्द्रलोक गया । वहाँ इन्द्र ने उसे वरदान दिया पर प्रतर्दन ने कहा कि, "तुम मनुष्य के लिए अत्यन्त हितकारी जो समझते हो, वही वरदान मुझे दो" तब इन्द्र ने उसे ब्रह्मज्ञान बताया । उसमें ऊपर का वाक्य आया है कि, "मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूँ, मेरी

उपासना करो ।'' यहां '**प्राण**' शब्द के अर्थ के बारे में पूर्वपक्षी ने 'वायु' आदि बताया, पर सिद्धान्ती ने उसका खण्डन करके 'प्राण' शब्द का अर्थ परब्रह्म ही प्रमाणों से सिद्ध किया । गर्भ में रहते हुए भी जैसे वामदेव को, ''मैं मनु था, मैं सूर्य था''—ऐसा आत्मज्ञान हुआ, वैसे ही शास्त्र दृष्टि से—शास्त्रोपलब्ध दृष्टि से जीव-ब्रह्म की अभिन्नता का अपरोक्षज्ञान होता है । अतः तत्त्वमस्यादि महावाक्य से उत्पन्न, 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसा ज्ञान अपरोक्ष ही है, ऐसा निर्देश प्रत्यक्षवाची 'दृष्टि' शब्द से किया गया है ।

अन्येषां त्वयमाशयः–करणविशेष-निबन्धनमेव ज्ञानानां प्रत्यक्षत्वम्, न विषयविशेष-निबन्धनम् । एकस्मिन्नेव सूक्ष्मवस्तुनि पटुकरणापटुकरणयोः प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्व-व्यवहार-दर्शनात् । तथा च संवित्साक्षात्त्वे इन्द्रियजन्यत्वस्यैव प्रयोजकतया न शब्दजन्य-ज्ञानस्यापरोक्षत्वम् ।

अनुवाद—दूसरे आचार्यों का (भामती प्रस्थान वाले वाचस्पति मिश्र आदि का) तो ऐसा अभिप्राय है कि ज्ञान का प्रत्यक्ष करणविशेष—इन्द्रियविशेष पर ही आधार रखते हैं; विषय विशेष के ऊपर नहीं । क्योंकि एक ही सूक्ष्म विषय में पटुकरण—जिसकी इन्द्रियविशेष अच्छी होती है—ऐसे पुरुष को प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है, जबकि अपटुकरण—जिसकी इन्द्रियविशेष अच्छी नहीं होती—ऐसे पुरुष को प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता । ऐसा लोगों के व्यवहार में देखा जाता है । उसी प्रकार संवित् के साक्षात्कार में भी इन्द्रियजन्यता को ही प्रयोजन मानने से शब्दज्ञान में अपरोक्ष नहीं है ।

विमर्श—वाचस्पति श्रवणमनननिदिध्यासन से संस्कृत मन से ही प्रमा का अपरोक्षत्व मानते हैं । इससे वे शब्दजन्य ज्ञान की अपरोक्षता का स्वीकार नहीं करते। उनका मत लौकिक व्यवहार के उदाहरण से ऊपर स्पष्ट किया गया है । उसी का विवरण नीचे और अधिक दिया जाता है ।

ब्रह्मसाक्षात्कारेऽपि मनननिदिध्यासनसंस्कृतं मन एव करणम्, 'मनसैवानुदृष्टव्यः इतयादिश्रुतेः । मनोऽगम्यत्वश्रुतिश्चासंस्कृत-मनोविषया । न चैवं ब्रह्मण औपनिषदत्वानुपपत्तिः, अस्मदुक्तमनसो वेदजन्यज्ञानान्तरमेव प्रवृत्ततया वेदोपजीवितत्वात् । वेदानुप-जीविमानान्तरगम्यत्वस्यैव वेदगम्यत्वविरोधित्वात् ।

अनुवाद—ब्रह्म के साक्षात्कार में भी मनन और निदिध्यासनादि से सुसंस्कृत किया गया मन ही करण है, क्योंकि ''मनसैवानुदृष्टव्यम्''—''मन से ही वह ब्रह्म देखा जा सकता है''—इत्यादि श्रुति उसमें प्रमाण है । जो श्रुति ''ब्रह्म मन से अगम्य है''—ऐसा बताती है, उसका अभिप्राय तो ''ब्रह्म असंस्कृत मन का विषय नहीं है'—ऐसा कहने का है । इस पर भी यदि यह शंका की जाए कि तब तो ब्रह्म का औपनिषदत्व

अनुपपन्न हो जायगा, तो उसका समाधान यह है कि हमारा बताया गया मन, वेदजन्य ज्ञान के बाद ही प्रवृत्त होता है । क्योंकि वह वेदोपजीवी है । और जो वेदोपजीवी प्रमाण नहीं है, ऐसे ही प्रमाणान्तर वेदगम्यत्व के (औपनिषदत्व के) विरोधी होते हैं ।

विमर्श—ब्रह्म की उपनिषद्मात्रगम्यता, संस्कृतमन की विरोधी नहीं है क्योंकि वेदजन्यज्ञान के बाद ही मनननिदिध्यासन किया जाता है । यहाँ "मनसैवानुदृष्टव्यम्" "तं त्वोपनिषदे पुरुषं पृच्छामि", "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इत्यादि परस्पर विरोध दिखाई देने वाली श्रुतियों का अच्छी तरह समन्वय करके उनकी एकवाक्यता सिद्ध की गई है । सुन्दर समाधान किया गया है ।

शास्त्रदृष्टिसूत्रमपि ब्रह्मविषयमानसप्रत्यक्षस्य शास्त्रप्रयोज्यत्वादुपपद्यते । तदुक्तम्–

अपि संराधने सूत्राच्छास्त्रार्थ-ध्यानजा प्रमा ।
शास्त्रदृष्टिर्मता तां तु वेत्ति वाचस्पतिः परम् ॥ इति ॥

अनुवाद—जो शास्त्रदृष्टि सूत्र है (शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ब्र. सू. 1-1-31), वह भी उपपन्न हो सकता है, क्योंकि ब्रह्मविषयक मानस प्रत्यक्ष (अर्थात् सुसंस्कृत मन के द्वारा ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान) शास्त्रप्रयोज्य शास्त्रमूलक ही तो है । इस विषय में पारंगत वाचस्पति मिश्र की सम्पति है कि शास्त्र के अर्थों का ध्यान करने से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही 'शास्त्रदृष्टि' है, और 'अपि संराधने' इस सूत्र में इसी शास्त्रदृष्टि का अर्थ समझना चाहिए'—ऐसा वाचस्पति का मत है ।

विमर्श—यहाँ वाचस्पति के मतानुसार 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' इस सूत्र की उपपत्ति बताई गई है । यहाँ 'शास्त्रदृष्टि का अर्थ शब्दजन्यज्ञान ही नहीं है, परन्तु मानसिक—मनोजन्य ज्ञान ही है । अर्थात् ब्रह्म का प्रत्यक्ष विवरणसम्मत शब्दजन्यज्ञान नहीं पर मनोजन्यज्ञान ही है । क्योंकि शास्त्रार्थ के ध्यान से जो प्रमा-ज्ञान होता है, वही शास्त्रदृष्टि है । ऊपर का—मूल का—श्लोक वाचस्पति की शांकरभाष्य पर की हुई भामती टीका के ऊपर 'कल्पतरु' नामकी टीका लिखने वाले अमलानन्द का है । 'अपि संराधने'—इस सूत्र में श्रुति की संज्ञा 'प्रत्यक्ष' है, और स्मृति की संज्ञा 'अनुमान' है, इस प्रकार श्रुति और स्मृति के ज्ञानों को मिलाकर ही 'शास्त्र दृष्टि' होती है । अर्थात् शास्त्रों की = श्रुतिस्मृति की—दृष्टि=ज्ञान ही 'शास्त्रदृष्टि' है, ऐसा वाचस्पति मिश्र का मत है ।

तच्च ज्ञानं पापक्षयात् । स च कर्मानुष्ठानादिति परम्परया कर्मणां विनियोगः। अत एव 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ. 4-4-22) इत्यादिश्रुतिः 'कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते' इत्यादिस्मृतिश्च सङ्गच्छते।

अनुवाद—(और) वह ज्ञान पापों के क्षय से होता है (और) वह (पापक्षय) कर्मों के अनुष्ठान से होता है । इस प्रकार परम्परा से कर्मों का ज्ञानप्राप्ति में विनियोग होता है। (कर्मों से पापक्षय होता है और पापक्षय हो जाने पर ज्ञान होता है—इस तरह परम्परा से कर्मों का ज्ञान प्राप्ति में उपयोग है ।) इसलिए ही "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति ज्ञानेव दानेन तपसाऽनाशकेन"—"उस परमेश्वर को वेदान्तवचन, यज्ञ, दान, तप, और समुचित आहार से ब्राह्मण लोग जानना चाहते हैं,"—ऐसी श्रुति है । तथा "कषाये कर्मभिः पक्वे, ततो ज्ञानं प्रवर्तते"—"जब सत्कर्मों से पाप पक जाता है, तब ज्ञान की प्रवृत्ति होती है,"—ऐसी स्मृति भी है ।

विमर्श—कर्मों का ब्रह्मज्ञान में उपयोग है, अब श्रवण-मननादि का उपयोग बाद में बताया जाता है । बाकी सब सुगम है ।

एवं श्रवण-मनन-निदिध्यासनान्यपि ज्ञान-साधनानि । मैत्रेयी-ब्राह्मणे आत्मा वा अरे दृष्टव्यः' (बृ. 2-4-4) इति दर्शनमनूद्य तत्साधनत्वेन 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ. 2-4-4) इति श्रवण-मनन-निदिध्यासना नां विधानात् ।

अनुवाद—(पूर्वोक्त वेदानुवचनादि के उपरान्त) इस तरह श्रवण, मनन और निदिध्यासन भी ज्ञान प्राप्ति के साधन हैं । मैत्रेयी ब्राह्मण में (बृहदारण्यकोपनिषद् में मुनि याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी, जो कि ब्रह्मवादिनी थी, के बीच संवादप्रसंग में, "इस आत्मा का दर्शन (साक्षात्कार) करना चाहिए"—इस तरह आत्मज्ञान को उद्दिष्ट करके (फिर उसके साधन रूप में) "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"—"उसका श्रवण करना चाहिए, ममन (चिन्तन) करना चाहिए, उसका ध्यान करना चाहिए"—इस प्रकार श्रवण, मनन और निदिध्यासन का विधान किया गया है ।

तत्र श्रवणं नाम वेदान्तानामद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्याव धारणानुकूला मानसी क्रिया। मननं नाम शब्दावधारितेऽर्थे मानान्तरविरोधशङ्कायां तन्निराकरणानुकूलतर्कात्मकज्ञानजनको व्यापारः । निदिध्यासनं नाम अनादि-दुर्वासनया विषयेष्वाकृष्यमाण चित्तस्य विषयेभ्योऽपकृष्यात्मविषयकस्थैर्यानुकूलो मानसो व्यापारः।

अनुवाद—उनमें 'श्रवण' का अर्थ है—"वेदान्तों के अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य है, ऐसा निश्चय करने के लिए अनुकूल मानसिक क्रिया ।" और 'मनन' का अर्थ है—"श्रवण के द्वारा—शब्दों से निश्चित किए गये अर्थ के बारे में दूसरे प्रमाणों के विरोध की शंका होने पर, उस अन्यान्य प्रमाण के विरोध के निराकरण के लिए तर्करूप ज्ञान को उत्पन्न करने वाला मानस व्यापारक्षेत्र तथा 'निदिध्यासन' का अर्थ है—"अनादि दुर्वासनाओं से विषयों में आकृष्ट हुए चित्त को विषयों से हटाकर आत्यविषयक स्थिरता के अनुकूल मानसी क्रिया ।"

विमर्श—अद्वैतपरकता ही वेदान्त का तात्पर्य है, ऐसा श्रवण से निश्चय तो होता है, पर व्यावहारिकता से अद्वैत का मेल नहीं बैठता । इस मेल को बिठाने के लिए 'जगत कादाचित्क है'—आदि तर्कात्मक ज्ञानरूप मनन की उपयोगिता है इससे ब्रह्म की पारमार्थिकता दृढ़ होती है, त्रिकुटिलय और तुर्यावस्था में श्रद्धा दृढ़तर होती है, बाद में इधर-उधर भटकते हुए चित्त को आत्मा में स्थिर करने के लिए विषयों से मन को खींचकर आत्मा में स्थिर करने की ध्यान की क्रिया होती है, वही 'निदिध्यासन' है । 'निदिध्यासन' शब्द 'नि' उपसर्गपूर्वक 'ध्या' धातु की इच्छादर्शक संज्ञा (सन्नन्त) है । 'ध्यान' करने की इच्छा का कार्य'—ऐसा उसशब्द का अर्थ है । तो वह कार्य यही है कि ध्यान में स्थिरता प्राप्त करने के लिए बार-बार प्रयत्न करना चाहिए ।

तत्र निदिध्यासनं ब्रह्मसाक्षात्कारे साक्षात्कारणम्। 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे. 1-3) इत्यादिश्रुतेः। निदिध्यासने च मननं हेतुः, अकृतमननस्यार्थदार्ढ्याभावेन तद्विषये निदिध्यासनायोगात्। मनने च श्रवणं हेतुः, श्रवणाभावे तात्पर्यानिश्चयेन शाब्दज्ञानाभावेन श्रुतार्थविषयक-युक्तत्वायुक्तत्व-निश्चयानुकूलमननायोगात्। एतानि त्रीण्यपि ज्ञानोत्पत्तौ करणानीति केचिदाचार्या ऊचिरे।

अनुवाद—(श्रवण, मनन और निदिध्यासन) इन तीनों में निदिध्यासन ब्रह्मसाक्षात्कार में साक्षात् कारण है । ''ते ध्यानयोगानुगता''—1-3)—''उन ऋषियों ने ध्यानयोग की सहायता से अपने गुणों से ढँकी हुई देवात्मशक्ति को देखा ।'' इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है । इस निदिध्यासन में मनन हेतुरूप होता है, क्योंकि जिसने मनन नहीं किया होता, उस मनुष्य को वस्तु की दृढ़ता नहीं हो सकती, और इसी कारण से उस मनुष्य में प्रकृत विषय का ध्यान करने की योग्यता नहीं रहती । एवं उस मनन का हेतुरूप श्रवण होता है । क्योंकि श्रवण के अभाव में शब्दज्ञान का अभाव होता है, और तात्पर्य का निश्चय नहीं हो सकता । और इसलिए सुने हुए विषय की योग्यता या अयोग्यता का निश्चयरूप जो मनन है, इसकी अयोग्यता ही रहती है । अतः ज्ञान की उत्पत्ति में ये तीनों समानरूप से कारण हैं—ऐसा कुछ आचार्यों का (वाचस्पति मिश्र आदि आचार्यों का कहना है ।

विमर्श—ब्रह्मसाक्षात्कार में श्रवण, मनन और निदिध्यासन की क्रमिकता है, इसमें निदिध्यासन अन्तिम सोपान है, उसके बाद अव्यवहितरूप से ब्रह्मसाक्षात्कार होता है । श्रवण-मनन-निदिध्यास, परस्परावलम्बित सोपानों की एक सीढ़ी है । इसलिए श्रवणमननविशिष्ट निदिध्यासन से ब्रह्म साक्षात्कार होता है, यह तात्पर्य है । निदिध्यासन मुख्य है, श्रवण मनन उसके अंगभूत हैं—ऐसा भामतीकार वाचस्पति मिश्र का मानना है ।

अपरे तु–श्रवणं प्रधानम्, मनन-निदिध्यासनयोस्तु श्रवणात्परा-चीनयोरपि श्रवणफल-ब्रह्मदर्शन-निर्वर्तकतया आरादुपकाराङ्गत्वम् मित्याहु। तदप्यङ्गत्वं, न तार्तीविशेषत्वरूपम्। तस्य श्रुत्याद्यन्यतमप्रमाणगम्यस्य प्रकृते श्रुत्याद्यन्यतमाभावेऽसम्भवात्।

अनुवाद—परन्तु, दूसरे (विवरणकार आदि आचार्यों) वेदान्तियों का यह मत है कि श्रवण ही ब्रह्मसाक्षात्कार का मुख्य कारण है। मनन और निदिध्यास भले ही श्रवण के बाद में, उत्तरांग के रूप में दिए गये हों, परन्तु श्रवण के फलस्वरूप ब्रह्मज्ञान के निष्पदन होने से उन्हें आरात् = सन्निहित उपकारक अंग ही माना जाता है। और वह अंगत्व भी मीमांसादर्शन के तृतीय अध्याय में बताया हुआ शेषस्वरूप तो है ही नहीं। क्योंकि वह शेषरूप अंगत्व तो श्रुति आदि (श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या) किसी न किसी प्रमाण से गम्य रहता है। यहाँ प्रकृत में तो उन छः में से किसी प्रमाण के न होने से ऐसा शेषत्वरूप अंग संभव नहीं है।

विमर्श—विवरणाचार्य श्रवण को ब्रह्मदर्शन में प्रधान कारण मानते हैं। मनननिदिध्यासन को वे श्रवण का अंगभूत साधन समझते हैं। **'अगत्व'** और **'शेषत्व'** पूर्वमीमासकों के पारिभाषिक शब्द हैं। मीमांसादर्शन के तीसरे अध्याय में उस 'शेषत्व' का लक्षण दिया गया है, उसमें अंगत्व-शेषत्व का निर्णय किया गया है। वह तृतीय अध्याय है, इसलिए उसे 'तार्तीयशेषत्व' कहा है। इस शेषत्व की व्याख्या, 'शेषः परार्थत्वात्'—(मी.3.2.1) में की गई है। दूसरे के लिए उपयोगी होने को 'शेषत्व' कहा जाता है। अब हम पूछेंगे कि क्या मीमांसा के बताए गए मानदण्ड के अनुसार मनन और निदिध्यासन श्रवण के 'शेष' (अंग) हो सकते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में विवरणवादी वेदान्ती यह बताते हैं कि मनन और निदिध्यासन समीप रहकर श्रवणफल की प्राप्ति में भले ही उपकारक बनते हों (आरात् उपाकाराङ्गत्वम्) परन्तु मीमांसकों का बताया हुआ तृतीयाध्याय का (तार्तयिक) शेषत्व का लक्षण तो यहाँ लागू नहीं किया जा सकता। क्योंकि मीमांसकानुसार शेषत्व का निर्णय तो श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या—इन छः मानदण्डों से होता है, और यहाँ प्रकृत में तो उनमें से कोई भी (एक भी) नहीं है। इसलिए मीमांसकसम्मत शेषत्व से श्रवणमनन को नहीं नापा जा सकता। यह विवरणकार का मत है। वाचस्पति मिश्र के मत में मन से ही साक्षात्कार होता है, शब्द से नहीं। इसलिए मन के द्वारा फल की उत्पत्ति में उनके मत में निदिध्यासन ही साक्षात् उपकारक है (आरात् नहीं)। और इस निदिध्यासन के ही अंगभूत श्रवण और मनन हैं, ऐसा भामतीकार (वाचस्पति मिश्र) मानते हैं, परन्तु शब्द से ही साक्षात्कार मानने वाले विवरणकार, वाचस्पति के मत को नहीं मानते। क्योंकि वे श्रवण को प्रधान मानते हैं।

तथा हि, 'व्रीहिभिर्यजेत', 'दध्ना जुहोति' इत्यादाविव मनननिदि-

ध्यासनयोरङ्गत्वे न काचित् तृतीया श्रुतिरस्ति । नापि 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इत्यादिमन्त्राणां बर्हिःखण्डनप्रकाशनसामर्थ्यवत् किञ्चिल्लिङ्गमस्ति । नापि प्रदेशान्तरपठितप्रवर्ग्यस्याग्निष्टोमे प्रवृणक्तीति वाक्यवच्छ्रवणानुवादेन मननिदिध्यासनयोर्विनियोजकं किञ्चिद्वाक्यमस्ति । नापि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'-इति वाक्यावगतफलसाधनताकदर्शपूर्णमासप्रकरणे प्रयाजादीनामिव फलसाधनत्वेनावगतस्य श्रवणस्य प्रकरणे मनन-निदिध्यासनयोराम्नानम्।

अनुवाद—(अब मीमांसोक्त अंगबोधक श्रुति-लिंगादि छहों प्रमाणों में से एक भी प्रकृत में दिखाई नहीं देता यह बताते हैं कि) जैसे कि, 'व्रीहि से याग करें,' 'दही से हवन करें'—इस प्रकार की कोई भी तृतीया श्रुति मनन-निदिध्यासन का अंगत्व बताने वाली है नहीं । और इसी तरह, जिस प्रकार 'देवता के आसन के लिए 'हे दर्भ! तुमको काटता हूँ'—इत्यादि मन्त्रों में दर्भच्छेदन के अर्थ का प्रकाशन करने का जैसा सामर्थ्य है, ऐसा सामर्थ्य बताने वाला कोई लिंग भी नहीं है । और भी इसी तरह अन्यत्र बताए गए प्रवर्ग्य का अगिष्टोम में, 'प्रवर्ग्यरूप कर्म करें' (प्रवृणक्ति)—इस प्रकार के वाक्य के समान श्रवण का अनुवाद करके मनन और निदिध्यासन का विनियोग करने वाला कोई वाक्य भी तो नहीं है । और भी आगे जिस तरह ''स्वर्ग की कामना वाले पुरुष को दर्शपूर्णमासयज्ञ करना चाहिए''—इस वाक्य में जिस तरह फल के साधनभूत दर्शपूर्णमास यज्ञ जाना जाता है, और उस दर्शपूर्णमास यज्ञ के प्रकरण में ही प्रयाजादि के होने से प्रयाजादि की भी फलसाधकता में साधनरूप में (अंगरूप में) गणना होती है, इस प्रकार श्रवण के प्रकरण में मनन-निदिध्यासन का कोई पाठ—कोई कथन भी दिखाई नहीं देता ।

विमर्शः—मीमांसादर्शन का (3-3-14) का सूत्र यह है—''श्रुति-लिंग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानांपाददौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् ।'' इस सूत्र से जाना जा सकता है कि इन छहों मानदण्डों का प्रामाण्य उत्तरोत्तर घटता जाता है । अर्थात् पूर्व प्रमाण की अपेक्षा दूसरा प्रमाण कम बल वाला होता है । दूसरे—पीछे दिए गये प्रमाण की अपेक्षा पहले दिया गये प्रमाण अधिक बल वाला होता है । वेदान्तपरिभाषाकारने इसीलिए सर्वाधिक बलशाली प्रमाण को यहाँ पहले लिया है । और तारतम्य से विवरणाचार्य के मत का ख्याल करवाया है । विवरणाचार्य मानते हैं कि ममन और निदिध्यासन श्रवण के अंग तो हैं, परन्तु उनका वह अंगत्व मीमांसादर्शन के तीसरे अध्याय के शेषत्व रूप अंगत्व से बिल्कुल ही अलग है । मीमांसोक्त शेषत्व के लिए तो श्रुत्यादि छः प्रमाणों में से किसी एक की अपेक्षा रहती ही है । पर प्रस्तुत में तो उन छहों में से एक का भी संभव नहीं देखा जाता ।

ननु 'द्रष्टव्यः इति दर्शनानुवादेन श्रवणे विहिते सति फलवत्तया श्रवणप्रकरणे तत्सन्निधावाम्नातयोर्मनननिदिध्यासनयोः प्रयाजन्यायेन प्रकरणादेवाङ्गतेति चेन्न। 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्'- इत्यादि श्रुत्यन्तरे ध्यानस्य दर्शनसाधनत्वेनावगतस्याङ्गाकाङ्क्षायां प्रयाजन्यायेन श्रवण-मननयोरेवाङ्गतापत्तेः। क्रमसमाख्ये च दूरनिरस्ते।

अनुवाद—(इस पर पूर्वपक्षी की) शंका यह है कि मीमांसोक्त प्रकरण प्रमाण के द्वारा तो मनन और निदिध्यासन श्रवण के अंग हो सकते हैं ।) शंका यह है कि— "आत्मा वा अरे दृष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्याः"—इस श्रुति में दर्शन के उद्देश्य से अनुवाद करके श्रवण का विचार करने पर, श्रवण के बलवान होने से (क्योंकि श्रवण को आत्मसाक्षात्कार का प्रधान हेतु माना गया है ।) श्रवण-प्रकरण में श्रवण के सन्निधि—नजदीक—ही—बताए गए मनन और निदिध्यासन प्रयाजन्याय से ही—प्रकरण प्रमाण से ही श्रवण के अंग हैं ही ।

तो इस शंका का समाधान है कि, यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसा मानने पर तो, "उन्होंने ध्यानयोग से देखा"—आदि अन्य श्रुतियों से ऐसा प्रतीत होगा कि दर्शन का साधन ध्यान है । और ऐसा होने पर तो उस ध्यान के अंग कौन-कौन है, ऐसी आकांक्षा होने पर प्रयाजन्याय से श्रवण और मनन का ही अंगत्व मानना पड़ेगा। क्रम और समाख्या तो (मीमांसोक्त अन्स्य दो प्रमाण) तो दूर ही रहे । (उनकी चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है) ।

विमर्श—श्रवण प्रकरण में मनन-निदिध्यासन का अंगत्व बताने वाली कोई भी श्रुति नहीं है । इस पर एक पूर्वपक्षी प्रश्न उठता है कि दर्शन के उद्देश्य से ही श्रवण का विधान किया गया है और श्रवण के मसीप ही तो मनन और निदिध्यासन रखे गए हैं । तो जिस तरह प्रयाजादि के स्वतंत्र फल नहीं हैं, और वे प्रयाजादि, फलदायक दर्शपूर्णमास के अंग माने गए हैं, ठीक उसी तरह फलदायक श्रवण के अंगरूप में मनन और निदिध्यासन का स्वीकार करना चाहिए भले ही वे प्रयाजादि की तरह ही स्वतंत्र फल देने वाले न हों । पूर्वपक्षी की इस शंका का समाधान करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि—'ते ध्यान योगानुगता.....' इत्यादि श्रुति में आत्मदर्शन का साधन ध्यान बताया गया है । तो उस ध्यान के अंगों की आकांक्षा उत्पन्न होने पर उसी पूर्व कथित प्रयाजन्याय से श्रवण और मनन भी ध्यान के अंग बन जाएँगे । कहने का तात्पर्य यह है कि श्रवणक्रिया के अंगरूप मनन और निदिध्यासन हैं, या कि ध्यान के अंग श्रवण-मनन हैं, इसका निर्णय करने के लिए प्रयाजन्याय को लागू नहीं किया जा सकता । अर्थात् वह अंगोगिभाव प्रयाजन्याय को लागू नहीं किया जा सकता । अर्थात् वह अंगांगिभाव प्रयाजन्याय से निर्णीत नहीं किया जा सकता ।

किञ्च प्रयाजादावङ्गत्वविचारः सप्रयोजनः । पूर्वपक्षे विकृतिषु न

प्रयाजाद्यनुष्ठानं सिद्धान्ते तु तत्रापि तदनुष्ठानमिति । प्रकृते तु श्रवणं न कस्यचित्प्रकृतिः, येन मनन-निदिध्यासनयोस्तत्राप्यनुष्ठान-मङ्गत्वविचारफलं भवेत् । तस्मान्न तार्तीयशेषत्वं मननदिध्यासनयोः । किन्तु यथा घटादिकार्ये मृत्पिण्डादीनां प्रधानकारणता, चक्रादीनां सहकारिकारणतेति प्राधान्याप्राधान्यव्यपदेशः, तथा श्रवणमनन-निदिध्यासनानाममिति मन्तव्यम् ।

अनुवाद—(प्रयाजादि दर्शपूर्णमास के अंग हैं या नहीं उसके बारे में विचार करने की) एक और भी बात (कारण) है (प्रयोजन है) वह यह कि वहाँ पूर्वपक्षी कहता है कि दर्शपूर्णमास के विकृति यागों में प्रयाज की आवश्यकता नहीं है, परन्तु सिद्धान्ती के मत में तो विकृतियागों में भी प्रयाजादि की आवश्यकता है ही । यहाँ प्रस्तुत विषय में तो श्रवण किसी कर्म की प्रकृति ही नहीं है, कि जिस कारण से मनन और निदिध्यासन का उसकी विकृति में अनुष्ठान का प्रसंग उपस्थित हो । और उस अंगत्व के विचार का कोई फल हो । परन्तु, जैसे घटादि कार्य के प्रति मिट्टी के पिण्ड आदि की मुख्य कारणता है और चक्र आदि की सहकारी करणता होती है, इसी प्रकार जैसे प्रधानता और अप्रधानता का व्यपदेश होता है वैसे ही यहाँ (प्रस्तुत में भी) श्रवण, मनन और निदिध्यासन में प्रधानता और अप्रधानता का व्यपदेश कर देना चाहिए । (अर्थात् श्रवण को प्रधान और मनन—निदिध्यासन को अप्रधान मानना चाहिए ।)

विमर्श—प्रयाजादि को दर्शपूर्णमास का अंग मानने और न मानने के विचार इस लिए सहेतुक हैं कि यदि वे अंग हों, तो दर्शपूर्णमास की विकृति में भी उनका अनुष्ठान करना होगा, और अगर अंग न हों, तो विकृति में उनके अनुष्ठान आवश्यक नहीं है । इस तरह का श्रवण में तो कोई प्रश्न ही नहीं है—श्रवण की विकृति तो कहीं उल्लिखित नहीं है । इसलिए यहाँ तो अंगांगिभाव का कोई सवाल नहीं उठता । आत्मदर्शन के लिए श्रवण प्रधान कारण है, और मनन-निदिध्यासन सहकारि कारण है, यही निश्चय है, इसमें तार्तविशेषत्व की कोई बात ही नहीं है ।

सूचितं चैतद्विवरणाचार्यैः–"शक्तितात्पर्यविशिष्टशब्दावधारणं प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानेन कारणं भवति, प्रमाणस्य प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानात्। मनन-निदिध्यासने तु चित्तस्य प्रत्यगात्मप्रवणता संस्कारपरिनिष्पन्नतदेकाग्रवृत्तिकार्यद्वारेण ब्रह्मानुभवहेतुतां प्रतिपद्येते इति फलं प्रत्यव्यवहितकरणस्य तात्पर्यविशिष्टशब्दावधारणस्य व्यवहिते मनन-निदिध्यासने तदङ्गेऽङ्गीक्रियेते" इति।

अनुवाद—विवरणाचार्य ने यह सूचित किया है कि, "शक्ति और तात्त्पर्य से विशिष्ट शब्द का ज्ञान, प्रमेय के ज्ञान में, (आत्मब्रह्मैक्यरूप वाक्यार्थ में) साक्षात् कारण

होता है, कयोंकि प्रमेय के ज्ञान में प्रमाण साक्षात् कारण होता है । परन्तु, जो मनन और नियिध्यासन हैं, वे चित्त की प्रत्यगात्मप्रवण (अंतरात्मा से संलग्न) संस्कारों से निष्पन्न एकाग्रवृत्ति (ब्रह्मैकाग्रवृत्ति) को कराकर ब्रह्मानुभव के कारण बनते हैं । इसलिए फल (आत्म-ब्रह्मैक्यरूप वाक्यार्थज्ञान) के साक्षात् कारण रूप जो 'शक्तितात्पर्यविशिष्ट शब्द-ज्ञान' है, उसमें मनन और निदिध्यासन साक्षात् कारण न होते हुए भी उसके (साक्षात् कारण के) अंगरूप में—सहकारी कारण के रूप में—स्वीकृत किए गए हैं ।''

विमर्श—जीव-ब्रह्म की एकतारूप वाक्यार्थज्ञान में, शक्ति और तात्पर्य से विशिष्ट शब्दज्ञान की आवश्यकता है । इसी से प्रमेय का साक्षात् ज्ञान होता है । मनन और निदिध्यासन ऐसे शब्दज्ञान की अपेक्षा गौण हैं, अतः उनका श्रवणांगरूप से स्वीकार करना चाहिए । ऐसा विवरणाचार्य कहना है ।

श्रवणदिषु च मुमुक्षूणामधिकारः । काम्ये कर्मणि फलकामस्याधिकारित्वात् । मुमुक्षायां च नित्यानित्यवस्तुविवेकस्येहामुत्रार्थफलभोगविरागस्य शमदमोपरति-तितिक्षासमाधानश्रद्धानां च विनियोगः ।

अनुवाद—श्रवण आदि का अधिकार मुमुक्षुओं को ही होता है । क्योंकि काम्य कर्मों में तो जो फल-कर्मफल की इच्छा करते हैं उनका ही अधिकार होता है । और मुमुक्षा में—मुक्त होने की इच्छा में, (1) नित्यानित्यवंस्तुविवेक, (2) इहामुत्रफलभोगविराग (3) शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा का उपयोग होता है ।

विमर्श—योग्य अधिकार के बिना फल प्राप्ति नहीं होती और अधिकार विषयानुकूल सज्जता को कहते हैं । किसी विषय को प्राप्त करने से पहले सज्जता आवश्यक है । जैसा विषय वैसी सज्जता होती है मुमुक्षु की सज्जता अलग है और फलवांछु की सज्जता अलग होती है । सज्जता विषयानुकूल होनी चाहिए । यहाँ मुमुक्षु की सज्जता बताई गई है । मुमुक्षु के लिए (1) नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक (2) इहलोक और परलोक के कर्मफलों को भोगने से वैराग्य, (3) शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा—ये छः साधन—ये तीन बातें आवश्यक हैं और मुक्त होने की तीव्र इच्छा तो पहले से ही बनी है—इन चारों को मिलाकर वेदान्त में 'साधनचतुष्टय' कहा जाता है।

अन्तरिन्द्रियनिग्रहः शमः। बहिरिन्द्रियनिग्रहो दमः। विक्षेपाभाव उपरतिः। शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनं तितिक्षा। चितैकाग्र्यं समाधानम्। गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा ।

अनुवाद—अन्तरिन्द्रिय—अन्तःकरण के निग्रह को 'शम' कहते हैं । (अर्थात् वेदान्तप्रतिपादित पदार्थ के सिवा अन्य किसी भी पदार्थ के संसर्ग से निवृत्ति को शम कहा जाता है ।) बाह्य इन्द्रियों के—पाँच ज्ञानेन्द्रियादि के निग्रह को—संयम को—'दम' कहते हैं । विक्षेप के अभाव को उपरति कहते हैं (बाहरी-भीतरी विषयों में होने

वाली इन्द्रियवृत्ति को विक्षेप कहते हैं, और ऐसे विक्षेप के अभाव को उपरति कहते हैं ।) शीत-उष्ण (सुखःदुखादि) छन्द्वों की सहनशीलता को तितिक्षा कहा जाता है । चित्त की एकाग्रता को समाधान कहते हैं, और गुरुवचनों एवं वेदान्तवाक्यों पर विश्वास का नाम श्रद्धा है ।

विमर्श—सब कुछ स्पष्ट ही है ।

अत्रोपरमशब्देन संन्यासोऽभिधीयते, तथा च संन्यासिनामेव श्रवणाधिकार इति केचित्। अपरे तु उपरमशब्दस्य संन्यासवाचकत्वाभावाद् विक्षेपमात्राभावमात्रस्य गृहेष्वपि सम्भवात् जनकादेरपि ब्रह्मविचारस्य श्रूयमाणत्वात्सर्वाश्रमसाधारणं श्रवणादि-विधानमित्याहुः ।

अनुवाद—कुछ वेदान्तियों का ऐसा मत है कि यहाँ 'उपरम' (उपरति) शब्द से संन्यास का कथन किया गया है, इसलिए सन्यासियों का ही श्रवण में अधिकार है । परन्तु अन्य वेदान्ती कहते हैं कि उपरम (उपरति) शब्द संन्यास का वाचक नहीं है, किन्तु विक्षेपाभाव का वाचक है । और विक्षेपाभाव तो गृहस्थों में भी हो ही सकता है, क्योंकि जनक आदि गृहस्थाश्रमियों ने ब्रह्म विचार किया है, ऐसा सुना ही जाता है । इसलिए सभी आश्रमियों का श्रवण में अधिकार है (यह मत वाचस्पति मिश्र आदि का है ।)

विमर्श—सब कुछ स्पष्ट ही है ।

सगुणोपासनमपि चित्तैकाग्र्यद्वारा निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कारे हेतुः। तदुक्तम्-

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥ 1 ॥

वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥ 2 ॥

अनुवाद—सगुण ब्रह्म की उपासना भी चित्त की एकाग्रता से निर्विशेष—निर्गुण-ब्रह्म के साक्षात्कार का कारण बन सकती है । (कल्पतरुकार ने) कहा है कि "जो लोग निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं उन मन्द—कम बुद्धि वाले—लोगों के लिए श्रुति ने अनुकम्पा करके सविशेष ब्रह्म—सगुण ब्रह्म—का निरूपण किया है । सगुण ब्रह्म के अभ्यास—उपासना—के द्वारा चित्त के वशीभूत होने पर, उपाधि कल्पना से रहित उसी निर्विशेष—निर्गुण ब्रह्म का उन्हें (सगुणोपासकों को) भी साक्षात्कार हो जाता है ।

विमर्श—मन्दों पर अनुकम्पा करने वाली श्रुति का उदाहरण—"य एषोऽन्तरादित्ये

हिरण्मयो पुरुषो दृश्यते''—इत्यादि छान्दोग्यश्रुति है । (आदित्य में जो हिरण्मय पुरुष दीखता है, वह ब्रह्म है ।)

सगुणोपासकानां चार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं गतानां तत्रैव श्रवणादुत्पन्नतत्त्वसाक्षात्काराणां ब्रह्मणा सह मोक्षः। कर्मिणां तु धूमादिमार्गेण पितृलोकं गतानामुपभोगेन कर्मक्षये सति पूर्वकृत-सुकृतदुष्कृतानुसारेण ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु पुनरुत्पत्तिः। तथा च श्रुतिः- 'रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते, कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्यन्ते'। (छा. 5-10-1) इति।

प्रतिषिद्धानुष्ठायिनां तु रौरवादिनरकविशेषेषु तत्तत्पापोचितं तीव्रदुःखमनुभूय श्वशूकरादितिर्यग्योनिषु स्थावरादिषु चोत्पत्तिरित्यलं प्रसङ्गादागतप्रपञ्चेनेति।

अनुवाद—सगुण ब्रह्म के उपासक अर्चिरादि मार्ग में ब्रह्मलोक में जाते हैं और वहीं—ब्रह्मलोक में ही—उन्हें श्रवण आदि के द्वारा तत्त्वसाक्षाकार होता है, और वे ब्रह्मा के साथ ही मोक्ष प्राप्त करते हैं । किन्तु जो लोग कर्मा—कर्म करने वाले हैं, वे धूमादिमार्ग से पितृलोक में जाते हैं और वहाँ कर्मफलों के उपभोग करने पर जब कर्मों का क्षय होता है, तब पहले किए गये सुकृत (पुण्यों) और दुष्कृत (पापों) के अनुसार ब्रह्मा से लेकर स्थावर पदार्थों तक जन्मों में फिर उत्पन्न होते हैं । इसके लिए यह श्रुति है कि, ''रमणीयचराणा रणीयां योनियापद्यन्ते कपूयचराणा कपूयां योनिमापद्यते ।''— ''रमणीय आचरण वाले लोगों को रमणीय योनि प्राप्त होती है, और पापाचरण करने वाले लोगों को पाप योनि प्राप्त होती है''—(छा. 5-10-1) निषिद्ध कर्म करने वाले को रौरव आदि नरकों में उस उस पाप के योग्य तीव्र दुःख का अनुभव करके कुत्ते, सुअर आदि क्षुद्र प्राणियों की योनि में अथवा तो (वृक्ष) आदि स्थावर शरीर में जन्म मिलता है । अच्छा, तो यहाँ प्रसंगोपात्त आए हुए इस विचार को यहीं समाप्त कर देते हैं ।

विमर्श—स्थावर देह में भी जीव होता है । यह बात यहाँ 'स्थावरादिषु' इस पद से कही गई है । यहाँ जगदीशचन्द्र बोस की खोज याद आती है । उन्होंने वैज्ञानिक प्रयोगशाला में वनस्पति में भी जीव है—ऐसा सिद्ध कर दिया था ।

निर्गुणब्रह्मसाक्षात्कारवतस्तु न लोकान्तरगमनम्, । ''न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति'' (बृ. 4-4-6) इति श्रुतेः। किन्तु यावत्प्रारब्धक्षयं सुखदुःखे अनुभूय पश्चाद् बृज्यते ।

अनुवाद—जिसको निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार हो गया है, उसको (सगुणोपास की तरह) अन्य लोक की प्राप्ति नहीं होती । क्योंकि ''न तस्य प्राणा उत्कामन्ति''—

"उसके (निर्गुण साक्षात्कारी के प्राण उत्क्रमण नहीं करते" (बृ. 4-4-6) ऐसी श्रुति है। प्रारब्ध कर्मों के क्षय होने तक सुखों और दुःखों का अनुभव करके उसके बाद वह मुक्त हो जाता है।

विमर्श—निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कारी यहाँ धरापर जीवित होकर रहता है, उसे जीवात्मुक्त कहा जाता है। अद्वैतवेदान्त में जीवन्मुक्ति का स्वीकार है। अन्य वेदान्ती (केवलाद्वैत से अलग भक्तिप्रधान वेदान्ती) जीवन्मुक्ति को नही मानते।

ननु "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु. 3-8) इत्यादि श्रुत्य, "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मासात् कुरुतेऽर्जुन" (भ. गी. 4-37) इत्यादिस्मृत्या च ज्ञानस्य सकलकर्मक्षयहेतुत्वनिश्चये सति प्रारब्धकर्मावस्थानमनुपपन्नमिति चेन्न। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" (छा. 6-14-2) इत्यादि श्रुत्या "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" इत्यादिस्मृत्या चोत्पादितकार्यकर्मव्यतिरिक्तानां सञ्चित-कर्मणामेव ज्ञानविनाशित्वावगमात्।

अनुवाद—इस पर शंका की जाती है कि, "उस परावर (परब्रह्म) के दर्शन जब होते हैं, तब इस साधक के कर्मों का क्षय हो जाता है"—ऐसी श्रुति (मुण्डक 3-4) है, और, "हे अर्जुन! ज्ञानरूपी अग्नि सभी कर्मों को जला देता है"—ऐसी (भ. गी. 4-37) स्मृति भी है, इससे ज्ञान का सभी कर्मों के नाश के प्रति हेतुत्व का निश्चय हो जाता है। इसलिए ज्ञानी का प्रारब्ध कर्मों के (भोग के लिए) यहाँ रहना उचित नहीं लगता।

इस शंका का समाधान करते हैं कि ऐसी शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि "जब तक उसका देहपात नहीं होता, सभी तक का उसको विलम्ब है, ज्योंहि देहपात हो गया कि तुरन्त ही वह सत् के साथ सम्पन्न हो जाता है"—ऐसा (छा.6-14-2) श्रुति है, और "बिना भोगे कर्म का क्षय नहीं होता"—ऐसी स्मृति भी है। इसलिए यही प्रतीत होता है कि जिस कर्म ने अपना (फल देने का) कार्य उत्पन्न कर दिया हो, ऐसे (प्रारब्ध) कर्मों के अतिरिक्त समस्त संचित कर्मों का ही ज्ञान से नाश होता है।

सञ्चितं द्विविधम् –सुकृतं दुष्कृतं चेति। तथा च श्रुतिः–'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति।

अनुवाद—संचित कर्म दो प्रकार का होता है—(1) सुकृत और (2) दुष्कृत। इस विषय में श्रुति इस प्रकार कहती है—"उसके (ब्रह्मसाक्षात्कारी के) पुत्र को धन आदि का हिस्सा मिलता है, और मित्रों को उसके सत्कर्मों का (पुण्य का) एवं शत्रुओं को पाप का हिस्सा मिलता है।"

विमर्श—ज्ञान से प्रारब्ध कर्मों का तो नाश हो जाता है। बाकी संचित और क्रियमाण—ये दो प्रकार के कर्म बचे हैं। ज्ञानी को तो इन दो प्रकार के कर्मो से कोई लेना-देना नहीं होता। और कर्मों से फल तो अवश्य उत्पन्न होंगे। तो ज्ञानी को छोड़कर

वे कर्मफल कौन भोगेंगे? इसका उत्तर यह है कि ज्ञानी का जो धन है, वह तो उसके पुत्रों को मिलेगा। संचित और क्रियमाण कर्मों से जो पुण्य होगा वह मित्रों को मिलेगा और जो प्राप होगा वह शत्रुओं को भोगना पड़ेगा।

ननु ब्रह्मज्ञानान्मूलाज्ञाननिवृत्तौ तत्कार्यप्रारब्धकर्मणोऽपि निवृत्तिः, कथं ज्ञानिनो देहधारणमुपपद्यते? इति चेन्न। अप्रतिबद्धज्ञानस्यैवाज्ञान-निवर्तकतया प्रारब्धकर्मरूपप्रतिबन्धकदशायामज्ञाननिवृत्तेरनङ्गीकारात्।

अनुवाद—इसपर शंका की जा रही है कि ब्रह्म के ज्ञान से तो मूलभूत अज्ञान भी चला जाता है, और उस मूलाविद्या के कार्यरूप प्रारब्ध कर्मों का भी तब तो नाश हो ही जायेगा (क्योंकि कारण का ही जब नाश हो गया, तो उसका कार्य कैसे रहेगा?—मूलं नास्ति कुतः शाखा?) और (इस प्रकार प्रारब्ध कर्मों का भी नाश हो जाने पर तो—) ज्ञानी का देहधारण (देह में रहना) कैसे संभव हो सकता है?

इसके समाधान में कहते हैं कि ऐसी शंका योग्य नहीं है, क्योंकि जो ज्ञान अप्रतिबद्ध हो, अर्थात् जिस ज्ञान का फल (यहाँ मोक्ष) जहाँ अप्रतिबद्ध हो,—किसी प्रतिबन्ध से रहित हो, यही ज्ञान अज्ञाननिवर्तक होता है। इसलिए जहाँ तक प्रारब्ध-कर्मरूप प्रतिबन्धक रहता है तब तक ऐसी अवस्था में अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, इस पक्ष का हम अंगीकार करते हैं।

विमर्श—प्रारब्धकर्म ज्ञानप्रतिबन्धक हैं। संचित कर्म (क्रियमाण कर्म भी) ज्ञानप्रतिबन्धक नहीं हैं।

नन्वेवमपि तत्त्वज्ञानादेकमुक्तौ सर्वमुक्तिः स्यात्, अविद्याया एकत्वेन तन्निवृत्तौ क्वचिदपि संसारायोगादिति चेन्न। इष्टापत्तिरित्येके। अपरे त्वेतद्दोषपरिहाराय 'इन्द्रो मायाभिः' इति बहुवचन-श्रुत्यनुगृहीतमविद्याया नानात्वमङ्गीकर्तव्यमित्याहुः।

अनुवाद—इस पर फिर से यह शंका उठाई जाती है कि पूर्वोक्त बात से (प्रारब्ध कर्म के नाश के बाद अज्ञान की निवृत्ति से मोक्ष प्राप्त होने की बात से भी) एक की मुक्ति हो जाने पर सभी की मुक्ति हो ही जायेगी, क्योंकि अविद्या तो एक ही है और उस एक अविद्या के हट जाने से—नाश होने से—(उसके कहीं भी न रहने से) संसार का भी कहीं पर होना अंसभव होगा।

तो यह शंका भी ठीक नहीं है। क्योंकि कुछ वेदान्ती—एक जीववादी वेदान्ती तो इस बात को मान ही लेते हैं और दूसरे कुछ-अनेकजीववादी वेदान्ती लोग इस दोष को दूर करने के लिए, ''इन्द्र मायाओं से अनेक रूप धारण करता है''—इस श्रुति में 'मायाभिः'—'मायाओं से'—इस प्रकार बहुवचन वाले शब्द से अविद्या का नानात्व-बहुसंख्यात्व स्वीकार करना चाहिए—ऐसा मानते हैं।

करा देने वाले प्रारब्धकर्म की समाप्ति होने के बाद तुरन्त ही उन्हें विदेह कैवल्य प्राप्त हो जायगा।

विमर्शः—अज्ञान का नाश करने वाला तत्त्वसाक्षात्कार हो जाने पर भी जहाँ तक प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होगा, वहाँ तक विदेह मुक्ति नहीं मिलती । और दूसरी बात यहाँ वह बताई है कि नाना जीवों में से जिस जीव को ब्रह्मावरणशक्ति वाली अविद्या का नाश होगा, उसी जीव की मुक्ति होगी अन्य जीवों की नहीं—इन मतों से परिभाषाकार सम्मत हैं ।

तदुक्तमाचार्यवाचस्पतिमिश्रैः-

उपासनादि-संसिद्धि-तोषितेश्वरचोदितम् ।
अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परं पदम् ॥

एतच्चैकमुक्तौसर्वमुक्तिरितिपक्षेनोपपद्यते ।तस्मादेकाविद्यापक्षेऽपि प्रतिजीवमावरणभेदोपगमेन व्यवस्थोपपादनीया ।

तदेवं ब्रह्मज्ञानान्मोक्षः । स चानर्थनिवृत्तिर्निरतिशयब्रह्मानन्दावाप्तिश्चेति सिद्धं प्रयोजनम्।

इति श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रदीक्षितविरचितायां वेदान्तपरिभाषायां प्रयोजनपरिच्छेदः समाप्तः।

अनुवाद—(उपर्युक्त मत के समर्थन में) आचार्य वाचस्पति ने यह कहा है कि—"उपासना आदि की पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने पर जिन लोगों ने ईश्वर को प्रसन्न किया है, और इसलिए ईश्वर ने उन्हें जो अधिकार दिया है उस अधिकार को समाप्त करके ऐसे लोग परम पद को प्राप्त कर लेते हैं ।"

यह बात 'एकमुक्ति से सर्वमुक्ति'—वाले पक्ष में उपपन्न नहीं हो सकती । (वहाँ तो एक जीव होने से "अपना अपना अधिकार" कैसे बैठ सकता है?) इसलिए अविद्या को एक मानने पर भी प्रत्येक जीव में उसकी आवरणशक्ति अलग-अलग मानकर जीवों की मुक्ति की व्यवस्था करनी चाहिए ।

इस रीति से ब्रह्मज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है और वह मोक्ष सकल अनर्थों की निवृत्तिरूप है और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति ही है । इस तरह वेदान्त का प्रयोजन सिद्ध हुआ ।

विमर्शः—ऊपर के परिच्छेद से वह अधिकतर स्पष्ट हो जाता है कि परिभाषाकार अविद्या को एक, अविद्या की आवरणशक्तियों को नाना और जीवों को नाना मानते हैं और पूर्व परिच्छेद में बताए गए मतानुसार ही 'एकयुक्तौ सर्वमुक्तिः' का निराकरण कर देते हैं । ग्रन्थकार को एकजीववाद इष्ट नहीं है ।

इस प्रकार वेदान्तपरिभाषान्तर्गत प्रयोजन परिच्छेद की श्रीकेशवलाल वि. शास्त्री विरचित सानुवाद हिन्दी विमर्श टीका यहाँ समाप्त होती है ।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः

***

परिशिष्ट 1

वेदान्त-परिभाषा की कुछ ध्यानार्ह बातें—

(1) दो प्रकार की सृष्टि—**भूत** और **भौतिक**
(2) ब्रह्म का **तीन** प्रकार का स्वरूप—सत्, चित् और आनन्द
(3) **चार** पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष
(4) **दो** लोक—कर्मचित और पुण्यचित
(5) प्रमा के **दो** भेद—स्मृतिसाधारण और स्मृतिव्यावृत्त
(6) **छः** प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शाब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि
(7) **पाँच** ज्ञानेन्द्रिय—घ्राण, रसन, चक्षु, श्रोत्र, त्वक्
(8) **पाँच** कर्मेन्द्रिया—वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ
(9) **दो** प्रकार के आगम—पौरुषेय और अपौरुषेय
(10) **तीन** प्रकार का चैतन्य—प्रमातृचैतन्य, प्रमाणचैतन्य और विषयचैतन्य
(11) **दो** प्रकार का ज्ञान—प्रत्यक्ष और परोक्ष
(12) **चार** प्रकार की वृत्ति—संशय, विपर्यय, गर्व और स्मरण
(13) माया के **तीन** गुण—सत्त्व, रजस् और तमस्
(14) **दो** प्रकार की कार्यापत्ति—परिणाम और विवृत्ति
(15) **दो** प्रकार का कार्यनाश—बाध और निवृत्ति
(16) **तीन** प्रकार का सत्ता—पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक
(17) वाक्यार्थज्ञान के **चार** सहायक—आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य
(18) पद के **दो** अर्थ—शक्य और लक्ष्य
(19) प्रमाणों का **दो** प्रकार का प्रामाण्य— (1) व्यावहारिकतत्त्वावेदकत्त्व और (2) पारमार्थिकतत्त्वावेदकत्त्व
(20) लक्षण के **दो** प्रकार—स्वरूपलक्षण और तटस्थलक्षण
(21) **चार** प्रकार का प्रलय—नित्य, प्राकृत, नैमित्तिक और आत्यन्तिक
(22) जीव की तीन अवस्थाएँ—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति
(23) अन्तःकरणवृत्ति की **दो** आवश्यकताएँ—(1) आवरणाभिभवार्थ (एकमत) (2) सम्बन्धार्थ (दूसरामत)
(24) मोक्ष के **दो** प्रयोजन—आनन्दात्मक ब्रह्मत्वाप्ति और शोकनिवृत्ति
(25) **दो** प्रकार की अविद्या—(1) मूलविद्या (2) तुलाविद्या
(26) **चार** प्रकार का अन्तःकरण—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार

(27) **दो** प्रकार की एकवाक्यता—(1) पदैकवाक्यता और (2) वाक्यैकवाक्यता

(28) **दो** प्रकार के प्रयोजन—गौण और मुख्य

(29) **दो** प्रकार का सुख—सातिशय और निरतिशय

(30) **तीन** प्रकार के कर्म—प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण (हरएक के सुकृत और दुष्कृत रूप दो भेद)

(31) **चार** प्रकार के शरीर—जरायुज, अण्डज, स्वदेज और उद्भिज

(32) **दो** प्रकार की मुक्ति—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति

(33) **चार** महावाक्य—(1) ऋग्वेद का 'प्रज्ञानं ब्रह्म'
(2) यजुर्वेद का 'अहं ब्रह्मास्मि'
(3) सामवेद का 'तत्त्वमसि'
(4) अथर्ववेद का "अयमात्मा ब्रह्म"

(34) अविद्या की **दो** शक्तियाँ—(1) आवरण, (2) विक्षेप

(35) **चार** प्रकार के अभाव—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव

(36) **दो** प्रकार का अन्योन्याभाव—सोपाधिक और निरुपाधिक

(37) मायासम्बद्ध चैतन्य के दरे प्रकार—विशेषणीभूतमायावाला (ईश्वरत्व) और उपाधिभूतमायावाला (साक्षित्व)

(38) पाँच प्रकार के प्राण—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान

***

परिशिष्ट 2

कुछ आवश्यक कोष्ठक

(1)

प्रत्यक्ष
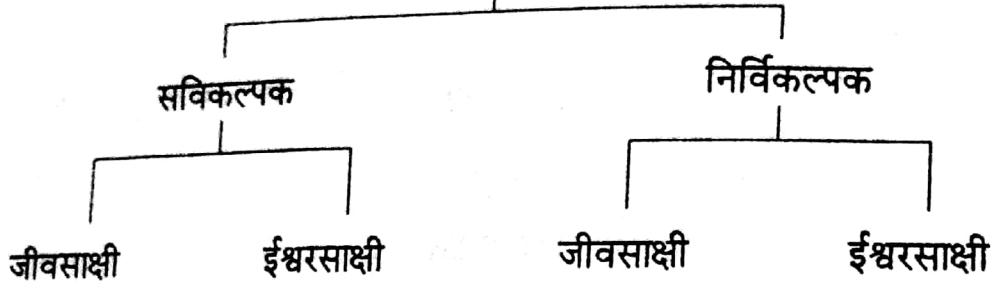
(2)

प्रत्यक्ष (प्रकारान्तर से)

(3)

अन्वयी अनुमान

(4)

(5)

(6)

संक्षेपशारीरककार का प्रतिबिम्बवाद

(7)

प्रतिबिम्बवाद-विवरणाचार्य का

चैतन्य-बिम्ब-ईश्वर

उपाध्यान्तःकरणप्रतिबिम्बित जीव
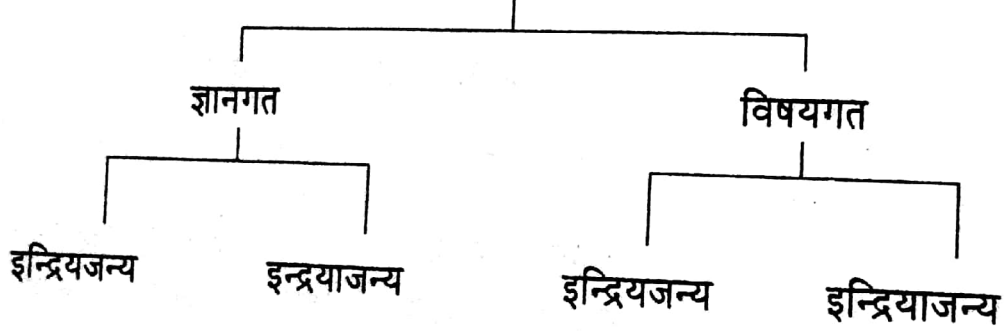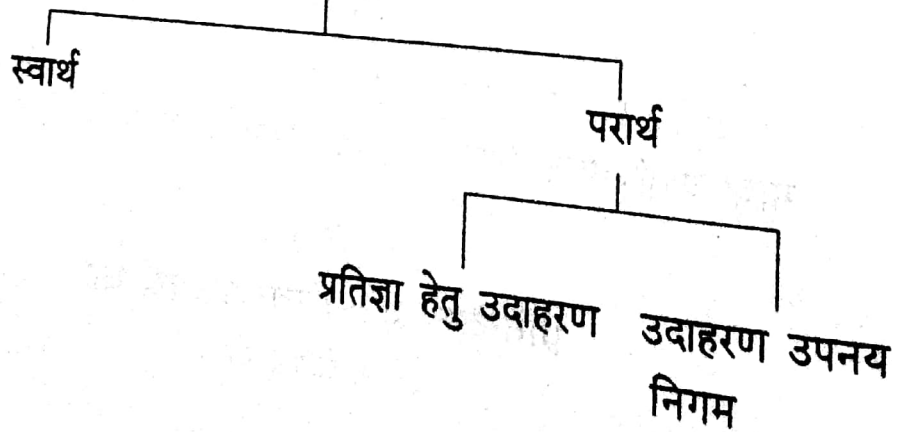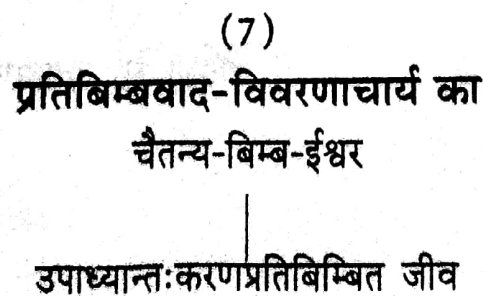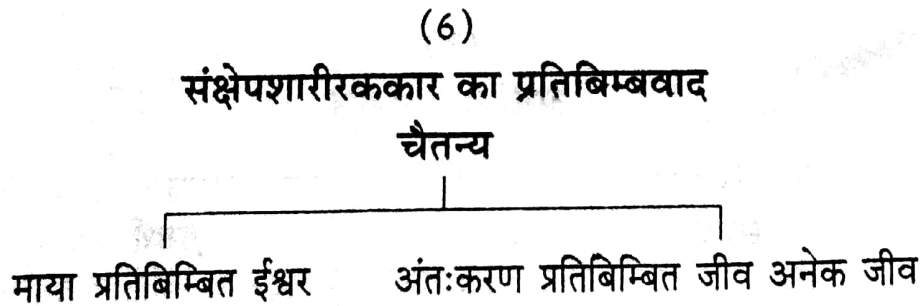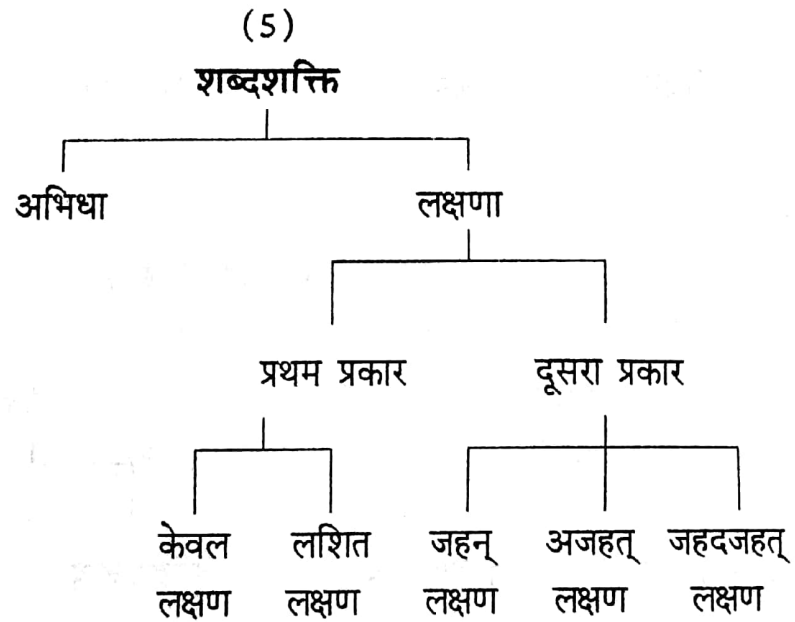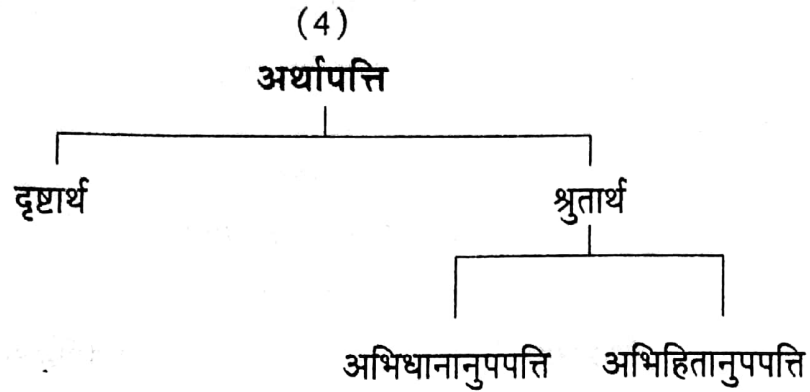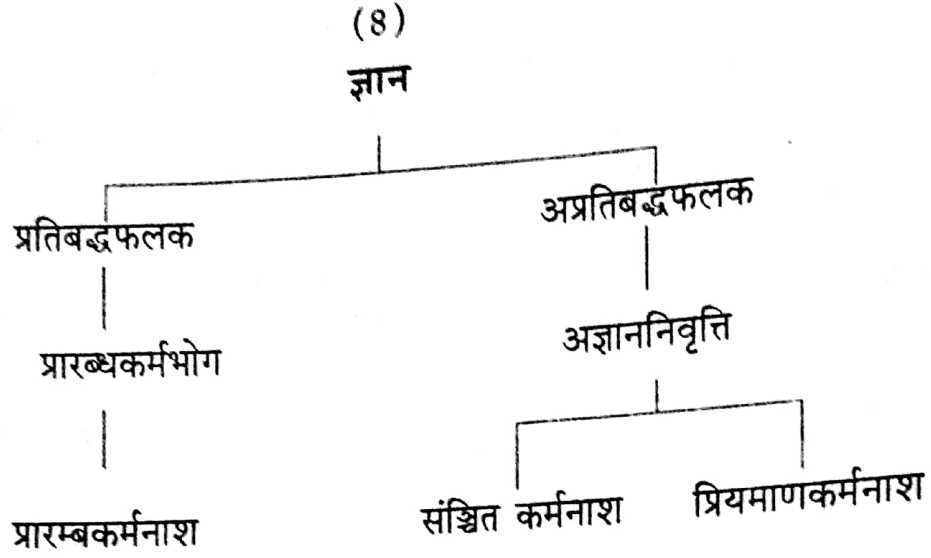
(9)

वेदान्तसम्मत सृष्टिप्रक्रिया
चैतन्य+माया की विक्षेपशक्ति

मिलकर ↓	अलगरूपसे →	शब्द	स्पर्श	रूप	रस	गन्ध	पाँचतन्मात्राएँ
अन्तकरण चार प्रकार	सत्त्वांशसे →	श्रोत्र	त्वक्	चक्षु	जिह्वा	नासिका	पाँच ज्ञानेन्द्रिय
पाँच प्राण	रजोअंशसे →	वाक्	पाणि	पाद	वायु	उपस्य	पाँच कर्मेन्द्रिया
—	तमअशंसे →	आकाश	वायु	अग्नि	जल	पृथ्वी	पाँच महाभूत (पञ्चीकरण)

(10)

पञ्चीकरणप्रकार

शब्द $\frac{1}{2}$	+ स्पर्श $\frac{1}{8}$	+ रूप $\frac{1}{8}$	+ रस $\frac{1}{8}$	+ गन्ध $\frac{1}{8}$	= 1 स्थूल आकाश
स्पर्श $\frac{1}{2}$	+ शब्द $\frac{1}{8}$	+ रूप $\frac{1}{8}$	+ रस $\frac{1}{8}$	+ गन्ध $\frac{1}{8}$	= 1 स्थूल वायु
रूप $\frac{1}{2}$	+ शब्द $\frac{1}{8}$	+ स्पर्श $\frac{1}{8}$	+ रस $\frac{1}{8}$	+ गन्ध $\frac{1}{8}$	= 1 स्थूल तेज
रस $\frac{1}{2}$	+ शब्द $\frac{1}{8}$	+ स्पर्श $\frac{1}{8}$	+ रूप $\frac{1}{8}$	+ गन्ध $\frac{1}{8}$	= 1 स्थूल जल
गन्ध $\frac{1}{2}$	+ शब्द $\frac{1}{8}$	+ स्पर्श $\frac{1}{8}$	+ रूप $\frac{1}{8}$	+ रस $\frac{1}{8}$	= 1 स्थूल पृथ्वी